गांधी-अभिनन्दन-ग्रंथ

गांधीजी के व्यक्तित्व तथा सिद्धान्तों पर
विभिन्न विद्वानों एवं चिंतकों के विचार

संपादक
सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

१९५५
सस्ता साहित्य-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

पांचवी बार : १९५५

मूल्य
सजिल्द : चार रुपए

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

यह अभिनंदन-ग्रंथ प्रथम बार महात्मा गांधी की इकहत्तरवीं वर्ष-गाँठ पर प्रकाशित हुआ था और १० अक्तूबर १६३६ (चर्खा-द्वादशी) को उन्हें भेंट किया गया था। हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री जैनेंद्रकुमारजी ने हिन्दी अनुवाद का सम्पादन किया था।

हिन्दी-संस्करण के लिए पं० जवाहरलाल नेहरू तथा डा० राधाकृष्णन् ने विशेष रूप से कुछ शब्द लिख देने की कृपा की थी।

पहला संस्करण जल्दी में निकलने के कारण उसमें कुछ भूलें रह गई थीं। वे दूसरे संस्करण में सुधार दी गईं। श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने प्रो० गोकुललाल असावा तथा श्री सुधीन्द्र की सहायता से सारे ग्रंथ को मूल से मिलाकर पुनः सम्पादन कर दिया।

यह ग्रंथ गांधीजी के जीवन-काल में उनका अभिनंदन करने के लिए प्रकाशित किया गया था; लेकिन दैव-दुर्विपाक से गाँधीजी का निधन हो गया। उसके बाद अंग्रेजी का जो संस्करण प्रकाशित हुआ, उसमें श्रद्धांजलियाँ भी जोड़ दी गईं। लेकिन हिन्दी में हमने ऐसा नहीं किया है। अभिनंदन-ग्रंथ को यथापूर्व प्रकाशित किया है। श्रद्धांजलियों को एक अलग ग्रंथ में 'गांधी-श्रद्धांजलि-ग्रंथ' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वस्तुतः इन दोनों ग्रंथों का अपना-अपना महत्व है। पहले में गांधीजी के महान् जीवन और उनकी विविध रचनात्मक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है तो दूसरे में उनके उत्सर्ग पर भावपूर्ण श्रद्धांजलियां अर्पित की गई हैं।

हिन्दी-जगत् में यह ग्रंथ खूब लोकप्रिय हुआ। उसके चार संस्करण निकल गये और अब पांचवाँ संस्करण पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। हमें विश्वास है कि पहले संस्करणों की भांति अब भी पाठक इसे अपनायेंगे।

—मंत्री

आभार

सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने मेरे इकहत्तरवें जन्म-दिन को खास महत्त्व दे डाला है। उन्होंने मुझे अपनी पुस्तक भेजी है, जिसमें मेरे प्रति परिचित-अपरिचित मित्रों की प्रशंसाएं हैं। साथ का पत्र भेजते हुए उसमें कुछ और भी बड़ाई की कृपा की है। मैं नहीं जानता कि उस ग्रंथ में जमा किये गए उन सब बधाई के लेखों को पढ़ने का समय मैं कब पाऊँगा ? यही प्रार्थना कर सकता हूं कि ईश्वर मुझे शक्ति दे कि लेखकों के मन में जो भी तस्वीर मेरी है, मैं वैसा बन सकूं। श्री सर्वपल्ली और उन सबको, जिनके आशीर्वाद और बधाइयां मुझे प्राप्त हुई हैं, मैं धन्यवाद देता हूं। निजी तौर पर कृतज्ञता भेज सकूं, यह मेरे लिए सम्भव नहीं है।

पर प्रशंसकों को एक चेतावनी मैं जरूर देना चाहूंगा। कुछ लोग सार्वजनिक स्थानों पर मेरी मूर्ति खड़ी करना चाहते हैं, कुछ तस्वीरें चाहते हैं और कई हैं, जो जन्म-दिन को आम छुट्टी का दिन बना देना चाहते हैं। पर श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी मुझे अच्छी तरह जानते हैं। सो उन्होंने दानिशमन्दी के साथ मेरे जन्म-दिन को आम छुट्टी का दिन बनाने की बात को रद्द कर दिया है। आजदिन भेदभाव और तनाजे काफी हैं। मुझे गहरी लज्जा अनुभव होगी, अगर मेरा नाम किसी तरह भी उस भेदभाव को बढ़ाने का मौका बना। ऐसे अवसर को न आने देना देश की और मेरी सच्ची सेवा होगी। मूर्ति, चित्र या और ऐसी चीजों का आज दिन नहीं है। जिस एक प्रशंसा को मैं पसन्द करूंगा और कीमती समझूंगा वह तो उन प्रवृत्तियों में योग देना है, जिनमें मेरी जिन्दगी लग गई है। हरेक स्त्री-पुरुष, जो साम्प्रदायिक मेल पैदा करने या अस्पृश्यता के कलंक को मिटाने या गांव का हित-साधन करने में कोई एक भी काम करता है, वह मुझे सच्चा सुख और शांति पहुंचाता है। विभिन्न खादी-भंडारों में जो खादी का स्टाक इकट्ठा हो गया है, कार्यकर्त्ता लोग इन दिनों में उसे खपाने की कोशिश कर रहे हैं। मैं अपने लिए उससे सार्थक और बड़े आशीर्वाद की कल्पना नहीं कर सकता कि मैं

सुनूँ कि रुका हुआ खादी का सब माल इस खादी-सप्ताह या पक्ष के भीतर, जिसको गलती से मेरा नाम दे दिया गया है, लोगों ने सारा खरीदकर निबटा दिया है। अपने काम के बिना या अलग मेरी कोई हस्ती नहीं रहती।

रेल से—दिल्ली जाते हुए
१ अक्तूबर, १९३९

—मो० क० गांधी

दो शब्द

(पहला संस्करण)

'सस्ता साहित्य मंडल' के इस निमन्त्रण को स्वीकार करते मुझे खुशी होती है कि 'गांधी-अभिनन्दन-ग्रंथ' के हिन्दी-संस्करण के लिए प्रस्तावना-रूप में थोड़ा-सा कुछ लिख दूँ। अंग्रेजी-संस्करण की प्रस्तावना मैंने जब लिखी थी, तबसे यूरोप युद्ध-संकट में पड़ा हुआ है। अभी तो वह आरम्भिक अवस्था में ही है। निःशस्त्र जनता का नृशंस ध्वंस, खुले शहरों पर बम-वर्षा, निहत्थे स्त्री-बच्चों का कत्ल और संगठित त्रास, इनसे प्रकट है कि आज-दिन की सभ्यता ढह रही है। अगर निर्मम बर्बरता के इस दौर को रुकना है तो मनुष्यजाति को वर्गाधिकार और राष्ट्र-शासन के पुराने नारों और मुहावरों को छोड़ना होगा और उन मूल्यों की बुनियाद लेकर खड़े होना होगा, जो अपनी प्रकृति में न राष्ट्रीय हैं, न अन्तर्राष्ट्रीय; बल्कि विश्व-जनीन हैं। हमारी राजनैतिक धारणाएं और आर्थिक विचार दुनिया की उस नई हालत के साथ खतरनाक तौर पर अनमेल हैं जिनकी मांग है कि हम अपने को विश्व-कुटुम्ब के सदस्य के रूप में मानें। मानवजाति को सिरे से एक नई तालीम दी जाय और मानव-आत्मा का नया जागरण हो, तभी कुछ आशा है। महात्मा गांधी ऐसे पुनर्जागरण के एक ही साथ विधाता और प्रतीक हैं।

२९ – ९ – ३९ —स. राधाकृष्णन्

मेरी झिझक

(विशेष रूप से हिन्दी-संस्करण के लिए हिन्दी में लिखित)

श्री राधाकृष्णन् ने मुझे लिखा था कि वह गांधी-जयन्ती के लिए एक किताब तैयार कर रहे हैं, जिसमें दुनिया के बहुत सारे बड़े आदमी गांधीजी के बारे में लिखेंगे। मुझसे भी उन्होंने इस किताब के लिए एक लेख लिखने को कहा था। मैं कुछ राजी हुआ; लेकिन फिर भी एक झिझक-सी थी। गांधीजी पर कुछ भी लिखना मेरे लिए आसान बात नहीं थी। फिर मैं ऐसी परेशानियों में फंसा कि लिखना और भी कठिन हो गया और आखिर मैंने कोई ऐसा मजमून नहीं लिखा।

मैं यों अक्सर कुछ-न-कुछ लिखा करता हूँ और लिखने में दिलचस्पी भी है। फिर यह झिझक कैसी? कभी-कभी गांधीजी पर भी लिखा है; लेकिन जितना मैंने सोचा, यह मजमून मेरे काबू के बाहर निकला। हां, यह आसान था कि मैं कुछ ऊपरी बातें जो दुनिया जानती है उनको दोहराऊँ। लेकिन उससे फायदा क्या? अक्सर उनकी बातें मेरी समझ में नहीं आईं, कुछ बातों में उनसे मतभेद भी हुआ। एक जमाने से उनका साथ रहा, उनकी निगरानी में काम किया, उनका छापा मेरे ऊपर पड़ा, मेरे खयाल बदले और रहने का ढंग भी बदला। जिन्दगी ने एक करवट ली, दिल बढ़ा, कुछ-कुछ ऊंचा हुआ, आंखों में रोशनी आई, नये रास्ते देखे और उन रास्तों पर लाखों और करोड़ों के साथ हमकदम होकर चला। क्या मैं ऐसे शख्स के निस्बत लिखूं, जो कि हिन्दुस्तान का और मेरा एक जुज़ हो गया और जिसने कि जमाने को अपना बनाया?

हम जो इस जमाने में बढ़े और उनके असर में पले, हम कैसे उसका अंदाजा करें? हमारे रग और रेशे में उसकी मोहर पड़ी है और हम सब उसके टुकड़े हैं।

जहाँ-जहाँ मैं हिन्दुस्तान के बाहर गया, चाहे यूरोप का कोई देश हो या चीन या कोई और मुल्क, पहला सवाल मुझसे यही हुआ—"गांधी कैसे हैं? अब क्या करते हैं?

हर जगह गांधीजी का नाम पहुंचा था, गांधीजी की शोहरत पहुंची थी। गैरों के लिए गांधी हिन्दुस्तान था और हिन्दुस्तान गांधी। हमारे देश की इज्जत बढ़ी, हैसियत बढ़ी। दुनिया ने तसलीम किया कि एक अजीब ऊँचे दर्जे का आदमी हिन्दुस्तान में पैदा हुआ, फिर से अंधेरे में रोशनी आई। जो सवाल लाखों के दिल में थे और उनको परेशान करते थे, उनके जवाबों की कुछ झलक नजर आई। आज उस जवाब पर अमल न हो तो कल होगा, परसों होगा। उस जवाब में और भी जवाब मिलेंगे, और भी अंधेरे में रोशनी पड़ेगी; लेकिन बुनियाद पक्की है और उसी पर इमारत खड़ी होगी।

आजकल की दुनिया में लड़ाई का तूफान फैल रहा है और हरएक के लिए मुसीबत का सामना और इम्तहान का वक्त है। हम क्या करें, यह हर हिन्दुस्तानी के सामने सवाल है। वक्त इसका जवाब देगा। लेकिन जो कुछ भी हम करें उसकी बुनियाद उन उसूलों पर हो, जिनको हमने इस जमाने में सीखा। बड़े कामों में हम पड़े, पहाड़ों की ऊँची चोटियों की तरफ निगाह डाली और लम्बे कदम उठा कर हम बढ़े, लेकिन सफर दूर का है। इसके लिए हमको भी ऊँचा होना है और छोटी बातों में पकड़कर अपने देश को छोटा नहीं करना है।

वर्धा जाते हुए (रेल से)
६ अक्तूबर १९३९

—जवाहरलाल नेहरू

सूची

गांधी-अभिनन्दन-ग्रंथ

: १ :

गांधीजी का धर्म और राजनीति

सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

भूतल पर मनुष्य-जीवन की कथा में सबसे बड़ी घटना उसकी आधिभौतिक सफलताएं अथवा उसके द्वारा बनाये और बिगाड़े हुए साम्राज्य नहीं, बल्कि सचाई तथा भलाई की खोज के पीछे उसकी आत्मा की हुई युग-युग की प्रगति है। जो व्यक्ति आत्मा की इस खोज के प्रयत्नों मे भाग लेते हैं, वे मानव-सभ्यता के इतिहास में अमर हो जाते हैं। समय महान् वीरों को, अन्य अनेक वस्तुओं की भांति, बड़ी सुगमता मे भुला चुका है, परन्तु सन्तों की स्मृति कायम है। गांधीजी की महत्ता का कारण उनके वीरतापूर्ण संघर्ष इतने नहीं, जितना कि उनका पवित्र जीवन है और यह भी कि ऐसे समय में जबकि विनाश की शक्तियां प्रबल होती दीख रही हैं, वह आत्मा की सृजन करने तथा जीवन देने की शक्ति पर जोर देते हैं।

संसार में गांधीजी इस बात के लिए प्रख्यात हैं कि भारतीय-राष्ट्र के प्रचण्ड उत्थान का और उसकी दासता की शृङ्खलाओं को हिला डालने तथा शिथिल कर देने का काम एक उन्होंने, अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक, किया है। राजनीतिज्ञ लोग आमतौर पर धर्म की गहराई में नही जाते क्योंकि एक जाति का दूसरी जाति पर राजनैतिक आधिपत्य और निर्धन तथा निर्बल मनुष्यों का आर्थिक शोषण आदि जो लक्ष्य राजनीतिज्ञों के सामने रहते हैं, वे धार्मिक लक्ष्यों से स्पष्ट ही इतने भिन्न तथा असम्बद्ध हैं कि वे लोग इनपर गम्भीरता से और ठीक-ठीक चिन्तन कर ही नहीं सकते। परन्तु गांधीजी के लिए तो सारा जीवन एक और अभेद्य वस्तु है। "जिसे सत्य की सर्वव्यापक विश्व-भावना का साक्षात्कार करना हो उसे जगत् के निम्नतम प्राणि को आत्मवत् प्रेम करना चाहिए। और जिसकी ऐसी महत्वाकांक्षा है वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से अपने को पृथक् नहीं रख सकता। यही कारण

है कि सत्य का पुजारी होने के कारण मुझे राजनीति में आना पड़ा है ; और मैं बिना तनिक भी संकोच के तथा पूर्ण नम्रता से कह सकता हूँ कि जो लोग यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कुछ सम्बन्ध नहीं, वे नहीं जानते कि धर्म का अर्थ क्या है?" और, "मुझे संसार के नश्वर वैभव की चाह नहीं है, मैं तो स्वर्ग के साम्राज्य यानी आध्यात्मिक मुक्ति की प्राप्ति का यत्न कर रहा हूँ। मेरे लिए तो, अपने देश और मनुष्य-मात्र की निरन्तर सेवा करते रहना ही मुक्ति का मार्ग है। प्राणिमात्र को मैं आत्मवत् समझना चाहता हूँ। गीता के शब्दों में, मैं **समः शत्रौ च मित्रे च'** (मित्र और शत्रु में समदृष्टि रखनेवाला) होना चाहता हूँ। अतः मेरी देश-भक्ति भी, अनन्त शान्ति और स्वतन्त्रता के देश के ओर की मेरी यात्रा का एक पड़ाव-मात्र है। इससे प्रगट है कि मेरे लिए धर्म से रहित राजनीति की कोई सत्ता नहीं। राजनीति धर्म का साधन मात्र है। धर्म-रहित राजनीति मृत्यु का जाल है, क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।"[1] राजनैतिक जीव के रूप में यदि मनुष्य बहुत सफल नहीं हुआ, तो उसका कारण यही है कि उसने धर्म को राजनीति से अलग रक्खा और इस प्रकार उसने दोनों को ही गलत समझा। गांधीजी के लिए धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मनुष्य के क्रिया-कलाप से परे हो; वह तो आचरण की वस्तु है। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में यद्यपि गांधीजी की स्थिति एक ऐसे राजनैतिक क्रांतिकारी की है जो अत्याचार अथवा दासता के सामने झुकने से इन्कार करता है; परन्तु वह ऐसे क्रांतिकारी नहीं जो अपनी ही बात पर अड़े रहते हैं और अपने हठ के आगे दूसरे पक्ष की बात ही नहीं सुनते। वह ऐसे खब्ती भी नहीं जो अपनी धुन में अन्धे होकर मनुष्यों को अस्वाभाविक और अमानुषिक प्राणी बना डालते हैं। अनुभव की अग्नि-परीक्षा में, वह न राजनीतिज्ञ हैं न सुधारक, न दार्शनिक हैं न आचार-शास्त्री, बल्कि इन सबका सम्मिश्रण है। वह वस्तुतः धार्मिक व्यक्ति हैं। उनमें उच्चतम मानवीय गुण भी हैं। फिर अपनी मर्यादाओं से परिचित होने तथा अपने स्वभाव की नित्य-प्रासादिकता (हास परिहास-प्रियता) के कारण वह सबके अधिक प्रेमपात्र बन गए हैं।

ईश्वर के विषय में हमारी जो भी सम्मति हो, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि गांधीजी के लिए वह बड़े महत्व का और परम सत्य है। यह उनका

---

[1] **सी० एफ० एण्डरूज-कृत 'महात्मा गांधी—हिज ओन स्टोरी।' पृष्ठ ३५३-४, ३५७.**

ईश्वर-विश्वास ही है जिसने ही उनको वह मनुष्य बना दिया है जिसकी शक्ति, भावना और प्रीति का हम सब बार-बार अनुभव करते हैं। वह एक ऐसी सत्ता का अनुभव करते हैं जो उनके निकट ही है। एक आध्यात्मिक सत्ता है जो उनके मन को मथती है, क्षुब्ध करती है और हावी हो जाती है, जिससे उसकी वास्तविकता का निश्चय होता है। बार-बार, जब संदेह तथा संशय से उनका मन अस्थिर होता है, तब वह उसे ईश्वर के भरोसे छोड़ देते हैं। यह पूछा जा सकता है कि ईश्वर से उनको उत्तर मिलता है या नहीं। 'हां' भी और 'नहीं' भी। 'नहीं' इसलिए कि गांधी-जी को छिपी-से-छिपी या दूर-से-दूर कोई वाणी कुछ कहती सुनाई नहीं पड़ती। 'हां' इसलिए कि उनको उत्तर मिला-सा जान पड़ता है; वह अपने-आपको ऐसा शान्त एवं सन्तुष्ट अनुभव करते हैं मानों उनको उत्तर मिल गया हो। वह मिला हुआ उत्तर इतना-तर्क-शुद्ध भी होता है कि जिससे वह परख लेते हैं कि मैं अपने ही स्वप्नों या कल्पनाओं का शिकार तो नहीं हुआ। "एक अलक्षणीय रहस्य-मय शक्ति है जो वस्तु-मात्र में व्याप्त है। मैं इसे देखता नहीं, परन्तु इसे अनुभव करता हूँ। यह अदृष्ट शक्ति अनुभव द्वारा ही गम्य है। प्रमाणों से इसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि मेरी इन्द्रियों से गम्य जो कुछ भी है उस सबसे यह शक्ति सर्वथा भिन्न है। इसकी सत्ता बाह्य साक्षी से नहीं, प्रत्युत उन व्यक्तियों के कायापलट से---उनके जीवन व व्यवहार से---सिद्ध होती है, जिन्होंने अपने अन्तःकरण में ईश्वर का अनुभव कर लिया है। यह साक्षी पैग़म्बरों और ऋषियों की अविच्छिन्न शृंखला के अनुभवों से, सब देशों और सब कालों में, निरन्तर मिलती रही है। इस साक्षी को अस्वीकार करना अपने-आपको ही अस्वीकार करना है।"[1] "यह युक्ति या तर्क का विषय कभी नहीं बन सकता। यदि आप मुझे औरों की युक्ति द्वारा विश्वास करा देने को कहें तो मुझे हार माननी पड़ेगी; परन्तु मैं आपसे इतना कह सकता हूँ कि इस कमरे में अपने और आपके बैठे होने को मैं जितना निश्चित सत्य समझता हूँ, उससे कहीं अधिक मुझे उसकी सत्ता का निश्चय है। मैं इस बात का भी सबूत दे सकता हूँ कि बिना हवा और पानी के चाहे मैं जी जाऊँ, परन्तु बिना ईश्वर के जीना असम्भव है। आप मेरी आंखें निकाल लें, मैं मरूंगा नहीं आप मेरी नाक काट लें, उससे मैं मरूंगा नही। परन्तु ईश्वर में मेरे विश्वास को उड़ा दें तो मैं मरा पड़ा हूं।"[2]

---

[1] 'यंग इण्डिया'; ११ अक्तूबर १९२८. [2] 'हरिजन'; १६ मई १९३८.

हिन्दू-धर्म की महान् आध्यात्मिक परम्परा के अनुसार, गांधीजी दृढ़ता-पूर्वक कहते हैं कि जब हम एक बार अपनी पाशविक वासनाओं द्वारा होनेवाले पतन की गहराई से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्वतंत्रता की ऊंचाई पर पहुंच जाते हैं तब जीव-मात्र में सम-दृष्टि हो जाती है। यह ठीक है कि पर्वत-शिखर पर चढ़ने के मार्ग विभिन्न हैं, हम जहां कहीं हों वहीं से ऊपर को चढ़ना पड़ता है। परन्तु हम सब का लक्ष्य एक ही है। "इस्लाम का अल्लाह वही है जो ईसाइयों का गॉड और हिन्दुओं का ईश्वर है। जिस प्रकार हिन्दू-धर्म में ईश्वर के नाम अनेक हैं, उसी प्रकार इस्लाम में भी अल्लाह के बहुत से नाम हैं। इन नामों से व्यक्तियों की अनेकता नहीं, बल्कि उनके गुण प्रकट होते हैं। मनुष्य तो अल्प है, मगर उसने अपनी अल्पता से ही उस महान् शक्तिशाली परमेश्वर को उसके नाना गुणों द्वारा बखानने का यत्न किया है, यद्यपि वह सर्वथा गुणातीत, वर्णनातीत और मानातीत है। इस ईश्वर में सजीव विश्वास का मतलब है सब धर्मों के प्रति समान आदर। बहुत-से लोग अपने ही धर्म को सबसे अच्छा मानते हैं और चाहते हैं कि दूसरे लोग अपना धर्म छोड़कर इन्हीं के मत में आ जायं। परन्तु ऐसी बातों में विश्वास रखना या उनको उचित मानना परले सिरे की असहिष्णुता है और असहिष्णुता एक प्रकार की हिंसा है।"[1] अन्य धर्मों के प्रति गांधीजी की भावना निष्क्रिय सहिष्णुता की नहीं, प्रत्युत सक्रिय कद्रदानी की है। वह ईसामसीह के जीवन तथा कार्य को अहिंसा का एक श्रेष्ठतम उदाहरण बतलाते हैं। "ईसामसीह का मेरे हृदय में उन महान् गुरुओं के समान स्थान है जिनका मेरे जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा है।" पैगम्बर मुहम्मद के चरित्र की, उसके हार्दिक विश्वास और व्यवहार-कुशलता की और अली की कोमल दयालुता तथा सहनशीलता की वह प्रशंसा करते हैं। इस्लाम द्वारा उपदिष्ट महान् सत्यों को, ईश्वर की सर्वोपरि प्रभुता में आस्था-विश्वास को, जीवन की सरलता तथा पवित्रता को, भाईचारे की तीव्र भावना को और ग़रीबों की तत्परतापूर्वक सहायता को वह सब धर्मों के मौलिक तत्त्व के रूप में मानते हैं। परन्तु उनके जीवन पर प्रमुख प्रभाव, अपनी सत्य की कल्पना और आत्मा का दर्शन तथा उदारता की भावनाओं के कारण, हिन्दू-धर्म का पड़ा है।

फिर भी सब धर्म-सम्प्रदाय मुख्य धर्म के साधन मात्र हैं। मैं यहां स्पष्ट कर दूं कि धर्म से मेरा अभिप्राय क्या है। वह हिन्दू-धर्म नहीं है, जिसे मैं सब

---

[1] **'हरिजन'; १४ मई १९३८.**

धर्मों से निश्चय ही श्रेष्ठ मानता हूँ, वल्कि वह धर्म है जो हिन्दू-धर्म से भी परे चला जाता है, जो मनुष्य की सारी प्रकृति को ही बदल देता है, जो अन्तःकरण के सत्य से आत्मा का अविच्छेद्य सम्बन्ध कर देता है और जो सदा जीवन को शुद्ध करता रहता है। मनुष्य-प्रकृति का यह स्थायी अंग है। यह अपने को प्रकट करने के लिए किसी भी वाधा को कुछ नहीं गिनता। इसके कारण आत्मा तबतक बेचैन रहती है जबतक कि उसे अपना, अपने स्रष्टा का और स्रष्टा तथा सृष्टि के सच्चे सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो जाता।"

सत्य ही ईश्वर है। इसके अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है, और सत्य की प्राप्ति तथा अनुभव का एक मात्र उपाय प्रेम अथवा अहिंसा है। सत्य का ज्ञान और प्रेम का आचरण आत्मशुद्धि बिना असम्भव है। जिसका अन्तःकरण निर्मल हो वही ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। अन्तःकरण की शुद्धि, राग तथा द्वेष से मुक्ति, मनसा-वाचा-कर्मणा पक्षपात से रहितता और मिथ्या, भय तथा अभिमान से ऊपर उठने के लिए शारीरिक असंयमों से संघर्ष और मन के तर्क-वितर्कों पर विजय पाना आवश्यक है। और इसका मार्ग है यम-नियमों का साधन और तपस्या। तप से आत्मा धुलकर शुद्ध हो जाता है। पुराणों में लिखा है कि देवताओं द्वारा किये गये समुद्रमंथन से जो विष निकला उसे शिवजी पान कर गये। ईसाइयों के ईश्वर ने मनुष्य-जाति की रक्षा के लिए अपने पुत्र को दे दिया। ये सब यदि कोरी कपोल-कल्पित कथायें हों, तो भी प्रश्न यह है कि इनसे यदि मनुष्यों की किन्हीं दृढ़मूल अन्तःप्रेरणाओं की अभिव्यक्ति नहीं होती तो इनकी सृष्टि ही क्यों की गई ? जितना ही अधिक आप प्रेम करेंगे, उतना ही अधिक आपको कष्ट सहना पड़ेगा। अनन्त प्रेम का अर्थ है अनन्त कष्ट-सहिष्णुता। "जो कोई अपना जीवन बचायगा वह उसे खो बैठेगा।" हम यहां ईश्वर का काम कर रहे हैं। हमें अपने जीवन का उपयोग उसकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए करना है। यदि हम ऐसा नहीं करते और अपना जीवन खर्चने की बजाय उसे बचाने का प्रयत्न करते हैं तो हम अपनी प्रकृति के विपरीत आचरण करते और अपने जीवन को नष्ट कर रहे हैं यदि हमें जहांतक हमारी दृष्टि जा सकती है वहांतक पहुंचने के योग्य बनना हो यदि हमे सुदूर अन्तरतम की पुकार पर अमल करना हो, तो हमें ऐहिक अभिलाषा यश, सम्पत्ति और इंद्रिय-सुख का परित्याग करना ही पड़ेगा। निर्धनों और जाति-बहिष्कृतों से एकता प्राप्त करने के लिए हमें भी वैसा ही निर्धन तथा बहिष्कृत बनना पड़ेगा। निन्दा-स्तुति की परवा न करके, बेधड़क सत्य कहने तथा करने में

होकर सबके प्रति प्रेम तथा क्षमा का बर्ताव करने के लिए, वैराग्य की परम आवश्यकता है। ऐसी स्वतंत्रता (मुक्ति) उन बन्धन-रहितों के लिए है जो तृण-मात्र का भी स्वामी हुए बिना निखिल जगत का उपभोग करते हैं। इस सम्बन्ध में गांधीजी संन्यासी के उस उच्च आदर्श का पालन कर रहे हैं जिनका न कोई निश्चित निवास होता है और न रहन-सहन का कोई स्थायी ढंग।

परन्तु जब कभी तपश्चर्या के इस मार्ग पर पूर्णतया अमल करने का उपदेश, केवल संन्यासियों को ही नहीं, मनुष्य-मात्र को किया जाता है, तब कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया जाता है। उदाहरणार्थ, जननेन्द्रिय का संयम सबके लिए आवश्यक है; परन्तु आजन्म ब्रह्मचारी कुछही रह सकते हैं। स्त्री-पुरुष के संयोग का प्रयोजन केवल शारीरिक अथवा ऐन्द्रियिक सुख ही नहीं है, प्रत्युत प्रेम प्रकट करने और जीवन-शृंखला को जारी रखने का भी एक साधन है। यदि इससे दूसरों को हानि पहुँचे अथवा किसी की आध्यात्मिक उन्नति में बाधा हो तो यह काम बुरा हो जाता है, वरना स्वयं काम में इन दोनों बुराइयों मे से कोई भी वर्तमान नहीं है। जिस काम द्वारा हम जीते हैं, प्रेम प्रकट किया जाता है और जीवन-शृंखला बढ़ती है, वह लज्जा अथवा पाप का काम नहीं हो सकता। परन्तु जब अध्यात्म के उपदेशक ब्रह्मचर्य पर जोर देते हैं, तब उनका अभिप्राय यह होता है कि मन की एकता को ऐन्द्रियिक वासनाओं द्वारा नष्ट होने से बचाया जाय।

गांधीजी ने अपना जीवन यथा-सम्भव सीमा तक संयत बनाने में कुछ भी उठा नहीं रक्खा और जो उनको जानते हैं वे उनके इस दावे को मान जायंगे कि वह "सगे सम्बन्धियों और अजनबियों, स्वदेशियों और विदेशियों, गोरों और कालों, हिन्दुओं और अन्य धर्मावलम्बी मुस्लिम, पारसी, ईसाई, यहूदी आदि भारतीयों में कोई भेद नहीं करते।" वह कहते हैं, "मैं यह दावा नहीं करता कि यह मेरा विशेष गुण है, क्योंकि यह तो मेरे किसी प्रयत्न का परिणाम होने की अपेक्षा मेरे स्वभाव का ही अंग रहा है, जबकि अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि अन्य परम धर्मों के विषय में मैं खूब जानता हूँ कि मुझे उनकी प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना पड़ा है।"[१]

---

[१] **'महात्मा गांधी—हिज ओन स्टोरी'; पृष्ठ २०९.**

केवल शुद्ध हृदयवाला ही ईश्वर से और मनुष्य से प्रेम कर सकता है। सहन-शीलता-युक्त प्रेम आध्यात्मिकता का एक चमत्कार है। इसमें यद्यपि दूसरों के अन्याय हमें अपने कन्धों पर झेलने पड़ते हैं, तथापि उससे एक ऐसे आनन्द का अनुभव होता है जो शुद्ध स्वार्थमय सुख की अपेक्षा भी अधिक वास्तविक तथा गहरा होता है। ऐसे अवसरों पर ही ज्ञात होता है कि संसार में इस ज्ञान से बढ़कर मधुर अन्य कुछ नहीं कि हम किसी दूसरे को क्षणभर सुख दे सकें, इस भावना से बढ़कर मूल्यवान अन्य कुछ नहीं कि हमने किसी दूसरे के दुःख में हाथ बँटाया। अहंकार-रहित, गर्व-शून्य, भलाई करने के गर्व से भी शून्य, पूर्ण दयालुता ही धर्म का सर्वोच्च रूप है।

यह स्पष्ट हो गया कि आध्यात्मिकता की कसौटी प्राकृतिक संसार से पृथक् हो जाना नहीं, प्रत्युत यहीं रहकर सबसे प्रेम रखते हुए कर्म करना है। "**यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।**" अपने पड़ोसी से अपने समान ही (आत्मैव) प्रेम करो। यह शर्त निरपवाद है। जीव-मात्र को स्वतन्त्रता और स्थिति की समानता प्राप्त होनी चाहिए। इस शर्त की पूर्ति के लिए विश्व-भर में स्वतन्त्र मनुष्य-जाति की स्थापना तो परम आवश्यक है ही, जो इसे स्वीकार करेंगे उनके लिए जाति और धर्म, धन और शक्ति और वर्ग और राष्ट्र के कृत्रिम बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर देना भी आवश्यक होगा। यदि एक गिरोह या राष्ट्र दूसरे को बर-बाद करके आप सुरक्षित होने का, जर्मन चेकों को बरबाद करके, जमींदार काश्त-कारों को बरबाद करके और पूंजीपति मजदूरों को बरबाद करके आप सुखी होने का यत्न करें तो वह उपाय प्रजातन्त्र-विरोधी होगा। इस प्रकार के अन्याय की हिमायत केवल शस्त्र-बल से ही की जा सकती है। अधिकारारूढ़ वर्ग को सदा अधिकार छिन जाने का भय रहता है और पीड़ित वर्ग स्वभावतः हृदय में क्रोध का संग्रह करता रहता है। इस अप्राकृतिक अवस्था का अंत न्याय द्वारा ही हो सकता है—न्याय भी ऐसा जो मनुष्य-मात्र के समानाधिकार को स्वीकार करता हो। गत कुछ शताब्दियों में मानव-जाति का प्रयत्न मानवीय बन्धुता की स्थापना करने की दिशा में हो रहा है। संसार के विविध भागों में आगे बढ़ने के जो प्रयत्न होते देखे गये हैं वे न्याय, समानता तथा शोषण से छुटकारा पाने के आदर्श, जिनका कि मनुष्यों को अधिकाधिक बोध होता जा रहा है और उनका तकाजा या मतालबा, सब उन विघ्न-बाधाओं के विरुद्ध सर्व-साधारण मनुष्य के विद्रोह के चिह्न हैं, जो उसे रोक रखने और पीछे खींचने के लिए अर्से से जमा हो रही

थीं। स्वतन्त्रता के लिए अधिकाधिक जागरूक होते जाना मानवीय इतिहास का सार है।

हम बहुधा अपवाद-स्वरूप घटनाओं को, उनके बिगड़े हुए रूप में देखकर, आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे देते हैं। हम भली-भाँति यह नहीं समझते कि कभी-कभी व्यतिक्रम हो जाने की घटनाएं अन्धेरी गलियाँ और घोर आपत्तियाँ सदियों से चली आ रही साधारण प्रवृत्ति का एक अंग-मात्र है और उनको उक्त प्रवृत्ति के पृष्ठ-भाग पर रखकर ही देखना चाहिए। यदि हम मानव-जाति के सतत प्रयत्न का कहीं एकान्त अवलोकन कर पाते तो हम अत्यन्त चकित और प्रभावित रह जाते। गुलाम आजाद हो रहे हैं, काफिरों को अब जिन्दा जलाया नहीं जाता, जागीरदार अपने परम्परागत अधिकारों को छोड़ते जा रहे हैं, गुलामों को लज्जापूर्ण जीवन से मुक्ति मिल रही है, सम्पत्तिशाली अपनी सम्पन्नता के लिए क्षमा-याचना कर रहे हैं, सैनिक-साम्राज्य शान्ति की आवश्यकता बतला रहे है और मानव-जाति की एकता तक के स्वप्न देखे जा रहे हैं। हाँ, आज भी हम शक्तिशालियों का ऐश्वर्य-भोग, धूर्तों की ईर्ष्या, मक्कारों की दगाबाजी और दर्पपूर्ण जातीयता तथा राष्ट्रीयता का उदय देख रहे हैं। परन्तु जिस किसीको प्रजातन्त्र की महती परम्परा आज सर्वत्र व्याप्त होती हुई दृष्टिगोचर न हो, वह अन्धा ही होगा। उन लोगों के प्रयत्न और परिश्रम अथक हैं जो एक ऐसा नया संसार निर्माण करनें में लगे हुए हैं जिसमे गरीब-से-गरीब आदमी भी अपने घर में पर्याप्त भोजन, प्रकाश, वायु और धूप का तथा जीवन में आशा, प्रतिष्ठा व सुन्दरता का उपभोग कर सकेगा। गांधीजी मानव-जाति के प्रमुख सेवियों में से हैं। बिलकुल सामने ही खड़ी आपत्तियों को देखते हुए वह सुदूरवर्ती भविष्य की कल्पना से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। वह तो बुराइयों के सुधार और आपत्तियों के निवारण के लिए दृढ़ विश्वासवाले व्यक्तियों के साथ मिलकर यथा-संभव प्रत्यक्ष तथा सीधे उपायों द्वारा काम करना पसन्द करते हैं। प्रजातन्त्र उनके लिए वाद-विवाद की वस्तु नहीं, एक सामाजिक वास्तविकता है। दक्षिण अफ्रीका और भारत की तमाम सार्वजनिक कार्रवाइयाँ तभी समझ में आ सकती हैं जब हम उनके मानव-प्रेम को जान लें।

यहूदियों के साथ नाजियों के व्यवहार से समस्त सभ्य-संसार बिलकुल हिल गया है और उदार राजनीतिज्ञों ने जाति-पक्षपात के पुनः फूट पड़ने पर गम्भीरता-पूर्वक अपना खेद तथा विमति प्रकट की है। किन्तु यह एक विचित्र परन्तु आश्चर्य-जनक सचाई है कि ब्रिटिश साम्राज्य और अमेरिका के संयुक्त-राज्यों-जैसे प्रजातंत्री

देशों में भी अनेक जातियों को केवल जातीय कारणों से राजनैतिक तथा सामाजिक रुकावटों का सामना करना पड़ रहा है। गांधीजी जब दक्षिण अफ्रीका में थे तब उन्होंने देखा कि नाम को तो भारतीय ब्रिटिश-साम्राज्य के स्वतन्त्र नागरिक थे, परन्तु उनको भारी रुकावटों का सामना करना पड़ता था। धर्माधिकारी और राज्याधिकारी दोनों ही गैर-यूरोपियन जातियों को समानाधिकार देने को राजी नहीं थे, तब गांधीजी ने इन अत्याचारपूर्ण पाबन्दियों का प्रतिवाद करने के लिए सामूहिक-रूप से अपना निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन आरम्भ कर दिया। उनका मूलभूत सिद्धान्त यह था कि मनुष्य मनुष्य समान हैं और जाति तथा रंग की बिना पर कृत्रिम भेदभाव करना तर्क तथा नीति के विरुद्ध है। उन्होंने भारतीय समाज को बतलाया कि उसका सचमुच कितना पतन हो चुका है और उसमें आत्म-प्रतिष्ठा तथा आत्म-सम्मान की भावना जाग्रत की। उनका प्रयत्न भारतीयों के सुख तक ही सीमित नहीं रहा। उन्होंने अफ्रीका के मूल-निवासियों के शोषण को और भारतीयों के साथ, उनकी ऐतिहासिक संस्कृति के आधार पर, कुछ अच्छे व्यवहार को भी उचित नहीं माना। भारतीयों के विरुद्ध अधिक आपत्तिजनक भेद-भावपूर्ण कानून तो उठा दिये गये, परन्तु आज भी भारतीयों पर ऐसी अनेक अपमानजनक पाबन्दियाँ लगी हुई हैं, जो न तो उनके सामने झुक जानेवालों के लिए प्रशंसा की वस्तु हैं और न उन्हें लागू करनेवाली सरकार की शान को ही बढ़ाती हैं।

भारत में उनकी महत्वाकांक्षा यह थी कि देश के आन्तरिक भेदभावों और फूट को मिटाकर जनता को स्वाश्रय के लिए एक नियम में लाया जाय, स्त्रियों को उठाकर पुरुषों के बराबर राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक धरातल पर बिठाया जाय, राष्ट्र को विभक्त करनेवाले धार्मिक घृणा-द्वेषों का अन्त किया जाय और हिन्दू-धर्म को अस्पृश्यता के सामाजिक कलंक से मुक्त किया जाय। हिन्दुत्व पर से यह धब्बा धोने में उनको जो सफलता प्राप्त हुई है, वह मानव जाति की उन्नति को उनकी एक महत्तम देन के रूप में स्मरण की जायगी। जबतक अछूतों की पृथक् श्रेणी रहेगी गांधीजी उसीमें रहेंगे। "यदि मेरा पुनर्जन्म हो तो मैं अछूत के घर जन्मना चाहूंगा ताकि मैं उनके दुःख-दर्द में, उनके अपमान में भोग ले सकूं और अपने आपको तथा उनको उस दयनीय अवस्था से छुड़ाने का यत्न कर सकूं।" यह कहना कि हम अदृश्य ईश्वर को प्रेम करते हैं और साथ ही उसके जीवन द्वारा अथवा उससे प्राप्त जीवन द्वारा जीनेवाले मनुष्यों से क्रूरता का बर्ताव करना, अपनी बात को आप ही काटना है।

यद्यपि गांधीजी कट्टर हिन्दू होने का अभिमान करते हैं, तथापि जात-पाँत की कठोरताओं व कठिनताओं की, अस्पृश्यता के अभिशाप की, मन्दिरों के अनाचार की और पशुओं तथा प्राणि-जगत पर होनेवाली क्रूरता की तीव्र आलोचना करनेवाला भी उनसे बढ़कर कोई नहीं हुआ। "मैं सुधारक तो पूरा-पूरा हूँ, परन्तु मैंने जोश में आकर हिन्दुत्व के एक भी मूल-तत्व का निषेध नहीं किया।"

आज वह भारतीय राजाओं की स्वेच्छाचारिता का विरोध कर रहे हैं। और इसका कारण इन राजाओं की करोड़ों प्रजा के प्रति उनका प्रेम है; उदारतम निरीक्षक भी यह नहीं कह सकता कि रियासतों में सब कुछ ठीक है। मैं यहाँ कलकत्ता के एक ब्रिटिश स्वार्थों के प्रतिनिधि पत्र 'स्टेट्समैन' से कुछ वाक्य उद्धृत कर दूं—"कई रियासतों की दशा भयंकर है, यह कहकर हम व्यक्तियों की निन्दा नहीं कर रहे, केवल मनुष्य की प्रकृति को प्रकट कर रहे हैं। अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के जागीरदार किसी कानून के पाबन्द नहीं हैं। जिन्दगी और मौत की ताकत उनके हाथ में है। यदि वे लालची, जालिम और पापी हों तो उनके लालच, पाप और जुल्म के रास्ते में कोई भी रुकावट नहीं। यदि छुटभैये अत्याचारियों की रक्षक संधियाँ नहीं बदली जायँगी, यदि अरक्षणीय की रक्षा करने की सर्वोच्च सत्ता की जिम्मेदारी केवल एक सम्मान की वस्तु रहेगी, तो एक न एक दिन एक अतिरोध्य शक्ति की टक्कर एक अचल वस्तु से होकर रहेगी और इस समस्या के शास्त्रोक्त उत्तर के अनुसार कोई वस्तु धूल में मिले बिना न रहेगी।" विकास की मन्दगति सब क्रांतियों का कारण होती है। गांधीजी राजाओं के परम-मित्र हैं। इसी कारण उनको जागने और अपना घर ठीक कर लेने के लिए कह रहे हैं। मुझे आशा है कि वे समय बीतने से पहले ही समझ लेंगे कि उनकी सुरक्षिता तथा स्थिरता उत्तरदायित्व पूर्ण शासन-पद्धति का शीघ्र सूत्रपात कर देने में ही है। सर्वोच्च-सत्ता (ब्रिटिश सरकार) तक को, अपनी सब शक्ति के रहते, ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में इसे जारी कर देना पड़ा है।

भारत में ब्रिटिश शासन पर गांधीजी का सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि इससे गरीबों का उत्पीड़न होने लगा है। इतिहास के आरम्भ से ही भारत अपने धन और सम्पत्ति के लिए सर्वविदित रहा है। हमारे पास अत्यन्त उपजाऊ भूमि के विस्तृत क्षेत्र हैं, प्राकृतिक साधनों की अक्षय्य प्रचुरता है और यदि उचित सावधानी तथा ध्यान से काम लिया जाय तो हमारे पास एक स्त्री, पुरुष और बालक के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त सामग्री है। तो भी हमारे देश में लाखों आदमी निर्धनता के

शिकार हो रहे हैं, उनके पास भरपेट खाने को अन्न नहीं और रहने को ठीक-ठीक मकान नहीं; बचपन से बुढ़ापे तक निरन्तर संघर्ष ही उनका जीवन; और अन्त को मृत्यु ही आकर उनके दुःखी हृदय को शांत करके उनकी रक्षा करती है। इन अवस्थाओं का कारण प्रकृति की क्रूरता नहीं, परन्तु वह अमानुषिक पद्धति है, जो न केवल भारत के बल्कि समस्त मानव-जाति के लाभ के लिए स्वयं अपने मिट जाने की पुकार कर रही है।

सन् १९३१ में गांधीजी ने लन्दन से अमरीका को जो भाषण ब्रॉडकास्ट किया था, उसमें उन्होंने "उन्नीस सौ मील लम्बे और पन्द्रह सौ मील चौड़े भूतल पर छाये हुए सात लाख गांवों में जगह-जगह बिखरे पड़े करोड़ों अधभूखों" का भी जिक्र किया था। उन्होंने कहा था—

"यह एक दुःखमयी समस्या है कि ये सीधे-सादे ग्रामीण, बिना किसी अपने कसूर के, बरस में लगभग छः माह निकम्मे बैठे रहते हैं। बहुत समय नहीं बीता, जब हरेक ग्राम भोजन और वस्त्र की दो प्रारम्भिक आवश्यकताओं के मामले में आत्म-निर्भर था। हमारे दुर्भाग्य से जब ईस्ट-इंडिया कम्पनी ने उस ग्रामीण दस्तकारी का नाश कर दिया—जिन साधनों से उसने ऐसा किया उसका वर्णन नही करूँ तो अच्छा—तब करोड़ों कतैयों ने—जो अपनी अँगुलियों की कुशलता से ऐसा सूक्ष्मतम सूत निकालने के कारण प्रसिद्ध हो चुके थे, जैसा कि आजतक किसी वर्तमान मशीन ने नहीं काता—ग्रामों के इन दस्तकार कतैयों ने एक रोज सुबह देखा कि उनका शानदार पेशा खतम हो चुका है। बस उसी दिन से भारत निरन्तर निर्धन होता जा रहा है। इसके विपरीत चाहे कोई कुछ कह ले, यह एक सचाई है।"

भारत ग्रामों में बसता है। उसकी सभ्यता कृषि-प्रधान थी, जो अब अधिकाधिक यान्त्रिक होती जा रही है। गांधीजी किसानों के प्रतिनिधि हैं, जो कि संसार का भोजन उत्पन्न करते हैं और जो समाज के आधार हैं। उन्हें भारतीय सभ्यता के इस मूल आधार को सुरक्षित रखने और स्थायी बनाने की चिन्ता है। वह देखते है कि ब्रिटिश राज में लोग अपने पुराने आदर्शों को छोड़ते जा रहे हैं और यान्त्रिक बुद्धि, आविष्कार की योग्यता, साहस और वीरता आदि अनेक प्रशंसनीय गुणों को पाकर भी वे आधिभौतिक सफलता के पुजारी, प्रत्यक्ष लाभों के लोभी और सांसारिक आदर्शों के उपासक बनते जा रहे हैं। हमारे औद्योगिक शहर जिस भूमि में बसे हुए हैं, उसके अनुपात से बिलकुल बाहर जा चुके हैं, उनका निरर्थक फैलाव होता जा रहा है और उनके निवासी नागरिक धन तथा यन्त्रों की उलझन में फँस

कर हिंसक, चंचल, अविचारी, अनियन्त्रित और नीति-अनीति के विवेक से शून्य बन गये हैं। कारखाने में काम करनेवाले लोगों का नमूना गांधीजी की दृष्टि में वे स्त्रियाँ है, जो थोड़ी-सी मजदूरी के लिए अपना जीवन निष्फल बिताने को मजबूर की जाती हैं; वे बच्चे हैं, जिनको अफीम देकर चुप करा दिया जाता है, ताकि वे रोकर काम में लगी अपनी माताओं को तंग न करें; वे बालक हैं, जिनका बचपन छीनकर उनकी छोटी आयु में ही कारखानों में काम पर भेज दिया जाता है और वे लाखों बेकार हैं, जिनकी बढ़ती रुक गई है और जो बीमार हो चुके हैं। उनका विचार है कि हम जाल में फँसकर गुलाम बनाये जा रहे हैं और हमारी आत्माएं अत्यन्त तुच्छ मूल्य पर खरीदी जा रही हैं। जो सभ्यता और भावना, उपनिषदों के ऋषियों, बौद्ध भिक्षुओं, हिन्दू संन्यासियों और मुस्लिम फकीरों का आश्रय पाकर उच्च आकाश में उड़ी थी, वह मोटरकारों, रेडियो और धन-दौलत के दूसरे दिखावों से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। हमारी दृष्टि धुंधली हो गई है और हम रास्ता भूल गये हैं। हम गलत दिशा में मुड़ गये है जिससे हमारी काश्तकार जनता निरधि-कृत, निर्धन और दुखी हो गई है; हमारे मजदूर चरित्र-भ्रष्ट, अशिष्ट और अंधे बन गये हैं, जिसके कारण हमारे लाखों बालक, भावहीन चेहरा, मुरदा आँखें तथा झुकी हुई गर्दन लेकर संसार में आये हैं। हमारी वर्तमान निष्फलता, निराशा और परेशानी के नीचे जनता का बड़ा भाग आज भी वास्तविक स्वतन्त्रता व सच्चे आत्म-सम्मान के पुराने स्वप्न की पूर्ति का तथा ऐसे जीवन का भूखा हो रहा है जिनमें न कोई अमीर होगा न गरीब, जिसमें सुख व फुरसत की अतिशयता की समाप्ति कर दी जायगी और जिसमें उद्योग तथा व्यापार सीधे-सादे रूप में रहेंगे।

गांधीजी का लक्ष्य ऐसा किसान-समाज नहीं है, जो मशीन के लाभों का सर्वथा परित्याग कर देगा। वह बड़े पैमाने पर उत्पादन के भी विरोधी नहीं हैं। उनसे जब यह प्रश्न किया गया कि क्या घरेलू उद्योग-धन्धों और बड़े कल-कारखानों में समन्वय हो सकता है? तब उन्होंने कहा, "हाँ, यदि उनका संगठन ग्रामों की सहायता के लिए किया जाय। बुनियादी व्यवसाय, ऐसे व्यवसाय जिनकी राष्ट्र को आवश्यकता है, एक जगह केन्द्रित किये जा सकते हैं। मेरी योजना के अनुसार तो जो वस्तु ग्रामों में भली-भाँति उत्पन्न हो सकती है, वह शहरों में पैदा नहीं करने दी जायगी। शहरों को तो गाँव की पैदावार की बिक्री का केन्द्र रहना चाहिए।" खादी पर बार-बार ज़ोर देने में और शिक्षण की अपनी योजना का आधार दस्तकारी को बनाने में भी उनका प्रयोजन ग्रामों का पुनरुद्धार ही है। वह बार-बार चेतावनी देते हैं कि

भारत उसके कुछ शहरों में नहीं, उसके अनगिनत गांवों में ही मिलेगा। भारत की भारी जनता को पुनः लौटकर भूमि का ही सहारा लेना चाहिए, भूमि पर ही रहना और भूमि की पैदावार से अपना निर्वाह करना चाहिए, ताकि उसके परिवार स्वावलम्बी बन जायँ। जिन औजारों से वे काम करते हैं, जिस खेत को वे जोतते हैं और जिस घर में वे रहते हैं उन सबके वे स्वयं मालिक हों। देश के सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन पर घर-बार से बिछुड़े एक जगह पड़े रहनेवाले कारखानों के मजदूर-वर्ग का नहीं, अधकचरे तथा लालची महाजन या व्यापारी समाज का नहीं, बल्कि जिम्मेदार ग्रामीण जनता का और छोटी-छोटी देहाती मण्डियों के स्थायी व समझदार लोगों का प्रभुत्व होना चाहिए जिससे उनके कास्तकार द्वारा उसमें नीति-बल का, सदाचार का और उच्च ध्येयों का प्रवेश हो। इस सबका अर्थ पुरातन युग में लौट जाना नहीं, इसका अभिप्राय केवल यह है कि भारत जीवन की ऐसी प्रणाली को ग्रहण कर ले जो उसके लिए स्वाभाविक है और जो किसी समय उसको एक उद्देश्य, विश्वास तथा अर्थ प्रदान करती थी। हमारी जाति को सभ्य रखने का एकमात्र यही उपाय है। जब भारत के जीवन की विशेषताएं उसके काश्तकार और गाँव, ग्राम-पंचायतें, अरण्यों के ऋषि-आश्रम और अध्यात्म-चिन्तन के एकान्तनिवास थे, तब उसने संसार को अनेक महान् पाठ पढ़ाये थे, परन्तु किसी इन्सान का बुरा नहीं किया था, किसी देश को हानि नहीं पहुँचाई थी और न किसी पर शासन करने की कोशिश की थी। आज तो जीवन का वास्तविक उद्देश्य ही भ्रष्ट हो गया है। निराशा के इस गर्त से भारत का छुटकारा किस प्रकार हो ? जनता सदियों की पराधीनता के पश्चात् अपने आपको उससे मुक्त करने का संकल्प या इच्छा ही खो बैठी जान पड़ती है। उन्हें अपनी विरोधी शक्तियाँ अत्यन्त प्रबल दीखती हैं। उनमें पुनः आत्मविश्वास, आत्मसम्मान और स्वाभिमान उत्पन्न करना और फिर उठाकर खड़ा करना सुगम कार्य नहीं है। तो भी गांधीजी ने एक सुप्त पीढ़ी को अपने अन्तःकरण में सुलगती हुई अग्नि और स्वतन्त्रता की अपनी कामना से पुनः जाग्रत तथा चेतन करने का यत्न किया है। स्वतन्त्र अवस्था में स्त्री और पुरुष अपनी उत्कृष्टता को प्रकट करते हैं; परतन्त्रता में वे निकृष्ट हो जाते हैं। स्वतन्त्रता का उद्देश्य ही साधारण मनुष्य को उन आन्तरिक तथा बाह्य बन्धनों से मुक्त करना है, जो उसकी वास्तविक प्रकृति को संकुचित किये रहते हैं, गांधीजी मानवीय स्वतन्त्रता के महान् रक्षक हैं, इसीलिए वह अपने देश को विदेशी बन्धन से मुक्त करने का यत्न

कर रहे हैं। देशभक्ति, जब इतनी शुद्ध हो तब वह, न अपराध रहती है न अशिष्टता। वर्तमान अस्वाभाविक अवस्थाओं के विपरीत लड़ना प्रत्येक भारतीय का पवित्र कर्तव्य है। गांधीजी आध्यात्मिक शस्त्रों का प्रयोग करते हैं, वह तलवार खींचने से इन्कार करते हैं और ऐसा करते हुए वह लोगों को स्वतन्त्रता के लिए तैयार कर रहे हैं, उन्हें उसे पाने और कायम रख सकने के योग्य बना रहे हैं। सर जार्ज लॉयड (अब लार्ड लॉयड) ने, जो तब बम्बई प्रान्त के गवर्नर थे, गांधीजी के आन्दोलन के विषय में कहा था—"गांधीजी का प्रयोग संसार के इतिहास में सबसे विशाल था और इसकी सफलता में केवल इंच-भर का अन्तर रह गया था।"

ब्रिटिश सरकार को हिला देने के अपने प्रयत्न में चाहे वह सफल न हो पाये हों, फिर भी उन्होंने देश में ऐसी शक्तियाँ उन्मुक्त कर दी हैं जो अपना काम सदा करती रहेंगी। उन्होंने लोगों को जड़ता से जगा दिया है, उन्हें नया आत्म-विश्वास और उत्तरदायित्व देकर स्वतन्त्र होने के अपने संकल्प में एक कर दिया है। जहाँ तक आज देश में एक नई भावना की जाग्रति का, एक नये प्रकार के राष्ट्रीय सम्मिलित जीवन की तैयारी का और दलित जातियों के साथ व्यवहार में एक नई सामाजिक भावना का सम्बन्ध है, वहाँ तक इस सबका अधिकतर श्रेय गांधीजी के आन्दोलन की आध्यात्मिक प्रेरक शक्ति और गति को है।

गांधीजी के दृष्टिकोण में साम्प्रदायिकता अथवा प्रांतीयता तनिक भी नहीं है। उनका विश्वास है कि भारत की प्राचीन संस्कृति से संसार की संस्कृति के विकास में सहायता मिल सकती है। नीचे पड़ा छटपटाता हुआ भारत मानव-जाति को आशा का सन्देश नहीं दे सकता; जाग्रत और स्वतन्त्र भारत ही पीड़ित संसार की सहायता कर सकता है। गांधीजी कहते हैं कि यदि ब्रिटिश लोग न्याय, शान्ति और व्यवस्था के अपने आदर्श के प्रति सच्चे हों तो उनके लिए आक्रामक शक्तियों को दबा देना और वर्तमान परिस्थिति को ही कायम रखना पर्याप्त नहीं है। यदि स्वतन्त्रता और न्याय के प्रति हमारा प्रेम सच्चा है तो उसमें हमारे घोषित आदर्शों के विपरीत जो परिस्थिति हो उसे सुधारने से इन्कार करने की इस निष्क्रिय हिंसा को कोई स्थान न होना चाहिए। यदि साम्राज्यों का निर्माण मनुष्य की तृष्णा, क्रूरता और घृणा ने किया है तो, संसार को न्याय तथा स्वतन्त्रता की शक्तियों का साथ देने के लिए कहने से पहले, हमें उनको बदलना होगा। हिंसा या तो सक्रिय होगी या निष्क्रिय। आक्रामक शक्तियाँ इस समय सक्रिय हिंसा कर रही हैं; वे साम्राज्यवादी शक्तियां भी हिंसा की उतनी ही अपराधिनी और स्वातंत्र्य तथा प्रजातन्त्र की

विरोधिनी हैं, जो भूतकाल की हिंसा द्वारा प्राप्त अन्यायपूर्ण लाभों का उपभोग करने में आज भी संलग्न हैं। जबतक हम इस मामले में ईमानदारी से काम न लेंगे तबतक हम अब से अच्छी संसार-व्यवस्था स्थापित नहीं कर सकेंगे और संसार में युद्ध तथा युद्धों का भय जारी रह कर, यहां अनिश्चितता की अवस्था बनी रहेगी। भारत को स्वतंत्र कर देना ब्रिटिश ईमानदारी की अग्नि-परीक्षा है। गांधीजी अब भी प्रति सोमवार को चौबीस घण्टे का उपवास करते हैं, ताकि सब सम्बद्ध लोगों को मालूम रहे कि स्वराज अभी नहीं मिला। और फिर भी यह गांधीजी का ही प्रभाव है, जो एक ओर जनता की उचित आकांक्षाओं और दूसरी ओर ब्रिटिश शासकों के हठ के विरोध में छिन्न-विच्छिन्न तथा अधीर भारत को नियन्त्रण में रख रहा है। भारत में सबसे बड़ी शान्ति-रक्षिणी शक्ति वही हैं।

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की समाप्ति के पश्चात्, जब वह इंग्लैण्ड पहुँचे तब उन्होंने देखा कि जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की जा चुकी थी। उन्होंने लड़ाई के मैदान में 'एम्बुलेन्स' (घायलों की सहायता) काम करने के लिए, जबतक युद्ध चले तबतक, अपनी सेवाएं बिना शर्त प्रदान कीं। उनकी सेवा स्वीकार कर ली गई और उन्हें एक भारतीय टुकड़ी के साथ एक जिम्मेदारी के पद पर नियुक्त किया गया। परन्तु अपना काम करते हुए ठण्ड लग जाने के कारण, उनको प्लुरसी का रोग हो गया और उनका जीवन जोखिम में होने का सन्देह किया जाने लगा। अच्छा होने पर उनको डाक्टरों ने भारत की गरम आब-हवा में लौट जाने की सलाह दी। उन्होंने युद्ध के लिए रंगरूटों की भरती में अमली मदद पहुँचाई—उनका यह काम उनके अनेक मित्रों तक के लिए पहेली बन गया था। युद्ध के पश्चात्, भारतीयों का सर्वसम्मत विरोध होते हुए भी, रौलट-एक्ट पास हो गया। पंजाब में फ़ौजी शासन के मातहत ऐसी कार्रवाइयां की गई जिनको देख-सुनकर देश स्तब्ध हो गया। पंजाब के दंगों पर कांग्रेस की जांच-कमेटी ने जो रिपोर्ट तैयार की, उसके लेखकों में गांधीजी भी एक थे। यह सब होते हुए भी, दिसम्बर १९१९ में, उन्होंने अमृतसर की कांग्रेस को सलाह दी कि शासन-सुधारों को स्वीकार करके उनपर वैध उपायों द्वारा अमल करना चाहिए। सन् १९२० में जब हण्टर-कमीशन की रिपोर्ट में सरकारी कार्रवाई की आलोचना झिझकते-झिझकते की गई और जब ब्रिटिश पार्लमेण्ट की लार्ड-सभा ने जनरल डायर की निन्दा करने से इन्कार कर दिया, तब उन्होंने ब्रिटिश सरकार से सहयोग न करने का अपने जीवन का महान् निश्चय प्रकट किया। और सितम्बर, सन् १९२० में कांग्रेस के

कलकत्ता के विशेषाधिवेशन ने उनका अहिंसात्मक असहयोग का प्रस्ताव पास कर दिया।

यहां उनके अपने ही शब्दों को उद्धृत करना उचित होगा। १ अगस्त १९२० को उन्होंने वाइसराय को एक पत्र में लिखा था:—

"अफ़सरों के अपराधों के प्रति आपकी अवहेलना, आपका सर माइकेल ओडवायर को निरपराध कहकर छोड़ देना, मि० माण्टेगु का खरीता और सबसे बढ़कर ब्रिटिश लार्ड-सभा की पंजाब की घटनाओं से निर्लज्जतापूर्ण अनभिज्ञता तथा भारतीय भावनाओं की हृदयहीन उपेक्षा, इन घटनाओं ने साम्राज्य के भविष्य में मेरे हृदय को गम्भीर संशयों से भर दिया है तथा मुझे वर्तमान शासन का कट्टर विरोधी और जैसा मैं अबतक पूर्ण हृदय से सरकार को सच्चा सहयोग देता आया हूँ उसे निभाने में असमर्थ बना दिया है।

"मेरी विनम्र सम्मति में, जो सरकार अपनी प्रजा के सुख की तरफ से ऐसी सख्त लापरवाह हो जैसी कि भारत-सरकार साबित हुई है, उसे पश्चात्ताप करने के लिए दरख्वास्तों, डेपूटेशनों और इसी किस्म के आन्दोलन करने के दूसरे मामूली तरीकों से प्रेरित नहीं किया जा सकता। यूरोपियन देशों में, खिलाफत और पंजाब सरीखे भारी अन्यायों की निन्दा तथा प्रतिवाद के परिणाम में जनता रक्तमय क्रान्ति कर उठती। उसने सब उपायों से राष्ट्रीय मान-मर्दन का विरोध किया होता। आधा भारत हिंसामय विरोध करने में असमर्थ है और शेष आधा वैसा करना नहीं चाहता। इसलिए मैंने असहयोग का उपाय सुझाने का साहस किया है। इसके द्वारा, जो चाहें वे, अपने आपको सरकार से अलहदा कर सकते हैं। यदि इस उपाय पर बिना हिंसा के और व्यवस्थित रूप में अमल किया गया, तो यह सरकार को अपना कदम वापस लेने को और किया हुआ अन्याय मिटाने को जरूर मजबूर कर देगा। परन्तु असहयोग की नीति पर चलते हुए, और जहाँ तक मैं जनता को अपने साथ ले जा सकता हूँ वहाँ तक जाते हुए भी, मैं यह आशा नहीं छोड़ूंगा कि आप अब भी न्याय के मार्ग पर चल पड़ेंगे।"

यद्यपि उनकी राय है कि वर्तमान ब्रिटिश शासन ने भार को धन, पौरुष तथा धर्म में और उसके पुत्रों को आत्मरक्षा के सामर्थ्य में पहले से निर्बल बना दिया है, तो भी उनको आशा है कि यह सब परिवर्तित हो सकता है। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आन्दोलन करते हुए भी वह ब्रिटिश सम्बन्ध के विरोधी नहीं हैं। असहयोग-आन्दोलन की पराकाष्ठा के दिनों में भी उन्होंने

ब्रिटेन से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर देने के आन्दोलन का दृढ़ता से विरोध किया था।

ब्रिटिशों के साथ मित्रों और साथियों की तरह काम करने के लिए तैयार होते हुए भी उनकी दृढ़ राय थी कि जबतक संरक्षकता और प्रभुता का ब्रिटिशों का अस्वाभाविक रुख कायम रहेगा, तबतक भारत की अवस्था में कोई सुधार सम्भव नहीं होगा। याद रखना चाहिए कि तीव्रतम उत्तेजना के समय भी उन्होंने ब्रिटिशों का बुरा कभी नहीं चाहा। "मैं भारत की सेवा करने के लिए इंग्लैण्ड या जर्मनी को हानि नहीं पहुँचाऊँगा।"

जब कभी, अमृतसर के हत्याकाण्ड अथवा साइमन-कमीशन की नियुक्ति सरीखे मूर्खता या नासमझी के किसी काम के कारण, भारत अपना धीरज और आत्म-संयम गँवाकर क्रोध से उबल उठा, तब गांधीजी सदा असंतोष और क्षोभ को प्रेम और सुलह के शान्त प्रवाह में परिवर्तित करते देखे गये हैं। गोलमेज-परिषद् में उन्होंने ब्रिटिशों के प्रति अपने अमिट प्रेम, शक्ति के बजाय युक्तिपर आश्रित 'कामनवेल्थ' में विश्वास और मनुष्य-मात्र की भलाई करने की अभिलाषा का परिचय दिया था। गोलमेज-परिषदों के फलस्वरूप प्रान्तों को स्व-शासन की एक अपूर्ण मात्रा दी गई थी और जब जनता के बहुमत ने शासन-विधान को स्वीकार करने का और उसपर अमल करने का विरोध किया, तब भी गांधीजी ही थे कि जिन्होंने अन्य किसीसे भी बढ़कर कांग्रेस को शासन-सुधारों का यथाशक्य लाभ उठाने की प्रेरणा दी। उनका एकमात्र आग्रह ब्रिटेन के साथ शान्ति का सम्बन्ध रखने पर है; परन्तु इस शान्ति का आधार होना चाहिए स्वतन्त्रता और मित्रता। आज भारत का प्रतिनिधित्व एक ऐसा नेता कर रहा है, जिसमें जाति-द्वेष अथवा वैयक्तिक ईर्ष्या का लेश भी नहीं है; जिसका बल-प्रयोग में विश्वास नहीं है और जो अपने देशवासियों को भी बल-प्रयोग का आश्रय लेने से रोकता है। वह भारत को 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' से पृथक् नहीं करना चाहता, बशर्ते कि यह स्वतंत्र राष्ट्रों का सहयोग और संबंध हो। सम्राट् ने २० मई को कनेडियन पार्लमेण्ट के अपने भाषण में कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य की एकता "आज ऐसे राष्ट्रों के स्वतन्त्र सहयोग द्वारा प्रकट हो रही है जो शासन के समान सिद्धान्तों का उपभोग कर रहे हैं और जिनको शान्ति तथा स्वतन्त्रता के आदर्शों से समान प्रेम है और जो समान राज-भक्ति द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं।" गांधीजी इन शासन के सर्वनिष्ठ सिद्धान्तों को भारत पर भी लागू कराना चाहते हैं। उनका

दावा है कि भारतीयों को अपने घर का मालिक आप होना चाहिए। यह बात न तर्क-विरुद्ध है, न नीति-विरुद्ध। वह दोनों कैम्पों में, सदाभिलाषी पुरुषों के-से सहयोग द्वारा, सुन्दरतम सम्बन्ध स्थापित करके तीव्र अभिलाषी हैं।

यह खेद की बात है कि उनकी अपील का असर हवा की सांय-सांय से ज्यादा नहीं हो रहा। बरसों के अथक श्रम और वीरता-पूर्ण संघर्ष के पश्चात् भी उनका महान् उद्देश्य अपूर्ण ही पड़ा है, परन्तु उनका विश्वास और विचार अब भी जीवित है। स्वयं मैं तो यही आशा करूँगा कि ब्रिटिश लोकमत अपनी बात मनवायेगा और ब्रिटिश सरकार को मजबूर करेगा कि वह, बिना किसी सौदे या टालमटोल के, बिना हिचक या देरी किये, विश्वास भरे स्पष्ट उत्तम संकेत के साथ, कुछ जोखिम उठाकर भी एक अबाध स्व-शासित भारत की स्थापना करे; क्योंकि मेरा खयाल है कि यदि वह काम गांधीजी की न्याय तथा ईमानदारी की अपील के जबाब में न किया गया तो हम दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध और भी कटु हो जायंगे, खाई चौड़ी हो जायगी और यह पारस्परिक कटुता बढ़कर दोनों के लिए ही खतरा व रुकावट पैदा कर देगी।

गांधीजी की आलोचना और आरोप का लक्ष्य चाहे दक्षिण अफ्रीका की सरकार हो चाहे ब्रिटिश सरकार; चाहे भारतीय मिल-मालिक हों चाहे हिन्दू पुरोहित, और चाहे भारतीय राजा हों, इन सब विभिन्न कार्रवाइयों में उनकी आधार-भूत भावना एक ही रहती है। "इन लाखों-करोड़ों गूँगों के हृदयों में जो ईश्वर विराजमान है, मैं उसके सिवा अन्य किसी ईश्वर को नहीं मानता। वे उसकी सत्ता को नहीं जानते; मैं जानता हूँ। और मैं इन लाखों-करोड़ों की सेवा द्वारा उस ईश्वर की पूजा करता हूँ जो सत्य है अथवा उस सत्य का जो ईश्वर है।"[१]

'अहिंसा परमो धर्मः' यह महाभारत का वाक्य सर्व-विदित है। जिन्दगी में इसका अमली इस्तेमाल ही सत्याग्रह या आत्मशक्ति है। इसका आधार यह कल्पना है कि 'संसार सत्य की सुदृढ़ नींव पर ठहरा हुआ है।' असत्य का अर्थ असत् अर्थात् अभाव (न रहना) भी है और सत्य का अर्थ है सत्, भाव, जो है। जब असत्य का भाव यानी हस्ती ही नहीं तब उसकी विजय

---

[१] **'हरिजन' ; ११ मार्च १९३९.**

का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता। और सत्य का तो अर्थ ही है वह 'जो है' (जिसकी हस्ती है) इसलिए उसका नाश नहीं हो सकता[1]—**"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"** ईश्वर एकत्र सचाई है। स्वातन्त्र्य और प्रेम की इच्छा सचाई अर्थात् वास्तविकता के अनुकूल है। जब मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए इस इच्छा का निषेध कर देता है तब वह अपने 'स्व' का ही निषेध करता है। इस निष्फल कार्य द्वारा वह स्वयं वास्तविकता के विरोध में अपने को खड़ा करता है, उससे पृथक् होकर अपने आपको अकेला कर लेता है। इस निषेध का अभिप्राय है मनुष्य का अपने से ही विरुद्ध हो जाना, अपने विषय में ही सत्य से इन्कार कर देना। परन्तु यह काम निर्णयात्मक या अन्तिम नहीं हो सकता। इससे वास्तविक इच्छा-शक्ति का विनाश नहीं हो सकता। वास्तविकता अपना खंडन आप नहीं कर सकती। "नरक का द्वार सदा खुला नहीं रहेगा।" ईश्वर की पराजय नहीं हो सकती। विनम्र लोग इस भूमि के स्वामी बनेंगे, वे बलवान नहीं जो अपने बचाव करने के प्रयत्न में अपना ही विनाश करने लगते हैं, क्योंकि उन लोगों का विश्वास धन-दौलत और घातक शस्त्रास्त्रों जैसी अनात्मिक अथवा अवास्तविक वस्तुओं में है। अन्ततोगत्वा, मानवजाति पर वे शासन नहीं करते जिनका विश्वास निषेध, घृणा और हिंसा में होता है, प्रत्युत वे करते हैं जिनका विश्वास समझदारी, प्रेम और आन्तरिक तथा बाह्य शान्ति में होता है।

सत्याग्रह की जड़ वास्तविकता की शक्ति में, आत्मा के आंतरिक बल में, जमी हुई है। सत्याग्रह में हिंसा से केवल बचते रहने का निष्क्रिय धर्म ही नहीं; बल्कि भलाई करने का सक्रिय धर्म भी है। "यदि मैं अपने विरोधी को मारूँ तो वह तो हिंसा है ही; परन्तु सच्चा अहिंसक बनने के लिए मुझे उससे प्रेम करना चाहिए और वह मुझे मारे तो भी उसके लिए प्रार्थना करनी चाहिए।" प्रेम एकता है। इसकी बुराई से टक्कर होती रहती है, जिसके विभिन्न रूप पृथकता, लिप्सा, घृणा, मार-पीट और हत्या हैं। प्रेम बुराई से, अन्याय से, अत्याचार से अथवा शोषण से मेल नहीं कर सकता। यह बुराई के प्रश्न को टालता नहीं; बल्कि निडरता से बुराई करनेवाले का सामना करता और उसकी बुराई को प्रेम तथा सहनशीलता की प्रबल शक्ति से रोकता है, क्योंकि शक्ति द्वारा लड़ना मानवीय प्रकृति के विरुद्ध है। हमारे झगड़े तो समझदारी, नेकनीयती, प्रेम और सेवा के मानवोचित उपायों द्वारा हल होने

---

[1] **'महात्मा गांधी—हिज ओन स्टोरी' ; पृष्ठ २२५**

चाहिये। इस गोलमाल दुनिया में बचाव की एकमात्र वस्तु है मनुष्य बनने का महान् प्रयास। नित्य के विनाश या मृत्यु में से जीवन सदैव प्रस्फुटित होता ही रहता हैं। इस समस्त भय तथा शोक के होते हुए भी, मानवता का व्यवहार, किसान और जुलाहा, कलाकार और दार्शनिक, कुंज में बैठा फकीर और रसायनशाला में बैठा वैज्ञानिक, युवक और वृद्ध सब करते हैं, जब कि वे प्रेम करते और कष्ट उठाते हैं। जीवन विशाल है—**'प्राणो विराट'**।

शक्ति-प्रयोग के समर्थक डारविन साहब की जीवन-संघर्ष सम्बन्धी कल्पना का हवाला एक भद्दे तरीके पर देते हैं। वे पशु-जगत् के मौलिक-भेद की उपेक्षा करके पशु-जीवन के सामान्य सिद्धान्तों को मानव-जीवन के अन्तिम सिद्धान्तों की महत्ता तक पहुँचाते हैं। यदि हिंसा द्वारा निरोध का व्यवहार उस जगत् में भी ठीक माना जाने लगेगा जिससे इसका सम्बन्ध नहीं तो मानव-जीवन के भी नीचे उतर कर पशु-जगत् की सतह पर पहुँचने की आशंका हो जायगी। महाभारत में परस्पर लड़ते हुए मनुष्य की तुलना कुत्तों से की गई है। "पहले वे पूंछ हिलाते हैं, फिर भौंकते हैं जवाब में विरोधी कुत्ते भौंकते हैं, फिर एक-दूसरे के चारों तरफ घूमते हैं, फिर दाँत दिखाते हैं, फिर गुर्राते हैं और फिर लड़ाई शुरू हो जाती है। मनुष्यों की भी यही अवस्था है, भेद कुछ नहीं।"[१] गांधीजी कहते हैं कि लड़ना-झगड़ना कुत्तों और बन्दरों के लिए छोड़कर परस्पर मनुष्यों की भाँति बर्ताव करो और चुपचाप कष्ट सहकर सत्य व न्याय की प्रतिष्ठा करो। प्रेम और सहनशीलता शत्रु को जीत लेते हैं—परन्तु उसका विनाश करके नहीं, उसको बदल कर—क्योंकि आखिर उसके हृदय में भी तो हम सरीखे ही राग-द्वेष आदि के भाव हैं। गांधीजी के पश्चात्ताप तथा आत्म-ताड़न के कार्य नैतिक साहस, प्रायश्चित्त और त्याग से परिपूर्ण हैं।

प्रेम-प्रणाली का प्रयोग अबतक कहीं-कहीं कुछ व्यक्तियों ने निजी जीवन में ही करके देखा था। परन्तु गांधीजी की परम सफलता यह है कि उन्होंने इसे सामाजिक तथा राजनैतिक मुक्ति की योजना बनाकर दिखा दिया है। उनके नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका और भारत में संगठित समुदायों ने इसे अपनी शिकायतें दूर करने के लिए बड़े पैमाने पर प्रयोग में लाकर देखा है। राजनैतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए शारीरिक हिंसा का सर्वथा परित्याग करके, राजनैतिक क्रान्ति के इतिहास में उन्होंने

---

[१] **एवमेव मनुष्येषु विशेषो नास्ति कश्चन।**

इस नई योजना का विकास करके दिखाया है। यह योजना या विधि भारत की आध्यात्मिक परम्परा को हानि नहीं पहुँचाती, बल्कि उसीमें से जन्मी है।

इसने निष्क्रिय प्रतिरोध, अहिंसात्मक असहयोग और सविनय आज्ञा-भंग के विविध रूप धारण किये हैं। इन सबका आधार बुराई से घृणा, परन्तु बुराई करने वाले से प्रेम रहा है। सत्याग्रही अपने विरोधी से सदा वीरोचित बर्ताव करता है। कानून का भंग सदा सविनय होता है और सविनय का अर्थ केवल उस अवसर पर ऊपर से मीठा बोलना नहीं; बल्कि आन्तरिक मृदुता और मधुरता और विरोधी का भी भला करने की इच्छा है। अपने सब आंदोलनों में जब कभी गांधीजी ने शत्रु को कष्ट में देखा, वह उसकी सहायता को दौड़े गये। शत्रु की कठिनाई से फायदा उठाने के सब प्रयत्नों की वह निन्दा करते हैं। यूरोप में ब्रिटेन को कठिनाई में फंसा हुआ देखकर हमें उससे सौदा नहीं करना चाहिए। गत महायुद्ध के समय उन्होंने भारत के वाइसराय को लिखा था—"यदि मैं अपने देशवासियों से कदम वापस करा सकता तो उनसे कांग्रेस के सब प्रस्ताव वापस करवा लेता और महायुद्ध जारी रहने तक किसी को 'होम रूल' या 'उत्तरदायी शासन' का नाम भी न लेने देता।" जनरल स्मट्स तक गांधीजी के उपायों की ओर आकृष्ट हुए थे और उनके एक सेक्रेटरी ने गांधीजी से कहा था—"मैं आपके देशवासियों को नहीं चाहता और मैं उन्हें मदद भी बिलकुल नहीं देना चाहता। परन्तु मैं क्या करूँ? आप हमारी जरूरत में हमारी मदद करते हैं। आप पर हम हाथ कैसे उठावें? मैं बहुधा चाहता हूँ कि आपने भी अंग्रेज हड़तालियों की भाँति हिंसा का सहारा लिया होता और तब हम आपको देख लेते। परन्तु आप तो शत्रु को भी हानि नहीं पहुँचाते। आप तो स्वयं कष्ट सहकर ही जीतना चाहते हैं और भद्रता तथा शौर्य की लगाई हुई पाबन्दियों से बाहर कभी नहीं जाते और इसीके कारण हम एकदम असहाय हो जाते हैं।"[१]

युद्धों की समाप्ति के लिए लड़े गये महायुद्ध के बीस वर्ष पश्चात् आज फिर करोड़ों आदमी हथियार बाँधे हुए हैं और शान्ति-काल[२] में भी सैन्य-संग्रह जारी है, जहाजी बेड़े समुद्र को नाप रहे हैं और वायुयान आकाश में एकत्र हो रहे हैं। हम जानते हैं कि युद्ध से समस्याओं का हल नहीं होता; बल्कि उनका हल कठिनतर हो जाता है। युद्ध के पक्ष-विपक्ष के युक्ति-जाल से अनेक ईसाई स्त्री-पुरुष असमंजस में

---

[१] **'महात्मा गांधी—हिज ओन स्टोरी'; पृष्ठ २४०.**

[२] **ये पंक्तियां यूरोप में युद्ध छिड़ने से पहले लिखी गई थीं।—अनु०**

पड़ रहे हैं। शान्तिवादी पुकार रहे हैं कि युद्ध एक ऐसा अपराध है जो मानवता को अपमानित करता है और बर्बरता के हथियारों से सभ्यता की रक्षा करने का न्यायतः समर्थन नहीं किया जा सकता। जिन स्त्री-पुरुषों से हमारा कुछ झगड़ा नहीं उन्हें कष्ट में डालने का हमें कोई अधिकार नहीं। युद्ध में पड़ा हुआ राष्ट्र शत्रु की पराजय तथा विनाश करने के भयंकर संकल्प से अनुप्राणित होता है। वह भय और घृणा के प्रवाह में बह जाता है। बसे हुए नगर पर मृत्यु या विनाश की वर्षा हम प्रेम और क्षमा से प्रेरित होकर नहीं कर सकते। युद्ध का सारा तरीका शैतान को शैतान से सजा दिलाने का है। यह ईसामसीह के हृदय, उसकी नैतिक शिक्षा और आदर्श के विरुद्ध है। हनन और ईसाइयत में हम मेल नहीं कर सकते।

युद्ध के हिमायती कहते हैं कि यद्यपि युद्ध एक भयानक बुराई है, परन्तु कभी-कभी यह दो बुराइयों में कम बुरी बुराई हो जाती है। सब वस्तुओं के तुलनात्मक मूल्य को ठीक-ठीक समझ लेना ही व्यवहार-बुद्धि कहलाती है। हमारी जिम्मेदारी समाज और उसके प्रतिनिधि-रूप राष्ट्र दोनों के प्रति है। और फिर राष्ट्र समाज का ही तो अंग है। जान-माल की रक्षा, शिक्षा और अन्य लाभ हम समाज का सदस्य होने के नाते ही उठाते हैं और इनसे हमारे जीवन का मूल्य तथा सुख बढ़ता है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि जब राष्ट्र पर आक्रमण हो तब हम उसकी रक्षा करें, हमारी विरासत पर जोखिम आए तो उसे कायम रखें।

जिन लोगों से हमारा कोई बैर नहीं उन्हें काटने, मारने, घायल और नष्ट करने को जब हमसे कहा जाता है तब हमारे सामने इसी प्रकार की दलीलें पेश की जाती हैं। नाजी जर्मनी कहता है कि मनुष्य का प्रथम कर्तव्य अपने राष्ट्र की सदस्यता है और राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति में ही उसकी वास्तविकता, भलाई तथा सच्ची स्वतंत्रता है। राष्ट्र को अधिकार है कि वह अपने बड़प्पन के सामने व्यक्तियों के सुख को गौण समझ ले। युद्ध का गुण यह है कि मनुष्य अपनी निर्बलता के होते हुए वैयक्तिक स्वतन्त्रता की जो इच्छा करने लगता है, उसे वह नष्ट कर देता है। फासिस्ट पार्टी की स्थापना के बीसवें वार्षिकोत्सव पर अपने भाषण में मुसोलिनी ने कहा था—"आज की परम्परा तो यही है कि किसी भी खर्च पर किसी भी उपाय से, जिसे नागरिक जीवन कहा जाता है उसे बिलकुल मिटाकर भी, अधिकाधिक जहाज, अधिकाधिक बन्दूकें और अधिकाधिक वायुयान एकत्र किये जायं।" "पूर्वेतिहासिक काल से सदियों से आज तक यही पुकार चली आ रही है, 'बेहथियारों का बुरा हो'।"

"हम चाहते हैं कि आगे भाईचारे, बहनचारे, भतीजा-भानजाचारे और उनके नकली माँ-बापचारे की कोई बातें सुनाई न दें, क्योंकि राष्ट्रों के आपसी सम्बन्ध बल तथा शक्ति के सम्बन्ध होते हैं और बल तथा शक्ति के सम्बन्ध ही हमारी नीति के निर्धारक हैं।" मुसोलिनी ने और भी कहा था, "यदि समस्या का हल नैतिक दावे के आधार पर किया गया तो पहला वार करने का अधिकार किसी को भी नहीं रहेगा।" साम्राज्यों का निर्माण ताश के खेल-सा है। कुछ शक्तियों को अच्छे पत्ते मिल जाते हैं और वे ऐसे ढंग से खेलती हैं कि दूसरों का कहीं ठिकाना तक नही रहता। सारा नफा अपनी जेब में भर लेने के बाद वे मुंह फेर कर कहती हैं कि जुआ खेलना बुरा है और ताज्जुब जाहिर करती हैं कि दूसरे लोग अब भी वही खेल खेलना चाहते हैं। ऊपर की पंक्तियों से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि जाति, शक्ति और सशस्त्र सेनाओं की पूजा केवल मध्य यूरोप में ही होती है।

२० मार्च, १६३६ को ब्रिटिश लार्ड-सभा में भाषण करते हुए कैण्टरबरी के आर्चबिशप ने 'न्याय की ओर शक्ति का संग्रह' करने की वकालत की। उनकी दलील थी कि "हमें यह इस कारण करना पड़ रहा है कि हमें निश्चय हो गया है कि कुछ वस्तुएँ शांति से भी अधिक पवित्र हैं और उनकी रक्षा होनी चाहिए।... मैं नहीं समझता कि जिन वस्तुओं का मूल्य मानव-सुख तथा सभ्यता के लिए इतना अधिक है उनकी यदि कुछ राष्ट्र रक्षा करेंगे तो उनका यह काम ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध होगा।" गांधीजी ऐसे दुर्लभतम धार्मिक पुरूष हैं जो जोशीले देशभक्तों की सभा में खड़े होकर भी कह सकते हैं कि, यदि आवश्यकता हुई तो, मैं सत्य पर भारत को भी निछावर कर दूंगा। गांधीजी कहते हैं, "मैं जितने धार्मिक पुरुषों से मिला हूं, उनमें से अधिकतर को मैंने छद्मवेश में राजनीतिज्ञ ही पाया। परन्तु मैं राजनीतिज्ञ का वेश धारण करके भी हृदय से धार्मिक व्यक्ति हूँ।"

धार्मिक पुरुष का लक्ष्य अपने आदर्श को व्यावहारिक मांग तक उतार देना नहीं, बल्कि व्यवहार को आदर्श के नमूने तक चढ़ा देना होता है। हमारी देश-भक्ति ने मानव-परिवार की आध्यात्मिक एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अपनी वृहत् मानव-समाज-भक्ति की रक्षा हम युद्ध में पड़ने से इन्कार करके और अपनी राष्ट्र-भक्ति की रक्षा हम धार्मिक तथा मानुषिक उपायों से करना चाहते हैं। कम-से-कम धार्मिक व्यक्तियों को, ईसाई 'अपोस्टलों'[1] की भांति, "मनुष्यों

---

[1] ईसाइयत के बाहर खास धर्म-प्रचारक जो ईसामसीह के शिष्य थे।

के स्थान पर ईश्वर का आज्ञाकारी होना चाहिए।" हमारी दिक्कत यह है कि सब देशों में समाज का नियंत्रण ऐसे व्यक्तियों के हाथ में है जो युद्ध को अपनी नीति का साधन मानते हैं और उन्नति का विचार दिग्विजय के ही शब्दों में करते हैं।

आदमी यदि मनहूस ही न हो तो वह नम्रता और दया दिखा करके प्रसन्न होता है। निर्माण में सुख और विनाश में दुख है। साधारण सिपाहियों को अपने शत्रुओं से घृणा नहीं होती, परन्तु शासक-वर्ग उनके भय, स्वार्थ और अभिमान के नाम पर अपीलें कर-करके उन्हें मनुष्यता के मार्ग से भ्रष्ट कर देता है। जिन मनुष्यों में बहिष्कार, घृणा और क्रोध के भाव उत्पन्न कर दिये जाते हैं, वे एक-दूसरे से लड़ पड़ते हैं, क्योंकि वे आज्ञा-पालन करना सीखे हुए हैं। परन्तु तब भी वे अपने हनन-कार्य में घृणा और द्वेष को नहीं ला सकते। जिस काम से वे नफरत करते हैं, वह भी उन्हें अनुशासन के कारण करना पड़ता है। अन्तिम जिम्मेदारी तो सरकार पर रहती है, जिसमें दया, तरस और संतोष नहीं होता। वह सीधे-सादे आदमियों को कैद करती है और उनकी मानवता को तिरस्कृत करती है। जो अन्यथा उत्पादन का कार्य करके प्रसन्न होते उन्हींको विनाशकारी जल, स्थल और वायु-सेनाओं में संघटित किया जाता है। हम हत्या-काण्ड की प्रशंसा करते हैं और दया को लज्जा की वस्तु मानते हैं। हम सत्य की शिक्षा का निषेध करते हैं और असत्य के प्रसार की आज्ञा देते हैं। हम अपनों और परायों दोनों के सौंदर्य, सुख-समृद्धि और प्राणों का अपहरण करते हैं और अपने-आपको सामूहिक कत्लों और आध्यात्मिक मृत्यु का जिम्मेदार बना लेते हैं।

जबतक सब राष्ट्र एक-दूसरे से स्वतन्त्रता और मित्रता का व्यवहार न करेंगे और जबतक हम संगठित और समन्वित सामाजिक जीवन की नई धारणा को विकसित न करेंगे तबतक हमको शान्ति नहीं मिलेगी। इस लोक के मानव-समाज और सभ्यता का भविष्य आत्म", स्वतन्त्रता, न्याय और मनुष्य-प्रेम की उन गहरी विश्व-भावनाओं के साथ बँधा हुआ है जो गांधीजी का जीवन-प्राण बन चुकी है। हिंसा और द्वेष से पूर्ण इस संसार में गांधीजी की अहिंसा इतने मनोहर स्वप्न-सी प्रतीत होती है कि जिसके कार्यान्वित होने का विश्वास नहीं होता। लेकिन उनके लिए तो ईश्वर सत्य और प्रेम ही है। और ईश्वर चाहता है कि हम नतीजे की परवा न करके सत्य और प्रेम के अनुयायी बनें। सच्चा धार्मिक पुरुष सत्य की खोज ऐसी ही तत्परता से करता है जैसे कि चतुर व्यापारी अपने लाभ-हानि की। वह अपने

प्यारे-से-प्यारे वैयक्तिक, जातीय और राष्ट्रीय हितों को निछावर करके भी यह खोज करता ही है। जो व्यक्ति अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक स्वार्थों का सर्वथा परित्याग कर चुके हैं, उन्हींमें यह कहने का बल और साहस हो सकता है कि "मेरे स्वार्थों की हानि भले ही हो, परन्तु ईश्वर की इच्छा पूर्ण हो।" गांधीजी इस सम्भावना को भी स्वीकार नहीं करते कि ईश्वर, सत्य और न्याय के प्रेम से कभी किसी की हानि हो सकती है। उनको निश्चय है कि संसार के विजेता और शोषणकर्ता अन्ततोगत्वा नैतिक नियमों की चट्टान से टकराकर स्वयं नष्ट हो जायंगे। नीति-हीन होने में भी रक्षा नहीं, क्योंकि बल की इच्छा ही आत्म-पराजयकारिणी है। जब हम 'राष्ट्रीय हित' की बात करते हैं तब हम यह कल्पना कर लेते हैं कि कुछ भू-भाग अपने कब्जे में रखने का हमारा अखण्डनीय और स्थायी अधिकार है। और 'सभ्यता'! संसार कई सभ्यताओं को युगों की धूल के नीचे दबते देख चुका है और उनके द्वारा निर्मित हुए नगरों की जगह जंगल खड़े हो चुके हैं और वहाँ चाँदनी रात में सियार हूकते हैं।

धार्मिक पुरुष के लिए सभ्यता और राष्ट्र-हित के विचार अप्रासंगिक हैं। प्रेम कोई नीति या हिसाब का विषय नहीं है। जो लोग निराश हो चुके हैं कि वर्तमान संसार की हिंसा को रोकने का बचकर भाग निकलने या नष्ट हो जाने के सिवाय कोई उपाय नहीं, उनसे गांधीजी कहते हैं कि एक उपाय है और वह हम सबकी पहुँच में है। वह है प्रेम का सिद्धान्त, जो कि अनेक अत्याचारों में भी मनुष्य की आत्मा की रक्षा करता आया है और अब भी कर रहा है। उनका सत्याग्रह चाहे पशु-शक्ति के विशाल प्रदर्शनों की तुलना में प्रभावहीन जँचे, परन्तु शक्ति से भी अधिक विशाल एक वस्तु है, वह है मनुष्य की अमर आत्मा, जो कि विशाल संख्याओं या ऊँची आवाजों से नहीं दबती। यह उन सब बेड़ियों को टूक-टूक कर देगी जिनमें अत्याचारी इसे जकड़ना चाहेंगे। गत मार्च के संकट-काल में 'न्यूयार्क टाइम्स' के एक संवाददाता ने जब गांधीजी से संसार के लिए सन्देश माँगा, तब उन्होंने सब प्रजातन्त्र शक्तियों को एकदम निःशस्त्र हो जाने की सलाह दी थी और उसे ही एकमात्र हल बतलाया था। उन्होंने कहा था, "मुझे यहाँ बैठे-बैठे ही निश्चय है कि इससे हिटलर की आँखें खुल जायँगी और वह आप निःशस्त्र हो जायगा।" संवाददाता ने पूछा, "क्या यह चमत्कार नहीं होगा?" गांधीजी ने जवाब दिया, "शायद! परन्तु इससे संसार की उस कत्लेआम से रक्षा हो जायगी जो अब सामने दीख रहा है।....कठोरतम धातु काफी आँच से नरम हो जाती है; इसी प्रकार कठोरतम

हृदय भी अहिंसा की पर्याप्त आँच लगने से पिघल जाना चाहिए। और अहिंसा कितनी आँच पैदा कर सकती है इसकी कोई सीमा नहीं . . . अपने आधी शताब्दी के अनुभव में मेरे सामने एक भी परिस्थिति ऐसी नहीं आई जब मुझे यह कहना पड़ा हो कि मैं असहाय हूँ और मेरी अहिंसा निरुपाय हो गई।" प्रेम मनुष्य-जीवन का नियम है, उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है। हम ऐसी अवस्था के नजदीक पहुँच रहे हैं जब यह आवश्यकता और भी स्पष्ट हो जायगी, क्योंकि यदि मनुष्य इस नियम से बचेंगे और इसकी अवहेलना और उल्लंघन करेंगे तो मनुष्य-जीवन ही असम्भव हो जायगा। हमें लड़ाइयों का सामना इसलिए करना पड़ता है कि हमारा जीवन इतना निःस्वार्थ नहीं हुआ कि जिसे युद्धों की आवश्यकता ही न हो। शान्ति का युद्ध तो मनुष्य के हृदय में ही लड़ा जाना चाहिए। उसकी आत्मा अहंकार-बल, स्वार्थ, लालसा और भय को पराजित करने में समर्थ होनी चाहिए। एक नई प्रकार की जीवन-प्रणाली पर राष्ट्रीय जीवन तथा विश्व-व्यवस्था की नींव पड़नी चाहिए। यह जीवन प्रणाली ऐसी हो जो सब वर्गों, जातियों और राष्ट्रों के सच्चे हितों की वृद्धि, उन्नति और रक्षा करे। जिन मनुष्यो ने अपने आपको अविद्या की अन्धकारपूर्ण और स्वार्थमयी भावना की पराधीनता से स्वतन्त्र कर लिया है, वे ही शान्ति की स्थापना और रक्षा में समर्थ हो सकते हैं। शान्ति है जीवन में एक सक्रिय प्रदर्शन और कुछ विश्व-व्यापी सिद्धान्तों और आदर्शों का आचरण। हमें इनकी रक्षा के लिए ऐसे हथियारों से लड़ना चाहिए जिनसे नैतिक गुणों का पतन और मानव-प्राणो का विनाश न हो। इस प्रयत्न में हमें जो भी कष्ट हमारे मार्ग में आयें उन सबको सहने के लिए तैयार रहना चाहिए।

मैंने संसार के विभिन्न भागों की अपनी यात्राओं में देखा है कि गांधीजी की ख्याति बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञों और राष्ट्रों के नेताओं से भी अधिक विश्व-व्यापी है और उनके व्यक्तित्व को किसी भी एक अथवा अन्य सबकी अपेक्षा, अधिक प्रेम और आदर की दृष्टि से देखा जाता है। उनका नाम इतना सर्व-परिचित है कि शायद ही कोई किसान या मजदूर ऐसा होगा, जो उनको मनुष्य-मात्र का मित्र न समझता हो। लोग ऐसा समझते प्रतीत होते है कि गांधीजी सुवर्ण-युग का पुनरुद्धार करेंगे, परन्तु हम उसको (युग को) इस प्रकार बुला नहीं सकते, जिस प्रकार रास्ते चलती किराये की गाड़ी को बुला लेते हैं; क्योंकि हम किसी राष्ट्र की अपेक्षा भी अधिक बलवान और किसी पराजय की अपेक्षा भी अधिक अपमानकारक एक वस्तु के अधीन हैं और वह है अज्ञान। यद्यपि हमको सब शक्तियाँ जीवन के लिए दी गई

हैं, परन्तु हमने भ्रष्ट बनकर उनको मृत्यु के लिए प्रयुक्त हो जाने दिया है। यद्यपि मनुष्य-जाति की उत्पत्ति से ही यह स्पष्ट है कि वह सुख की अधिकारिणी है; परन्तु हमने उस अधिकार की उपेक्षा की है और अपनी शक्ति का प्रयोग ऐसे धन और बल के संग्रह के लिए होने दिया है, जिसके द्वारा बहुतों का सुख कुछेक के संशयात्मक सन्तोष पर निछावर कर दिया जाता है। जिस भूल के आप और मैं शिकार हैं, सारा संसार भी उसीका गुलाम है। हमें धन और बल की प्राप्ति के लिए नहीं, प्रत्युत प्रेम और मानवता की स्थापना के लिए प्रयत्न करना चाहिए। भूल से मुक्त होना ही एकमात्र सच्ची स्वतन्त्रता है।

गांधीजी बंधन-मुक्त जीवन के मन्त्र-दाता हैं। उनकी असाधारण धार्मिक पवित्रता और वीरोचित तेज का कोटि-कोटि मनुष्यों पर गहरा प्रभाव है। ऐसे कुछ लोग सदा मिलेंगे जो ऐसे पावन-जीवन के दुर्लभ उदाहरणों से वह शक्ति पायेंगे और उनमें सत्य की वह झाँकी देखेंगे जो उन साधारण साधुतामय जीवन, रूढ़ नैतिकता या अस्पष्ट कला, विचारों और भावों में नहीं मिलती, जिनको आधुनिक काल के बहुत से उपदेष्टा प्रस्तुत किया करते हैं। सच्चे रहो और सरल; हृदय में निर्मल और आर्द्र; दुःख में प्रसन्न और आतंक के आगे स्थिर-बुद्धि और चिरतुष्ट; जीवन में प्रीति रखो और मृत्यु के प्रति अभय; सनातन आत्मा की सेवा में समर्पित होओ और गतात्माओं के भार से निरातंक रहो—सृष्टि के आदि से दी गई और कौन शिक्षा है जो इस शिक्षा से बढ़कर है? अथवा कहाँ दूसरा उदाहरण है जब उस शिक्षा का अधिक तत्परता से पालन हुआ है?

: २ :

महात्मा गांधी : वे क्या हैं ?

होरेस जी० एलेक्जेण्डर

किसी बड़े आदमी के जीवन-काल मे उसका ठीक मूल्याकन करना सुगम नही है। और अगर आपका उससे व्यक्तिगत परिचय है, तब तो वह और भी कठिन है, क्योंकि सही-सही दृष्टिकोण से एक आदमी को देखने के लिए आपको उससे थोडा दूर रहना चाहिए। गांधीजी से थोड़ा भी दूर मै नही होना चाहता। जबतक वह जीवित है तबतक मेरे लिए तो यही प्रयत्न करना सर्वोत्तम है कि प्रत्येक सप्ताह उनके पत्र 'हरिजन' से उनके विचार को समझू और अधिक-से-अधिक उनके निकट रहूँ।

फिर भी, उनके विषय मे दुनिया जो प्रश्न पूछती है, उनका सामना करना और उनका उत्तर देने का जब-तब प्रयत्न करना बहुत ही आवश्यक है। मै समझता हूँ इस पुस्तक का एक खास उद्देश्य यह दिखलाना है कि गांधीजी ने अपने समकालीनों पर कैसा प्रभाव डाला है।

इसलिए थोड़े में अपनी कठिनाई प्रकट करके मै यह बताने का प्रयत्न करूँगा कि वर्तमान संसार-व्यवस्था मे मै उन्हे किस प्रकार देखता हूँ।

हमारे युग में बहुत-से देशों मे और विभिन्न रूपों मे अपने अधिकारो से वंचित लोगों के विद्रोह हुए है। ट्रेड-यूनियन-आंदोलन और नाना प्रकार के समाजवाद ने समस्त पश्चिम में औद्योगिक मजदूरों के अधिकारो की घोषणा की है। सम्भवतः अंतर्राष्ट्रीय मजदूर-संगठन इस हलचल की पहली पराकाष्ठा है; लेकिन रूस में वह और भी आगे बढ़ गया है। वहाँ औद्योगिक मजदूर अब मामूली आदमी नहीं है। आपने यदि उसके साथ कठोर व्यवहार किया तो यह न समझिए कि वह आपको अधिक-से-अधिक काट भर खायगा। उसे विशेष अधिकार का स्थान दिया गया है। अंतर्राष्ट्रीय मजदूर-संगठन या सोवियत, मजदूरों को, कार्य-भार से लदे दुकानदारों, दीन किसानों, मछुओं और दूसरों को बिलकुल भूलते हों सो नही: लेकिन जो कुछ इनके लिए किया गया है वह कुछ हद तक बाद के विचार का परिणाम है।

जर्मनी में कोई बड़ी क्रान्ति पैदा करनेवाले कट्टर समाजवादी लोग या औद्योगिक मजदूर नहीं है वहाँ एक और दल था; उसमें ऊँचे दरजे की धूर्तता थी

और शायद उसे भले-बुरे की भी इतनी परवाह न थी; उसने ऐसा ढंग ढूंढ़ निकाला, जिससे समाज के एक-दूसरे बड़े अंग (मध्यम वर्ग) का सहयोग उसे मिल जाय। मध्यम वर्ग के लोग भी हताश हो चुके थे; कीमतें बढ़ जाने से उनकी बची-खुची कमाई हवा हो चुकी थी और वे लौकिक तथा पारलौकिक दोनों शक्तियों के बीच पिस रहे थे। अगर कोई ऐसा वर्ग था जिसने दूसरों की अपेक्षा अधिक हिटलर की जीत कराई तो वह यही मध्यम वर्ग था जिसे कार्ल मार्क्स के अनुयायी बहुधा भूल जाते हैं और घृणा करते हैं।

लेकिन भारत से गांधीजी इन पश्चिमी क्रान्तियों को चुनौती देते हैं। औद्योगिक मजदूर, मध्यम वर्ग, बुद्धिवादी, सम्पत्तिवान्, ये सब दल जो शक्ति के लिए पश्चिम में होड़ लगा रहे हैं, इस बुनियादी बात को भूल जाते हैं कि आदमी का पेट तो भरना ही चाहिए। मशीनों को वह नहीं खा सकता, व्यापार को वह नहीं खा सकता। स्कूल की किताबों को भी वह नहीं खा सकता, न डिवीडेंडों (मुनाफों) को ही खा सकता है। इन सब चीजों के बिना भी आदमी जीवित रह सकता है। लेकिन वह रोजाना रोटी या चावल पाये बिना जीवित नहीं रह सकता। और अपने दैनिक भोजन के लिए जिसे सभ्य और शहरी, आदमी साधारण बात समझते हैं, उसे अन्त में हिन्दुस्तान, चीन, पूर्वी यूरोप, कनाडा, अर्जेण्टाइन, ट्रोपीकल, अफ्रीका के लाखों बेजबान और अधभूखे किसानों पर निर्भर रहना पड़ता है। किसान इन तमाम देशों में प्रत्येक वर्ष उस अन्न को पैदा करने के लिए, जिससे लोग जीवित रहते हैं, धूप, हवा और मेह का उपयोग करने के लिए (जो कितनी बार बहुधा उसे धोखा देते हैं) कितना हाथ-पैर पीटता है! हजारों वर्षों में, पुश्त-दर-पुश्त वे इसी तरह रहते आ रहे हैं। युद्ध और क्रान्तियाँ उनके परिश्रम के फल को थोड़े समय के लिए नष्ट करती हुई गुजर गई हैं, सूखा और बाढ़ उन्हें नष्ट करते रहे हैं। अन्त में अब उन्हें एक सहारा मिला है; वह है महात्मा गांधी।

भारतवर्ष के करोड़ों आदमियों में ऐसा शायद ही कोई आदमी मिलेगा जो गांधीजी का नाम न जाने। पहाड़ी जातियाँ और मूल-निवासी तक गरीबों के इस मित्र और रक्षक को जानते हैं और उससे प्रेम करते हैं।

यद्यपि उन्होंने वकील का शिक्षण प्राप्त किया था, फिर भी वह पुनः किसान बन गये हैं; किसान के मामूली कपड़े पहन कर और एक कोने में पड़े और पिछड़े हुए, ऐसे गँवार और रूढ़ि-पसन्द गाँव में रहकर कि जिसे खुद महात्मा के प्रयत्न करने पर भी स्वयं साफ-सथरा और आधुनिक ढंग का बनना पसन्द नहीं है, अपने

बाहरी जीवन में ही नहीं, बल्कि इससे भी बढ़कर अपने हृदय और मस्तिष्क से भी वह किसान बन गये हैं। वह संसार को एक किसान, चतुर, बेलिहाज, साफ, सरल, कभी-कभी कुछ रूखे, विनोदप्रिय, दयावान और संतोषी की दृष्टि से देखते हैं। वह अगाध धार्मिक हैं, जीवन को समष्टि रूप से देखते हैं और जानते हैं कि अदृश्य शक्तियाँ अगम्य रीति से काम कर रही हैं। हालाँकि बहुधा हमें उनकी झलक दिखाई पड़ सकती है, अगर हम मौन रहकर उसे देखना और ग्रहण करना चाहें।

जब भारत में छः महीने घूमने के बाद पहली बार १९२८ के बसंत में साबरमती में मैं गांधीजी से मिला था तब उन्होंने जो शब्द मुझसे कहे थे उन्हें मैं कभी नहीं भूल सकता। मैंने उनसे पूछा, "अपने घर इंग्लैण्ड पहुँच कर मैं क्या कहूँ?" उन्होंने उत्तर दिया, "अंग्रेजों से कहिए कि वे हमारी पीठ पर से उतर जायँ।" सोचिए, इसमें कितना गहरा अर्थ है, ध्येय के बारे में ही नहीं, बल्कि उन साधनों के बारे में भी, जिनसे ध्येय सिद्ध किया जा सकता है।

क्योंकि एक ध्येय-मात्र में ही, जोकि उनके सामने है, गांधीजी हमारे युग के दूसरे क्रांतिकारी नेताओं से भिन्न नहीं हैं; शायद उससे भी अधिक महत्वपूर्ण वे साधन हैं जिन्हें वह उस ध्येय की पूर्ति के लिए काम में लाते हैं। भारतीय मामलों में सक्रिय भाग लेने से पहले १९०८ में लिखी गई अपनी पुस्तक 'हिन्द-स्वराज'[१] में उन्होंने लिखा है—"बादशाह अपने शाही शस्त्रों को सर्वदा प्रयोग में लायंगे। बल्कि बल-प्रयोग तो उनके रग-रग में रमा हुआ है।...किसान तलवार से वश में नहीं हुए हैं। कभी होंगे भी नहीं। तलवार चलाना वे नहीं जानते और न दूसरों द्वारा चलाई गई तलवार से ही वे भयभीत होते हैं।" इसलिए किसान-स्वराज्य, किसान-राज्य या किसान-स्वतन्त्रता जोकि गांधीजी का उद्देश्य है, उन्हीं तरीकोंसे मिलनी चाहिए जो उनके सामने के ध्येय के अनुकूल हैं। वे लोग, जिनका ध्येय मनुष्यों का शासक बनना है, तलवार से काम लेते हैं। हरेक शासक वर्ग का यह शस्त्र है। और जब समाजवादी या साम्यवादी, या नाजी या फासिस्ट, 'शासक-वर्ग' को उसीके शस्त्रों से नष्ट करने को उद्यत होते हैं तो उनकी सफलता केवल एक शासक-वर्ग को हटाकर दूसरा शासक-वर्ग ला रखती है। धरती के मालिक, बैंकों के मालिक या कारखानों के मालिक-वर्ग के हाथों मे रहने की अपेक्षा वह तलवार कम्यूनिस्ट,

---

[१] 'सस्ता साहित्य मण्डल' से प्रकाशित।

फासिस्ट या नाजी-दल के हाथ में चली जाती है। मामूली नागरिक तब भी पद-दलित ही किये जाते हैं और एक नई शासन-व्यवस्था लोगों की पीठ पर चढ़ जाती है सो अलग।

लेकिन गांधीजी शासक-जाति या जमात के बोझ को सर्वदा के लिए किसानों की पीठ से हटा देना चाहते हैं। वर्तमान शासकों को इसलिए नहीं हटाना चाहते कि उनके बाद उनके भाई सवार हो जायँ। इसलिए उन्होंने एक ऐसे शस्त्र के निर्माण में अपना जीवन लगाया है, जिसको, क्या शरीर से दुर्बल और क्या मजबूत, सभी चला सकते हैं। उनसे शिक्षा पाकर वे अपने पैरों पर सीधे खड़ा होना सीखते हैं और भारी बोझों के नीचे अब झुके नहीं रहते।

गाधीजी कहते हैं कि किसी को अपनी पीठ से उतारने के लिए उसकी पीठ पर सवार होने की अपेक्षा उसे तबतक सहयोग देने से इन्कार कर देना उचित है जबतक वह वहां रहे। अन्त में उसे नीचे उतरना पडेगा और उसे टेकन या सहारे को कुछ भी नहीं मिलेगा। मगर आप उसकी बराबर सहायता न करेंगे तो वह आपको हर प्रकार के दण्ड की धमकी दे सकता है। अपनी धमकियों को वह कार्य में भी परिणत कर सकता है; लेकिन अगर दण्ड और मृत्यु पर आपने हँसना सीख लिया है तो उसकी धमकियाँ और तलवार तक भी आपको विचलित नही कर सकेंगी। दबाव से वह ऐसा काम आपसे नहीं करा सकता है जिसे आपकी आत्मा कहती है कि गलत है।

कार्य के जो अहिंसात्मक तरीके को सक्रिय रूप से काम में लाने के पहले बहुत भारी कठिनाइयों पर विजय पानी होगी। तोप के गोलों के सामने डटे रहने के लिए तो उस दशा में भी सिपाहियों को तैयार करना कठिन है, जबकि उन्हें जवाब में गोली चलाने का अधिकार है। निश्चय ही उससे कठिन लोगों को यह सिखाना है कि वे, बिना अपनी रक्षा किये, हर प्रकार का बलात्कार और ज्यादती अपने पर स्वीकार कर लें। तीस बरस पहले गांधीजी ने घोषणा की थी कि निष्क्रिय प्रतिरोधक (या जिन्हे अब वह 'सत्याग्रही' कहते है, अर्थात् वे जोकि पशु-बल के प्रयोग की अपेक्षा आत्मिक बल का प्रयोग करते हैं) "ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सत्य और अभय का पालन करें।" हर युग में ऐसे पुरुष और स्त्रियाँ हुए हैं जिन्होंने इस अजेग अहिंसात्मक जीवन के रहस्य को जान लिया है। जर्मनी के ईवन जैलीकल पादरियों के जेल से हाल ही में आये पत्रों के पढ़ने से प्रमाणित होता है कि पूर्व की भांति पश्चिम में अब भी ऐसे चरित्र का निर्माण

किया जा सकता है। और यदि, या जब, बहुसंख्यक लोग ऐसे दृढ़-चरित्र हो जायंगे तो मानव की स्वतन्त्रता और मानव का आदर्श समाज सामने दिखाई देंगे।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि गांधीजी जो अपने शांति और स्वतन्त्रता के सिपाहियों से पूर्ण आत्मानुशासन की आशा करते हैं, 'जनता' की बात नहीं करते। जब आप तोप के गोलों की परिभाषा में सोचते हैं, चाहे साम्राज्य स्थापित करने के लिए या क्रान्ति के लिए, तब स्वभावतः आप मानव-प्राणियों की पशु-समाज में गणना करते हैं। लेकिन गांधीजी के लिए 'लाखों-करोड़ों' में से प्रत्येक स्त्री-पुरुष एक-एक व्यक्ति है, जिसका व्यक्तित्व उतना ही पवित्र है, जितना उनका (गांधीजी का) अपना। वह एक बिलकुल अनजान किसान तक से उतनी ही हार्दिकता के साथ मित्रता करना जानते हैं जितनी कि वह अपनी-जैसी शिक्षा के सतह के व्यक्ति के साथ करते हैं। उनके लिए कोई भी पुरुष या स्त्री साधारण या अस्वच्छ नहीं है। यह केवल एक सुन्दर सिद्धान्त ही नहीं है कि जिसका वह केवल उपदेश ही देते हैं, बल्कि वह तो उनकी दैनिक क्रिया है।

ऐसे युग में जबकि हिंसा को नित्य नया प्रोत्साहन दिया जा रहा है, जबकि पश्चिम की एकमात्र आशा ऐसे बृहत् शस्त्रीकरण की 'सामूहिक सुरक्षितता' जिसे कि दृढ़-से-दृढ़ आक्रमणकारी भी पैदा नहीं कर सकता, जबकि एक लाट पादरी (आर्चबिशप) भी यही सलाह देते हैं कि ध्येयगत शान्ति के लिए प्रथम कार्य यह हो कि "शक्ति का संग्रह न्याय के पक्ष में किया जाय" तब हमारी आँखों के सामने अगर हम उन्हें खोलें और देखें—एक आदमी है जिसका शरीर दुबला-पतला है, स्वास्थ्य जिसका आशाप्रद नहीं है, बड़ी भारी योग्यताएँ भी जिसमें नहीं हैं, जो अपने ही जीवन में अपने भारतीय साथियों पर प्रभाव डालनेवाली अपनी जादू की-सी शांति से दिखा रहा है कि आदमी की आत्मा जब स्वर्गीय तेज से प्रज्वलित हो उठती है तो वह अत्यन्त शक्तिशाली शस्त्रीकरण से भी अधिक मजबूत होती है।

विनम्र व्यक्ति अब भी संसार में अपने अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, यदि वे केवल अपनी विनम्रता में श्रद्धा रक्खें, यदि वे हिटलर या स्टेलिन के भय को छोड़ दें, यदि वे हमारे युग के इस सबसे महान् शिक्षक की ओर आशा से देखें।

: ३ :

एक मित्र की श्रद्धांजलि

सी० एफ० एण्ड्रूज

इस लेख में मेरा उद्देश्य तीन प्रकार का है। पहले, मैं अपने पाठकों के सामने महात्माजी के चरित्र के गूढ़तर धार्मिक पहलू की रूपरेखा खींचने का प्रयत्न करूंगा। दूसरे, उनके व्यक्तित्व के मानव-समाज से सीधा संबंध रखनेवाले पहलू पर प्रकाश डालूंगा और तीसरे मैं संक्षेप में उन बातों का जिक्र करूंगा जिन्हें मैं वर्तमान युग में मनुष्य-जाति के उत्थान के प्रति महात्माजी की दो मूलभूत देन मानता हूं।

१

कुछ ऐसे मूल धार्मिक तत्व हैं जिनपर महात्माजी सबसे अधिक जोर देते हैं। उनकी मान्यता है कि उनके जरिये मरणधर्मा मनुष्य भी परमात्मा के भय से संसार में चिरस्थायी काम कर जा सकता है।

इनमें पहला गुण है सत्य। वह इसे एक दैवी गुण मानते हैं। वह न सिर्फ मनुष्यों के शब्दों और कार्यों में प्रकट होना चाहिए, प्रत्युत अन्तरात्मा में भी उसका प्रकाश चाहिए। झूठ न बोलना ही सत्य-पालन के लिए पर्याप्त नहीं; यद्यपि यह इसका एक आवश्यक अंग है। उनके विचार के अनुसार सब सत्यों का आदिस्रोत हृदय है।

सत्य कितना महान है, यह इसी बात से मालूम पड़ सकता है कि वह इसे परमात्मा के नाम के लिए प्रयुक्त करते हैं। अहर्निश उनकी जबान पर एक ही सूत्र रहता है "सत्य परमात्मा है और परमात्मा सत्य है।" उनका दैनिक जीवन इस बात का प्रमाण है कि वह सत्य की कितने उत्साह से आराधना करते हैं। इसलिए किसी भी अंश में सत्य से परे होने का अर्थ है दिव्य स्रोत से दूर जा पड़ना और परिणामस्वरूप आध्यात्मिक दृष्टि से हमेशा के लिए मर जाना। यह प्रकाश की जगह अंधकार में चलने के समान है। महात्माजी की यह दैनिक प्रार्थना—

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मत्योर्माऽमतं गमय

इसे तीन रूप में व्यक्त करती है। प्रकाश और अन्धकार तथा अमरत्व और आध्यात्मिक मृत्यु, ये सत्य और असत्य के इसी मूलभेद के दूसरे पहलू हैं।

दूसरा तत्त्व, जिसका आदिस्रोत परमात्मा है, अहिंसा है। अगर इसका हम अक्षरशः अनुवाद करना चाहें तो इसे न-सताना कह सकते हैं। मगर महात्मा गांधी के लिए इसका उससे कहीं अधिक अर्थ है। उसमें दूसरों का स्वयं हित करना भी आता है। जहाँ तक युद्ध और रक्तपात का प्रश्न है, अहिंसा का अर्थ है इनमें भाग लेने से एकदम इन्कार कर देना। लेकिन वह अर्थ यहीं समाप्त नहीं हो जाता, वह पूरा तब होता है जब हम अधिक-से-अधिक कष्ट उठाकर उनका हृदय जीतने को तत्पर हो जाते हैं जो हमारे साथ बुराई करते हैं। सार रूप में, यह भी सत्य की तरह ही परमात्मा का अपना स्वरूप है। **'अहिंसा परमो धर्मः'** एक पुरातन और पवित्र मन्त्र है, जिसका अर्थ है 'अहिसा सबसे बड़ा धार्मिक कर्तव्य है'। इसीलिए महात्मा गांधी अपना सारा जीवन इस परम धर्म की सम्भावनाओं का पता लगाने और उनका सत्य के साथ समन्वय करने में बिता रहे है। अहिंसा का सिर्फ यह अर्थ नहीं कि असत्य के मुकाबिले मे निष्क्रिय प्रतिरोध किया जाय। इसमें उसका सक्रिय प्रतिरोध भी शामिल है। मगर यह क्रोध, ईर्ष्या और हिंसा के बगैर होना चाहिए।

तीसरा महत्वपूर्ण तत्त्व, जिसपर महात्माजी सर्वाधिक जोर देते है, ब्रह्मचर्य है। वह बताते है कि यह संज्ञा ही संस्कृत के 'ब्रह्म' शब्द से बनी है, जिसका अर्थ है परमात्मा। पुरातन काल से चली आती हुई अन्य मान्यताओं के समान वह मानते हैं कि इन्द्रिय अर्थात् भोगक्रिया के दमन और फिर उस शक्ति के ऊर्जसन (Sublimation) से मनुष्य में एक अद्भुत् आत्मशक्ति और दैवीतेज प्रकट होता है। सत्य और अहिंसा के सच्चे अनुयायी को ब्रह्मचर्य का भी सच्चा पालक होना चाहिए और उसे संयम के साथ जीवन बिताकर संसार के सामने आदर्श उपस्थित करना चाहिए। महात्माजी विवाह को भी मानव कमजोरी के लिए एक रियायत मानते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संभोग-कर्म से एकदम दूर रह कर इस विषय में विचार तक भी न करने को महात्माजी आत्मिक-जीवन का, जिसे पुरुष और स्त्री दोनों प्राप्त कर सकते हैं, सबसे ऊँचा स्वरूप मानते हैं। यहाँ मैं यह जिक्र किये बगैर नहीं रह सकता कि वह ब्रह्मचर्य और तपस्या के सिद्धांत में इतनी दृढ़ता से विश्वास करते हैं कि वह उन्हें अति तक ले गया है। इसी तरह उनका आमरण अनशन, जो तबतक जारी रहता है जबतक कि उन्हें उस अनशन के उद्देश्य में सफलता नहीं मिलती,

मेरी समझ से बाहर की चीज है। यह मेरी रुचि के विरुद्ध पड़ता है और इस बारे में उनसे कई मर्तबा मैं अपने विचार प्रगट भी कर चुका हूँ।

महात्माजी मुख्यतया एक धार्मिक मनुष्य हैं। वह परमात्मा की कृपा के अतिरिक्त और किसी भाँति बुराई से पूर्ण छुटकारा पाने की कल्पना का विचार तक भी अपने हृदय में नहीं ला सकते। इसलिए प्रार्थना उनके सब कार्यो का सार है। सत्याग्रही के लिए,जो सत्य के लिए मरना अपना धर्म समझता है सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि वह परमात्मा में श्रद्धा रक्खे जिसका गुण (प्रकृति) है **सत्य और प्रेम**। मैंनें उनके सारे जीवन को अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार जो उन्हें मूक प्रार्थना में सुनाई देती है, क्षण भर में बदलते पाया है। महान् क्षणों में वह एक विशेष वाणी सुनते हैं जो उनसे बात करता है और दुर्धर्ष आश्वासन के साथ बात करती है और जब वह इसे सुन लेते हैं तो कोई भी पार्थिव शक्ति उन्हें इस आवाज के जिसे वह परमात्मा की वाणी समझते हैं, अनुसार कार्य करने से नहीं रोक सकती।

गीता उनकी सार्वजनिक प्रार्थना का एक अंग है। इसका वह हमेशा पाठ करते हैं। और जितना ही वह गीता का पाठ करते हैं उतना ही उसमें आत्मिक जीवन का जो मार्ग कहा गया है, उस पर उन्हें अधिकाधिक विश्वास होता जाता है।

अगर मैं उनके लम्बे और घनिष्ट अनुभव से उनको ठीक तरह समझ सका हूँ तो उनके परमात्मा-सम्बन्धी विचारों में हमेंशा एक सहज श्रद्धालुता रहती है, जैसे सदा किसी मालिक की आँख उन पर हो।

२

अब हम उनके मानवीय रूप पर विचार करें। इसमें कुछ ऐसी मृदुल-मधुर बातें मिलती हैं जो चित्त को प्रेम-मग्न कर देती हैं। इन्हें सदैव उस कठोर तपस्या के साथ रखकर देखना चाहिए जिसका मैंने ऊपर अभी चित्र खींचा है।

कई साल पहले मैं महान् फ्रांसीसी लेखक रोमाँ रोलाँ द्वारा महात्माजी के बारे में लिखे गये उस लेख से बहुत प्रभावित हुआ जिसमें उन्होंने गांधीजी को वर्तमान युग का **'सन्त पाल'** बताया था। इसमें मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे वास्तव में ही एक बहुत बड़ा सत्य निहित हो; क्योंकि गांधीजी संत पाल की भाँति धार्मिक पुरुषों की उस श्रेणी के हैं जो द्विजन्मा होते हैं। उनके अपने जीवन में एक विशेष क्षण में एक खास मौके पर उनके भीतर एक भयंकर तूफान मचा। उसमें मानवात्मा की एक करुण कराह थी और थी विजयी होने के लिए एक छटपटाहट; इस अनुभव

को हम 'कायाकल्प' कह सकते हैं। शुरू-शुरू में बैरिस्टरी का पेशा उन्होंनें बड़े उत्साह से किया। उनकी मुख्य आकांक्षा थी सफलता—वह अपने पेशे में सफलता चाहते थे; एक सफल मनुष्य होना चाहते थे; और उनके अन्तःकरण में, एक सफल राष्ट्रीय नेता होने की प्रबल इच्छा थी।

वह दक्षिण अफ्रीका अपने काम से गये थे। वहाँ दो हिन्दुस्तानी सौदागरों का एक बड़ा मुकदमा चल रहा था। गांधीजी को इसीमें वकालत करनी थी। अभी तक उन्होंने दूर ही से सुन रक्खा था कि दक्षिण अफ्रीका में काले आदमियों पर रोक-थाम है; लेकिन उन्होंने इसपर यह कभी नहीं सोचा था कि अगर काले भारतीय होने के कारण किसी ने उनके जिस्म पर हमला किया तो उसका क्या अर्थ होगा? मगर जब यह पहली दफा डरबन से मैरित्सबर्ग गये तो उन्हें रास्ते में यह दुःखद अनुभव अपने पूरे नग्न-रूप में हुआ। एक रेलवे के अधिकारी ने उन्हें रेल के डिब्बे में से उठाकर बाहर पटक दिया; और यह सब तब हुआ जबकि उनके पास फर्स्ट क्लास का टिकिट था। डाकगाड़ी उनको बिठलाये बिना ही आगे चली गई। रात बहुत चली गई थी और महात्माजी ने देखा कि वह एकदम अजनबी स्टेशन पर थे जहाँ कोई भी व्यक्ति उनको नहीं जानता था। इस अपमान को सहन करने और रातभर ठंड में सिकुड़ने के पश्चात् उनके हृदय में दो भावों में जबरदस्त संघर्ष शुरू हो गया। एक भाव कहता था कि उन्हें इसी समय टिकिट लेकर जहाज से भारत वापस चले जाना चाहिए तथा दूसरा भाव कहता था कि नहीं, उन्हें भी उन कष्टों और और मुसीबतों को आखीर तक सहना चाहिए जिन्हें उनके देशवासी रोजाना सहते हैं। सुबह होने से पूर्व ही उनकी आत्मा में एक प्रकाश उदित हुआ। उन्होंने परमात्मा की दया से मर्द की भाँति बढ़ चलने की ठानी। अभी तो ऐसे अपमान जाने कितने उन्हें सहने थे। और दक्षिण अफ्रीका में उनके मौकों की कमी न थी। पर जब चले तो चल ही पड़े, लौटने की बात कैसी?

मैंने गत नवम्बर मास में महात्माजी के मुख से स्वयं इस रात की कहानी सुनी। वह डाक्टर मॉट को सुना रहे थे। उन्होंने साफ कहा कि उनके जीवन में यह एक परिवर्तनकारी घटना थी जिसके बाद से उनका एकदम नया ही जीवन प्रारम्भ हुआ।

महात्मा गांधी में और भी ऐसे गुण हैं, जो हमें ईसाई संत पाल के तपस्वी जीवन में मिलते हैं—उन्हें ईश्वर में ऐसी श्रद्धा है कि वह मनुष्य के सामने झुकना नहीं जानते; पाप के, और खासकर शारीरिक पाप के, भय का उनके हृदय पर भीषण आतंक जमा हुआ है; अपने प्रियजनों पर वह बड़ी कड़ाई रखते हैं, जिससे उनका

चरित्र उतना ही ऊंचा बना रहे जितने कि गांधीजी को उनसे आशा है; परन्तु इतना होते हुए भी उनमें इतनी करुणा और कोमलता है कि जब कभी लोग उन्हें समझने में गलती करते हैं, तो उनका हृदय सहानुभूति के लिए आकुल हो उठता है।

उनमें इससे भी अधिक कई गुण हैं, जो उन्हें असीसी के संत फ्रांसिस के समीप ले आते हैं। दरिद्रता और गरीबी को उन्होंनें वरण ही कर लिया है। आज हम उन्हें सचमुच 'सेगाँव का एक मामूली दीन' कह सकते हैं, क्योंकि वह वहाँ पद्-दलितों और गरीब ग्रामीणों में उनके दुःख का भार बँटाते हुए रह रहे हैं। दो अवसरों पर मुझे यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो गई कि गांधीजी की तुलना संत फ्रांसिस के साथ करना बिल्कुल ठीक है।

इनमें से पहला असवर मुझे डरबन के फिनिक्स-आश्रम में मिला। सायं-काल बीत चला था। सन्ध्या के बाद रहनेवाली कुछ चमक बाकी थी, परन्तु अँधेरा बढ़ता जा रहा था। चारों ओर सन्नाटा था। तमाम दिन गरीबों की सेवा में उन्होंने अथक परिश्रम किया था और इस समय वह बाहर बैठे हुए थे। उनके शरीर में इतनी थकान थी, जितनी शायद कोई आदमी सहन नहीं कर सकता। वह फिर भी एक रोगी बच्चे को गोद में लिये हुए थे और उसकी परिचर्या कर रहे थे। बच्चा बड़े स्नेह के साथ उनसे चिपका हुआ था। जुलू जाति की एक लड़की भी वहीं बैठी हुई थी, जो कि आश्रम के उस पार, पहाड़ी पर बने हुए एक स्कूल में पढ़ती थी। जब अँधेरा घना होने लगा, तो गांधीजी ने मुझसे "भगवान दया ज्योति दिखलाओ" (Lead kindly light) शीर्षक अंग्रेजी भजन गाने को कहा। उस समय वह अबकी अपेक्षा कहीं अधिक जवान थे, परन्तु फिर भी उनका दुबला-पतला शरीर बिलकुल क्षीण था, क्योंकि एक क्षण के लिए भी कष्ट से उनका छुटकारा नहीं होता था। जब मेरे गाने से रात की शांति भंग हुई और मैंने प्रार्थना का अन्तिम चरण गाया—

फिर प्रभात की स्वर्ण-प्रभा में देवदूत वे मुसकायें;
जा मेरे चिर-चाहे थे, पर अभी गये, वे फिर आयें,

तो गांधीजी के उस थके-मांदे शरीर में भी एक विचित्र आत्मानन्द का आलोक दिखाई पड़ा।

जब गीत समाप्त हुआ तो चारों ओर नीरवता थी। मुझे अबतक याद है

कि उस समय हम कितने चुपचाप बैठे हुए थे। यह भी याद है कि इसके बाद महात्माजी उस चरण को मन-ही-मन में दोहराते रहे थे।

दूसरा अवसर उड़ीसा में मिला। वह जगह यहाँ से नजदीक ही थी, जहाँ मैं इस लेख को बैठा लिख रहा हूँ। महात्माजी मरणासन्न हो चुके थे, क्योंकि उनपर एकाएक ही हद दर्जे की थकान की पस्ती छा गई थी। और खून का दबाव इतना चढ़ गया था कि खतरे की बात थी। बीमारी का तार मिलते ही मैं रातोंरात गाड़ी में बैठकर उनके पास मौजूद रहने के लिए चल दिया। पास पहुँचा तो मैंने उन्हें सारी रात बेचैनी से गुजारने के बाद उगते सूर्य की ओर मुंह किये हुए लेटे पाया। हमने अभी बातचीत शुरू ही की थी कि दलित जाति की सबसे निचली श्रेणी का एक आदमी अपनी फरियाद लेकर उनके पास आया। क्षणभर में ही मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे उनकी अपनी बीमारी बिलकुल दूर हो गई है। आदमी नीचे धरती पर दंडवत् पड़ा हुआ था। उस निर्दय अपमान पर जिसने उसे मनुष्य के दर्जे तक नीचे गिराया था, उनका जी वेदना से फटने-सा लगा था।

३

दो बातें हैं, जिनके कारण महात्मा गांधी का नाम आज से सैकड़ों साल बाद भी अमर रहेगा; वे हैं (१) उनका खादी कार्यक्रम और (२) सत्याग्रह का उनका आचरण।

(१) आज के इस मशीनयुग में महात्माजी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने संसार के किसानों में ग्रामीण व्यवसायों और घरेलू उद्योग-धन्धों को बड़े पैमाने पर पुनर्जीवित किया है। उन्होंने इसे इसलिए शुरू किया था कि किसानों को साल के उन दिनों में भी कुछ काम मिल जाय जबकि उनके खेतों पर कोई काम नहीं होता और वे घर पर खाली बैठे रहते हैं। भारतवर्ष में यह समय हर साल में चार या पाँच महीने रहता है। पहले जमाने में मशीनें नहीं थीं। कातने, बुनने और अन्य ग्रामीण व्यवसायों में परिवार का प्रत्येक आदमी, यहां तक कि छोटे-से-छोटे बच्चे भी, लगे रहते थे और रोजाना के काम के लिए घर पर ही खासा मजबूत कपड़ा कात और बुन लिया जाता था।

यह कहना गलत नहीं होगा कि मनुष्य जाति का कम-से-कम आधा भाग ऐसा है जो इस प्रकार की सामयिक बेकारी से पीड़ित है। इसका एक बड़ा कारण

मशीन के कपड़े का बड़ी तादाद में पैदा होना है, जिसने अपने सस्तेपन के कारण धीरे-धीरे गृह-व्यवसायों और उद्योग-धन्धों को चौपट कर दिया है।

गांधीजी पहले व्यक्ति है जो इस बात में जीता-जागता विश्वास रखते है कि घरेलू धंधों का पुनरुज्जीवन अब भी सम्भव है और इनसे ग्रामीणों को न सिर्फ शारीरिक प्रत्युत नैतिक भूख की पीड़ा से भी बचाया जा सकता है। उन्हे इस दिशा में लाखों हृदयों में आशा का संचार करने में कामयाबी भी मिली है। उनकी प्रतिभा हिन्दुस्तान की चहार-दीवारी तक ही सीमित नहीं रही है। चीन में युद्ध के दबाव के कारण किसानों ने स्वयं ही रुई बोना, उसे कातना और बुनना भी शुरू कर दिया है। यह भी बिलकुल सम्भव है कि कनाडा और दूसरे अधिक ठंढे उत्तरी ध्रुव-प्रदेशों में भी सर्दियों के लम्बे और अँधेरे दिनों में इस प्रकार के घरेलू उद्योग-धन्धे फिर चल पड़ें।

(२) अहिंसा का प्रतिपादन महात्माजी ने बड़े मौलिक तौर पर किया है। उसके द्वारा उन्होंने संसार को यह दिखा दिया है कि आज महज स्वेच्छापूर्ण कष्ट-सहन के बल पर किये गये सामूहिक नैतिक प्रतिरोध, अर्थात् सत्याग्रह द्वारा युद्ध की हिंसा पर भी विजय हो सकती है। दक्षिण अफ्रीका में उन्हे इस दिशा में गौरव-पूर्ण विजय मिली। ट्रांसवाल में जब उन्होंने ड्रेकन्सबर्ग की पहाड़ियों को पार करके अपनी सत्याग्रही फौज का संचालन किया तो जनरल स्मट्स ने उनकी वे सब शर्ते मान लीं जो उन्होंने पेश की थीं। इतना ही नहीं, जनरल स्मट्स ने यह भी स्वीकार किया कि नैतिक लड़ाई का यह तरीका, जिसमें कोई भी हिंसात्मक हथियार प्रयुक्त नहीं किया जाता, ऐसा है कि जिसका सामना नहीं हो सकता।

यह लेख अब खत्म हो रहा है और इन सब विषयों पर विस्तार से विवेचन करना यहाँ संभव नहीं है। अन्य लेखक शायद इसपर और प्रकाश डालें। मैं गांधीजी की तुलना सन्त फ्रांसिस से एक बात में और कर देना चाहता हूँ। सन्त फ्रांसिस भी अपनी रोजाना की पोशाक में गाँववालों का घर का कता और बुना हुआ मोटा खुरदरा कपड़ा ही पहना करते थे। इस प्रकार अपने युग में लोगों की दृष्टि में घर के कते कपड़े को सम्मान और प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय उन्हें है। सन्त फ्रांसिस भी सारसीन लोगों की फौज के बीच बिना हथियार लिये बेखटके जा पहुँचे। उन हथियार-बन्द फौजों के बीच, वह अपने प्राण तक देने को तैयार थे; वह इस स्नेह-पूर्ण आत्म-बलिदान द्वारा उन लड़ाकुओं को शान्ति का उपदेश देना चाहते थे। जिन विचारों को आज महात्मा गांधी ने अपनाया है, वही विचार सन्त फ्रांसिस के

हृदय में थे। इस प्रकार दोनों महात्मा एक-से हैं; परन्तु महात्मा गांधी और आगे बढ़ गये हैं। खद्दर और सत्याग्रह उनके दो सबसे बड़े प्रयोग हैं (जिनको वह ठीक ही 'सत्य के प्रयोग' कहते हैं) जिनका प्रवेश मनुष्य-जाति के सामाजिक जीवन में हो गया है। इन दोनों बातों का प्रचार इतने बड़े पैमाने पर अभी हो गया है, जितना मानव-जाति के इतिहास में पहले कभी नहीं सुना गया। इस तरह वह मानव-जाति के लिए शान्ति और शुभकामना लेकर आये हैं और इस विषय में जितना उन्होंने किया है, उतना आज के किसी महापुरुष ने नहीं किया।

: ४ :

गांधीजी का जीवन-सार

जार्ज एस० अरण्डेल

यह मैं अपना गौरव मानता हूँ कि गांधीजी के ७१वें जन्म दिवस पर निकलने वाले अभिनन्दन-ग्रंथ में योग देने के लिए मुझे कहा गया है। सच यह है कि कोई ग्रंथ भारत के प्रति उनकी महान् और अनुपम सेवाओं का पूरा मान नहीं कर सकता। भारतवासी भी स्वयं आज उन सेवाओं का यथार्थ यशोगान और मान नहीं कर सकते, क्योंकि आज गांधीजी हमारे सामने हैं और उनके विषय में लोगों की विभिन्न धारणायें बनी हुई हैं। केवल आगे आनेवाली पीढ़ी ही उनकी सेवाओं का उचित मूल्य आँक सकती है, क्योंकि वही इन पूर्व-धारणाओं से मुक्त हो सकती है। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ भी व्यर्थ नहीं। यद्यपि इसके लेखक गांधीजी के सम-सामयिक हैं, परन्तु फिर भी इसके द्वारा उनकी सत्यनिष्ठा के विभिन्न पहलुओं पर जो प्रकाश पड़ेगा, उससे बहुत लाभ होगा।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मैंने गांधीजी के जीवन का जो रूप देखा है, उसमें मुझे तीन बातें मुख्य मालूम पड़ती हैं—पहली और सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह बड़े ही निश्छल, निर्मल और सादे हैं; दूसरे, वह अपने मूल-सिद्धान्तों के सत्य का प्रत्यक्ष और सजीव मान करते हैं; तीसरे, उनमें ऐसी निर्भयता है, जिसमें दंभ और दर्प का लेश भी नहीं।

जहां और जिस परिस्थिति में उन्हें देखिये, आपको उनके जीवन में ऐसी

सादगी और व्यवस्था मिलेगी जैसी हर परिस्थिति के हर व्यक्ति के लिए सुलभ है। प्रसिद्धि का प्रचंड प्रकाश उन्हें सदा घेरे हुए रहता है और इस अपूर्व आलोक में वह जिस सादगी का जीवन बिताते हैं, वह सबके लिए अनुकरणीय है। उनका अन्तःकरण संसार के सामने खुला हुआ है, उनकी आदतें भी उसी प्रकार दुनिया से छिपी नहीं हैं। आचरण में एक मूक शक्ति होती है और उस शक्ति का जैसा प्रयोग करना वह जानते हैं, वैसा हम लोगों में कोई नहीं जानता।

उनका जीवन एक पदार्थ पाठ है। नित्य-प्रति की साधारण-से-साधारण बातों में हम उनसे शिक्षा ले सकते हैं। दुनिया की कृत्रिमता और विषमता उनके पास आकर सुलझ जाती रही हैं और उनका व्यवहार सदा-सहज, अकृत्रिम और ईश-नियमाधीन होता है। मानव-परिवार या समस्त जीव परिवार को अगर कभी शांति और समृद्धि प्राप्त होनी है, तो इसी सहज नीति से प्राप्त हो सकेगी।

यह मैं एक क्षण के लिए भी नहीं कहता कि उनकी सब बातों की हूबहू नकल करनी चाहिए। लेकिन यह तो साग्रह कहता ही हूँ कि उनके जीवन की स्फूर्ति और भावना को हम अपनायें तो हमारा कल्याण होगा।

अपने एक निजी और विलक्षण रूप में अंधकार से प्रकाश में आने का मार्ग उन्होंने दिखाया है। वह दूरांत प्रकाश देखते हैं और उधर संकेत करते हैं। हममें से कुछ उस आदि प्रकाश-स्रोत को देख न भी सकें, पर स्वयं उनके व्यक्तित्व का प्रकाश तो देखते ही हैं। और दूसरे के पासका भी प्रकाश फिर वह हमसे चाहे कितना भी भिन्न हो, पथ-प्रदर्शन में हमारी सहायता हीं करता है। आखिर तो प्रकाश सब एक ही है। हम ही उसे नाना रूप और आकार देते हैं।

उनके फैलाये कुछ प्रकाश का मैं उपयोग नहीं कर पाता हूँ। जिन बातों पर मैं जोर देना चाहता हूँ उनके लिए शायद मुझे और कहीं से प्रकाश पाना पड़े। लेकिन जिन बातों पर वह जोर देते हैं वे भी मेरी चुनी बातों को परखने में मुझे मदद देती हैं। मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ कि वह अपने मूल सिद्धान्तों का ऐसा प्रत्यक्ष और सजीव मान करते हैं। क्योंकि जो भी अपने सिद्धान्तों पर निष्ठा से चलता है, जैसे कि गांधीजी चलते हैं, वह दूसरों में भी अपने सिद्धान्तों पर––चाहे वे कितने ही विभिन्न क्यों न हों —निष्ठा से चलने की प्रेरणा करता है। सम्मति से असल में कुछ नहीं होता चाहे वह कितनी ही पांडित्य-पूर्ण क्यों न हो। असली बात तो उसके पीछे रहनेवाली सचाई और दिल की सफाई की है।

अंत में, मैं उनकी निर्भीकता को लेता हूँ। उनकी निर्भयता को मैं प्रायः सहज-सुलभ कह सकता हूँ और इसीलिए मुझे वह और अधिक प्यारी लगती है। इस निर्भयता के लिए उन्हें कोई भारी तैयारी नहीं करनी पड़ती, कमर कसने की आवश्यकता नहीं पड़ती—असल में कमर कसने की जरूरत उन्हें किसी भी मामले में नहीं पड़ती; न उन्हें चौकसी के दिखावे की आवश्यकता और न किसी तमाशे से मतलब। निर्भीकता का अवसर आते ही वह सहज और स्वाभाविक रूप से आचरण करने लगते हैं, जिसमें निर्भयता कूट-कूट कर भरी होती है।

और जिसका मेरे मन में सबसे अधिक आदर है, वह तो यह बात है कि वह कभी जोर की आवाज देकर, नारा उठाकर, भीड़ को अनुगमन के लिए उभाड़ते और बुलाते नहीं हैं। वह तो जैसे जाहिर भर कर देते हैं कि उनकी निर्भीकता का क्रियात्मक रूप अब के यह होनेवाला है। मानों उनके द्वारा जो होनेवाला है, उसी का भान उन्हें हो। होनहार के सिवा जैसे कुछ और उनसे हो नहीं सकता। ठीक यही बात मार्टिन लूथर के जीवन में मिलती है। वह भी कहा करता था कि जो मैंने किया उसके अतिरिक्त कुछ और मैं नहीं कर सकता था; और जो होना था वही मैंने किया। और फिर गांधीजी तो बस आगे चल पड़ते हैं। कोई पीछे आता है तो अच्छा; नहीं आता तो भी अच्छा! और क्या हम अक्सर ही यही सच होता नहीं देखते कि जो अकेला चलना जानता है यानी जो बिना संगी-साथी या अनुयायी की राह देखे अकेला चल पड़ता है, क्योंकि चले बिना वह रह नहीं सकता, उसी पुरुष को विजयश्री मिलती है? भला उसे सफलता कब मिली है, जो किसी संकल्प के पीछे चल पड़ने से पहले सार्वजनिक आंदोलन पैदा हो गया देखना चाहता है।

गांधीजी की प्रकृति में ही अभय है। निर्भयता उनका सहज भाव है। सहज है, और यही उसका सौन्दर्य है। तभी तो जो राह में बाधक बनकर आते हैं उनका भी वह सत्कार और अभिनन्दन करते हैं। यह निर्भीकता ही है, जो शत्रु को मित्र बना देती है और युद्ध की नहीं, शांति की सृष्टि करती है।

यहां मैंने गांधीजी के राजनैतिक सिद्धान्तों और प्रयत्नों का मूल्य आंकने की कोशिश नहीं की है। सच बात तो यह है कि मैं उनकी तनिक भी चिन्ता नहीं करता। आखिरकार वह कोई साध्य तो है नहीं; उनको किसी अन्य साध्य का साधन मानना ही अधिक ठीक होगा। मेरे जो भी कुछ विश्वास है, उनकी सचाई का खयाल करके, शायद मैं यहाँ तक जाऊँ कि गांधीजी के इन सिद्धांतों और प्रयत्नों का सक्रिय विरोध भी करूँ; और सो भी इस विरोध को अपना कर्तव्य समझकर—चाहे कोई मेरे

इस काम को ठीक कहे या गलत । क्योंकि असल में जिसकी मेरे निकट कीमत है वह स्थूल कर्म नहीं है; वह तो है उनकी सचाई, उनकी निष्ठा, उनका साहस, उनकी निस्वार्थता, लोकमत की स्तुति-निन्दा के प्रति उनकी उदासीनता, उनकी किसी को नुकसान न पहुँचाने की प्रकृति और उनकी बन्धुत्व-भावना । जो जगत् को इन वस्तुओं का दान करता है, वह उन दाताओं से असंख्य गुना दानी है, जो दुनिया को कानून देते है, योजनाएं देते है; सिद्धांत या वाद देते है ।

हमें आज जगत् मे जरूरत है ऐसे पुरुषों की और ऐसी स्त्रियों की जो विश्व-बन्धुत्व की भावना मे ज्वलंत हों, सरल स्वभाव की महत्ता मे जागरूक हों, जिनमें आदर्श की ऐसी अदम्य प्रेरणा हो कि वह आदर्श स्वयं जीवन से भी अधिक अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण उनके लिए हो जाय, फिर वे सही माने जायं, या गलत माने जायं, ——सही-गलत का भेद किसने पाया है ?——लेकिन हृदय जिनका जगद्गर्भ मे व्याप्त विराट करुणा के सुर के साथ बजना जानता हो ।

ऐसा पुरुष है गांधी ! और क्या कहूँ ?

: ५ :

भारत का सेवक

रेवरेण्ड वी० एस० अजारिया

मुझे हर्ष है कि गांधीजी के ७१ वें जन्म-दिवस के अवसर पर औरों के साथ मुझे भी उन्हें बधाई देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है ।

वर्तमान युग में किसी व्यक्ति का भारतीय जनता के निर्माण मे ऐसा महत्वपूर्ण भाग नहीं है जैसा कि महात्माजी का है । यूरोप मे तो सर्वसाधारण भारत को 'गांधीजी का देश' ही कहकर पुकारते है । रोम के पोप के महल के एक इटैलियन दरबान से हुई अपनी छोटी-सी बातचीत को मै कभी नहीं भूल सकता । जब मैने उसे अपना नाम और पता लिखकर दिया तो उसने मुझसे कहा——"भारत ?"

मैने कहा, "हां ।"

उसने फिर कहा, "गांधी ?"

जब उसके मुंह से एक हल्की मुसकान के साथ 'गांधीजी' का नाम निकला तो मैं फौरन समझ गया कि इसका अभिप्राय गांधीजी के देश से है और इसलिए मैंने इसके जवाब में 'हाँ' कह दिया। यह नौ साल पहले की बात है। मैं इटली में जहाँ भी कहीं गया, वहाँ-वहाँ मुझे लोगों के मुंह से गांधीजी का नाम सुनने को मिला।

दो साल पहले की एक और घटना मुझे इस प्रसंग में याद आ रही है। मैं उस समय संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में था और वहाँ एक हब्शियों के प्राइमरी स्कूल को देखने गया था। स्कूल के हेडमास्टर ने आग्रह किया कि मैं बच्चों को भारत के बारे में कुछ बताऊँ। मैंने उन्हें बताया कि मैं कहाँ से आ रहा हूँ और इसी तरह की बच्चों को जानने लायक कुछ और बातें कहीं। मगर उसके बाद मैं खुद पशोपेश में पड़ गया कि इन बच्चों को और मैं क्या कहूँ, मुझे जो कुछ कहना था वह पाँच मिनट के भीतर समाप्त हो गया। इसके बाद हेडमास्टर ने कहा कि अब बच्चे आपसे भारत के बारे में कुछ प्रश्न पूछना चाहेंगे। एक ऊँची जमात की लड़की इसपर उठकर बोली कि गांधीजी के बारे में हमें कुछ बताइए। आप कल्पना कर सकते हैं कि भारत से इतने दूर स्थान पर और बच्चों की तरफ से इस प्रकार का प्रश्न पूछे जाने पर मुझे कितना आश्चर्य हुआ होगा! ठीक ही, सारा संसार गांधीजी को आज भारत का सबसे बड़ा व्यक्ति मानता है और उसकी आजादी के लिए लड़नेवाला अदम्य सिपाही समझता है। दुनिया की नजरों में, गांधीजी के व्यक्तित्व में भारतीय संस्कृति की आत्मा सबसे अधिक मूर्तिमती हुई है।

हम लोग जो भारत में रहते हैं, जानते हैं कि यह आत्मा या भावना क्या चीज है। यह है लोकोत्तर सत्ता की अनुभूति और जीवन की सब घटनाओं में मानव की परमात्म-निर्भरता की स्पष्ट स्वीकृति, आधिभौतिक वस्तुओं पर नैतिक एवं आध्यात्मिक भावों की प्रधानता और नैतिक एवं आध्यात्मिक उद्देश्यों की खोज और प्राप्ति में भौतिक और शारीरिक सुख-भोग के प्रति स्पष्ट उपेक्षा। कोई भी आदमी, जो भारत को जानता है, इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं करेगा कि महात्माजी की महत्ता इन्हीं आदर्शों की महत्ता के कारण है।

सारा भारत उनके प्रति इस बात के लिए बहुत अधिक ऋणी और कृतज्ञ है कि उन्होंने उसके पुत्रों को फिर से इन आदर्शों को अपनाने के लिए प्रेरणा दी है। समालोचना और उपहास के बावजूद दुनिया के सामने उस समय इन्हें रक्खा है, जब कि सब जगह इन आदर्शों के अपमानित किये जाने और रौंदे जाने का खतरा है।

इस बढ़ते हुए भौतिकवाद के जमाने में भी महात्मा गांधी ने लोगों को आध्यात्मवाद का अनुकरण करने और उसे स्वीकार करने की प्रेरणा दी है।

महात्मा गांधीने भारत की एक और उल्लेखनीय सेवा की है, जिसके कारण वह भारत-हितैषियों की कृतज्ञता और श्रद्धांजलि के भाजन हैं। यह सेवा है पद-दलितों और नीच मानी जानेवाली जातियों का उद्धार। यद्यपि उनसे पहले भी धार्मिक सुधारकों ने जाँत-पाँत की प्रथा का विरोध किया है मगर उनमें से किसी को भी भारत के विचारशील नर-नारियों के अस्पृश्यता-संबंधी भावों में, इतनी आश्चर्य-जनक क्रांति करने में सफलता नहीं मिली, जितनी कि महात्माजी को मिली। लेकिन हमें स्वीकार करना चाहिए कि हमारे लिए यह बहुत शर्म की बात है कि भारत का यह बहता हुआ नासूर अबतक उसी तरह बह रहा है। रूढ़िवादी सनातनियों के सम्पर्क के कारण यह ठीक होने नहीं पाता। मगर अब हिन्दू-भारत की आत्मा जाग्रत हो चुकी है, जाँत-पाँत के गढ़ डाँवाडोल हो चुके हैं, अब तो यह सिर्फ समय की बात रह गई है कि वह कब ढहते हैं और कब मिट्टी में मिलते हैं। महात्मा गांधी ने बुराई पर आक्रमण करने का जो तरीका ग्रहण किया है उसके बारे में मतभेद हो सकते हैं। सभी, यहाँ तक कि उन जातियों के लोग भी जिन्हें इनसे लाभ पहुँचा है, उसके परि-णामों से असहमत हो सकते हैं। तथापि यह तो मानना ही होगा कि पिछले बीस बरस—नहीं दस बरस—में अस्पृश्यता की समस्या के बारे में भारत का दृष्टिकोण एकदम बदल गया है और इसका बहुत कुछ श्रेय महात्मा गांधी को ही है।

आज हम उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं। हम चाहते हैं कि वह हमारा नेतृत्व और प्यारे भारत की सेवा करते हुए और अनेक साल जियें।

: ६ :

गांधीजी : सेतुरूप और समन्वयकार

अरनेस्ट बारकर

गांधीजी की मुझे दो स्मृतियां याद हैं। एक स्मृति नवंबर १९३१ की एक रात की है जब वह गोलमेज परिषद में भाग लेने लंदन आये हुए थे और मेरे घर ठहरे थे। दूसरी सन् १९३७ के मध्य दिसंबर के एक मनोहर प्रातःकाल की है। गांधीजी

उस समय बीमारी से उठने के बाद बंबई से कुछ उत्तर जुहू में ताड़ के पेड़ों की सर-सराहट के बीच स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे। एक भारतीय मित्र मुझे दर्शन के लिए अपने साथ ले गये थे।

मुझे उनके कैम्ब्रिज-दौरे की अबतक बहुत स्पष्ट स्मृति है। प्रार्थना के समय जो एक कमरे में हो रही थी, उनके तथा कुमारी मीराबेन (मिस स्लेड) के साथ मैं सम्मिलित हुआ था। शाम को भोजन के उपरांत वह हमारे बैठने के कमरे में आ गये थे। आकर बैठक में चरखा कातते हुए हमसे बातें भी करते जाते थे। हमारी बातों के विषय बहुत ही सामान्य थे (मुझे अबतक खूब अच्छी तरह याद है कि मैंने अंग्रेजी जीवन में फुटबाल के स्थान और रगबी तथा असोसियेशन के खेल के बीच विचित्र सामाजिक विभाजन का जब प्रसंग छेड़ा तो उन्होंने उसमें बहुत दिलचस्पी दिखलाई); मगर यह तो बातें सामान्य थीं। हमारी बातचीत के मुख्य विषय इनसे कहीं गहरे थे। इनमें से एक विषय था प्लेटो। मेरा खयाल था कि इस बारे में प्लेटो से गांधीजी के विचार मिलते थे कि शासकों और राष्ट्रों के प्रबंधकों को थोड़े वेतन पर ही सब्र करना चाहिए। उन्हें इसी बात से अपने को सन्तुष्ट कर लेना चाहिए कि उन्हें जो शासक या अधिकारी के रूप में सेवा करने का सौभाग्य मिला है वही क्या कम है? इससे अधिक उपहार या इनाम की इच्छा उन्हें नहीं करनी चाहिए। मैंने उन्हें दलील देकर विश्वास कराने की कोशिश की कि सरकार को अपना रौब और दबदबा रखना होता है और इसे रखने के लिए उसे विशेष दिखावा और शान-शौकत की जरूरत होती है। इसलिए प्लेटो का उक्त सिद्धान्त इस अर्थ में ठीक नहीं उतरता। मुझे याद नहीं आता कि हम इस वाद-विवाद में किसी भी अंतिम निर्णय पर पहुँच सके थे। किन्तु मुझे इतना अबतक याद है कि मैंने उस समय साफतौर पर यह अनुभव किया था कि मैं उनसे कहीं नीची सतह पर रहकर दलील कर रहा हूँ।

दूसरा विषय, जिसपर हमारी बातचीत हुई और जो मुझे अबतक याद है, भारत की रक्षा का विषय था। मैं उनसे दलील कर रहा था कि आखिरकार हिंदुस्तान में शांति तो रक्खी ही जानी है; बाहर के आक्रमणों और डाकू-लुटेरों की लूट-खसोट का भी प्रबन्ध करना है; इसलिए भारत मे उसकी रक्षा के लिए एक फौज का रहना अत्यावश्यक है। फिलहाल इस फौज के अत्यावश्यक खर्चों की गारण्टी ही की जानी चाहिए और उन्हें भारतीय असेम्बली के वोटों पर, जो किसी समय उनके एकदम खिलाफ और किसी समय उन्हें बहुत अधिक काट देने के हक में हो सकते हैं, नहीं

छोड़ना चाहिए। गांधीजी ने इसका जवाब एक रूपक से दिया। कहा कि कल्पना करो कि एक गाँव जंगल के जानवरों के उपद्रवों से तंग है। एक दयालु अधिकारी गाँववालों को गाँव के चारों ओर उसकी रक्षा के लिए एक बड़ी दीवार खड़ी करने को कहता है, ताकि गाँववालों का जीवन और उनकी सम्पत्ति सुरक्षित रह सके। मगर गाँववाले देखते हैं कि दीवार के बनाने के खर्च के एवज में उनपर इतना भारी टैक्स लद जाता है कि उनका जीवन-निर्वाह मुश्किल हो जाता है। इस हालत में क्या वह यह नहीं कहेंगे कि हम जंगल के जानवरों के उपद्रव का खतरा लेने को तैयार हैं, मगर हम जीवन-यापन को निश्चित करने के इस झमेले में, जो हमारी ताकत से बाहर है, नहीं पड़ना चाहते?

गांधीजी ने दुनिया को बहुत-सी बातें सिखाई हैं; परन्तु जब मैंने उनसे उक्त दो विषयों पर बातचीत की, तो इनमें से दो बातों का अनुभव मुझे हुआ—एक तो श्रम तथा प्रेम के साथ की जानेवाली सेवा; दूसरे, अहिंसा का संदेश। मुझे उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मैं एक पैगम्बर के सामने बैठा हूँ; मगर इसीके साथ मैंने यह भी अनुभव किया कि मैं एक उत्तरी देश के अंग्रेज की स्वाभाविक एवं आंतरिक भावना (और शायद हरएक अंग्रेज की ही यह स्वाभाविक भावना है) को नहीं छोड़ सकता, जो कहती है कि अच्छी सेवा का इनाम भी अच्छा दिया जाना चाहिए और उसके लिए जितना पैसा दिया जायगा उतनी ही वह बढ़ेगी; जो सुझाती है कि शांति और व्यवस्था कायम रखने के लिए युद्ध और अव्यवस्था से संघर्ष होना आवश्यक है और जो यह विश्वास करती है कि शांति और व्यवस्था उनकी रक्षा के प्रयत्न से ही कायम की जा सकती है। मगर यदि मैं एक अंग्रेज की इस आंतरिक भावना को नहीं छोड़ सका तो भी मुझे उस समय उस भावना से ऊँची एक हस्ती को स्वीकार करना पड़ा। काश मनुष्य यही स्वीकार करने को तैयार हो रहें—! (और यदि कोई यह मान सकता है कि मनुष्य इस बात के लिए तैयार है तो शायद वह दूसरों में भी अपनी श्रद्धा से यह विश्वास जमा दे और फिर मनुष्य सचमुच ही तैयार हो जाय। जैसे कि मैंने ही स्वीकार तो किया, मगर मैं ही अपनी स्वीकृति और विश्वास को निष्ठा के बिन्दु तक नहीं ला सका।)

गांधीजी के चले जाने के बाद मैं उन विभिन्न तत्त्वों के मिश्रण पर गौर करने लगा जो उनमें पाये जाते हैं। मैंने उनमें सन्त फ्रांसिस को पाया, जिसने समस्त विश्व के साथ सामंजस्य और विश्व की सब वस्तुओं के साथ प्रेम अनुभव करते हुए गरीबी की सादी जिन्दगी बिताने की प्रतिज्ञा कर रक्खी थी। मैंने उनमें सन्त थॉमस

एक्विन्स को भी पाया, जो संसार का एक महान् विचारक और दार्शनिक हो गया है और जो बड़ी-बड़ी दलीलें देने में समर्थ तथा विचारों के सब तोड़-मोड़ों में उनकी बारीकियों से भली-भाँति परिचित था। इन दोनों के अलावा मैंने उनमें एक व्यावहारिक मनुष्य को भी पाया, जिसके पास अपनी व्यावहारिकता को मजबूत बनाने के लिए कानून की शिक्षा भी मौजूद थी और जो अपनी कुशल सलाह से लोगों को पथ-प्रदर्शन करने के लिए पहाड़ की चोटी से घाटी में भी उतर कर आ सकता था। यों तो हम सब मानव जटिल स्वभाववाले होते हैं, मगर गांधीजी तो मुझे हम सबसे अधिक जटिल प्रकृतिवाले मालूम पड़े। उनका एक अत्यन्त मोहक और रहस्यमय व्यक्तित्व था। अगर वह केवल सन्त फ्रांसिस होते तो समझने में कठिनाई न थी। मगर वैसा एकांत संतपन क्या उतना मंगलमय और उनके देशवासियों के तथा संसार के लिए इतना लाभकारी और उपयोगी भी हो सकता था ? जब मैंने इस प्रश्न पर विचार किया तो मुझे उत्तर मिला—'नहीं।' रहस्य है असल में समन्वय। विभिन्न तत्वों का मिश्रण ही व्यक्तित्व का सार सत्य है। वह संसार के लिए जो कुछ है और संसार के लिए जितना कुछ वह कर सकते हैं उसका कारण है उनका एक ही साथ एक से अधिक बहुत कुछ होना।

यही बात मुझे इस लेख की अन्तिम और गांधीजी की एक और मौलिक विशेषता पर ले आती है जिसका जिक्र किये बिना मैं नहीं रह सकता। मैंने अभी उन्हें वह मनुष्य बताया है जिसमें सन्त फ्रांसिस और सन्त थॉमस के साथ कानूनदां और व्यवहार-कुशल मनुष्य भी मिला हुआ है। इसी को मैं अधिक ठीक और दुरुस्त शब्दों में यों कह सकता हूँ कि गांधीजी के व्यक्तित्व में दो बड़ी परंपराओं का मेल मिलता है—एक तो भारतीय परंपरा, जो सामाजिक जीवन में श्रद्धा, भक्ति तथा दर्शन से युक्त धर्म पर जोर देती है, और दूसरी पाश्चात्य परंपरा जो नागरिक अधिकार और राजनीतिक स्वतंत्रता को ही मुख्य मानती है। और क्योंकि गांधीजी में इन भेदों का समन्वय हो ग्या है इसलिए वह एक महासेतु हैं। उन्हें अपने देश की राजनीति को लौकिक दृष्टि से परे की सतह पर प्रस्तुत और संचालन करने में भी खासी कामयाबी मिली है। धार्मिक परम्पराएं इसमें पूर्ववत् कायम रक्खी गई हैं। वह सफलतापूर्वक ब्रिटिश लोगोंको दिखा सके हैं कि न तो वह राजनैतिक आन्दोलनकारी हैं, न भारतीय राष्ट्रीय समस्या निरी राजनैतिक है। और उन्होंने न सिर्फ भारतीयों और ब्रिटिश लोगों के दर्मियान ही एक सेतु के रूप में प्रतिष्ठा पाई है प्रत्युत पश्चिम (यूरोप) के तमाम लोगों का ध्यान अपनी ओर उन्होंने खींच लिया

है और सबके लक्ष्य का केन्द्र बन गये हैं। जो आदमी सांसारिक कर्म एवं आध्यात्मिक प्रेरणाओं को बिना परस्पर क्षति पहुँचाये मिला सकता है वह आज के विश्व का महामोहक और विराट् पुरुष हो रहे, तो इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है।

इसलिए मैं अपना यह कर्तव्य समझता हूँ कि गांधीजी के रूप में मैं एक ऐसे व्यक्ति की सराहना करूँ, जिसने आध्यात्मिक और ऐहिक का सुन्दर मेल मिलाया है और जो दोनों को भलीभाँति एकसाथ निभाता रहा है। ऐसे व्यक्ति की स्तुति मुझे इसलिए भी करनी चाहिये कि वह पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों को मिलाता है, और यह काम अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना तथा विश्व-प्रेम के लिए एक सबसे बड़ी सेवा है। गांधीजी के एक और रूप को भी मैं नहीं भूल सकता, उस रूप में जब वह हमारे सामने आते हैं तो हम उनको अपने स्वदेश की ऐसी आवश्यकताओं को समझनेवाला और बतलानेवाला पाते हैं, जो बिलकुल सीधी-सादी होती हैं और जिनका लोगों के जीवन से घना संबन्ध होता है। चरखा उनकी इसी दृष्टि का प्रतीक है। भारतवर्ष एक ऐसा महाद्वीप है, जिसमें गाँव ही गाँव हैं और यदि आप किसी भारतीय गाँव को देखें तो आपको मालूम होगा कि गाँववालों की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उनका जीवन अधिक पूर्ण हो, उनके लिए और अधिक काम मिले और उनकी शक्तियों का अधिक-से-अधिक उपयोग हो सके। आज बम्बई के चारों ओर कपड़े के और कलकत्ते के उत्तर में जूट के अनेक कारखाने हैं; परन्तु यदि व्यवसाय और उद्योग को कलकत्ता और बम्बई—जैसे शहरों में रखकर ही संतुष्ट न होकर उन्हें गाँवों में भी लाया जाय तो गाँवों का उद्धार हो जाय और, चूंकि भारतवर्ष में अधिकांश गाँव ही हैं, इसलिए गाँवों के उद्धार से समूचे भारत का लौकिक और आर्थिक कल्याण हो जायगा। गांधीजी ने ग्रामोद्धार के लिए जो काम किया है वह उनकी एक बड़ी देश-सेवा है।

ये विचार हैं जो गांधीजी के बारे में मेरे मन में उस सब संपर्क से उदय होते हैं, जो मैंने उनके बारे में सुन, देख और पढ़कर पायी है। काश, कि मैं अधिक जानता होता! अन्त में मैं यह कहकर अपना लेख समाप्त करता हूँ कि मेरी जानकारी के अनुसार गांधीजी ने भारत तथा संसार को तीन बातें सिखाने की कोशिश की है। वे हैं (१) प्रीति और प्रीत्यर्थ कर्म, (२) कर्ममात्र में हिंसा का परिहार और (३) दिमाग से ही नहीं प्रत्युत हाथ से भी काम करके जीवन में संपूर्णता लाने के लिए समस्त प्राप्त-शक्तियों का सर्वांगीण समर्पण।

: ७ :

ज्योतिर्मय स्मृति

लारेंस विनयान

मैं भारत के बारे में बहुत थोड़ा ज्ञान रखता हूँ। जो किंचित् रखता हूँ, वह उसकी कला के द्वारा। और क्योंकि मै अनुभव करता हूँ कि उस देश की समस्याओं का वहाँ जाकर स्वयं अध्ययन किये बगैर कोई उसकी उलझनों के विषय में ठीक निर्णय नही दे सकता, इसलिए मैंने गांधीजी के राजनैतिक जीवन के सम्बन्ध मे कुछ कहना ठीक नही समझा। यह भी कहने का मै साहस करूँ कि मै उनकी नीति की छोटी-से-छोटी बारीकियों को भी शायद नही समझ सकूँ। मगर इस समय में, जिसे इतिहास मनुष्य-जाति के लिए लाञ्छन के रूप मे देखेगा, मै दिन-प्रति दिन अधिक तीव्रता से यह अनुभव करता जा रहा हूँ कि, आत्मा और मन की वस्तुएँ, या कि वे घटनाएं ही जिनका इनसे उद्भव होकर क्रियात्मक जीवन मे व्यवहार होता है, वास्तव में इस अस्तव्यस्त और क्षुब्ध संसार में सबसे कीमती और महत्व की हैं। वे ही सारभूत और वे ही स्थायी हैं। और जैसा मै समझता हूँ, गांधीजी उन्हीके समर्थन मे जीते है। और यही कारण है कि उनकी स्मृति ज्योतिर्मय है।

: ८ :

एक जीवन-नीति

पर्ल एस० बक

गांधीजी का नाम उनके जीवन-काल में ही एक व्यक्ति का पर्यायवाची न रहकर हमारे वर्तमान दुःखी संसार के लिए एक आदर्श जीवन का पर्यायवाची बन गया है। मेरे लिए उनकी सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस असंयम और बुराई की शक्तियों के बीच भी वह जीवन के उसी मार्ग पर फिर से जोर दे रहे हैं। गांधीजी ने अपने स्वीकृत मार्ग पर चलने का जो आग्रह रक्खा है, उससे मुझे यहाँ यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि दूसरे लाखों के साथ मुझे भी संसार में बढ़ते हुए अत्याचार का अजेय

और अडिग दृढ़ निश्चय के साथ पूर्ण प्रतिरोध करने का साहस प्राप्त हुआ है। इसलिए इस अवसर पर मैं उनको धन्यवाद देती हूँ और उनके प्रति अपनी अगाध स्तुति के भाव प्रदर्शित करती हूँ।

: ९ :

गांधीजी के साथ दो भेंट

लायोनल कर्टिस

१९०३ में पहली बार मैं गांधीजी से मिला। उसकी मुझे अबतक अच्छी तरह याद है। तब मैं उस विभाग में काम करता था, जिसके जिम्मे भारतीय प्रवासियों का पेचीदा और कठिन प्रश्न भी था। उसके बाद से तो अबतक मुझे बहुत-से भारतीयों और चीनियों की मित्रता प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है; लेकिन मुझे विश्वास है कि गांधीजी पहले ही पूर्व-देशीय व्यक्ति थे, जिनसे मैं मिला था। सिर पर हिंदुस्तानी पगड़ी को छोड़कर वह विलायती ढंग के कपड़े पहने हुए थे और उन्हें देखकर मैंने अनुभव किया कि वह एक सुयोग्य युवा वकील हैं। अपने देशवासियों के चरित्र की खूबियाँ समझाते हुए उन्होंने बातचीत प्रारम्भ की। कहा कि हमारे देशवासी अध्यवसायी हैं, मितव्ययी हैं और संतोषी हैं। मुझे याद है कि उन्हें सुनने के बाद मैंने कहा था, "गांधीजी, आप जो समझाना चाहते हैं वह तो मैं पहले ही से मानता हूँ। यहाँ के यूरोपियन हिन्दुस्तानियों के दोषों से नहीं डरते। डर की चीज तो उनके गुण हैं।" बाद के व्यवहार में उनकी जिस विशेषता ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, वह उनका दृढ़ संकल्प था। उसके बाद से ही मैं यह समझने लगा हूँ कि इस दुनिया में ऐसी विशेषतायें कम ही हैं जिनका मूल्य दृढ़ संकल्प से अधिक है।

बरसों बाद, १९१६ में बड़े दिन के लगभग, मैं लखनऊ के कांग्रेस-कैंप में दूसरी बार गांधीजी से मिला। जोहान्सबर्ग के तेज युवक अटर्नी के रूप में जिन गांधीजी को ट्रान्सवाल में मैं जाना करता था, उनसे इनमें जो परिवर्तन पाया, वह मैं कभी नहीं भूलूंगा। वह हिन्दुस्तान के देहाती के-से कपड़े पहने हुए थे और उनके चहरे पर उम्र के साथ तपस्विता के चिह्न थे। सबेरे का समय था। जोर का जाड़ा पड़ रहा था। अंगीठी रक्खी हुई थी जिसपर वह बातचीत करते-करते हाथ सेंक रहे थे।

अंगीठी के सहारे बैठकर हमने बातें कीं। उस समय उन्होंने भरसक वर्ण-व्यवस्था का मर्म, जैसा कि भारतीय समझते हैं, मुझे समझाया।

गांधीजी के अतिरिक्त, यदि हैं तो, थोड़े ही ऐसे आदमी हमारी पीढ़ी में होंगे जिनके इतने अनुयायी हैं, जिन्होंने घटना-चक्रों में इतना परिवर्तन किया है और जिन्होंने एक से अधिक महाद्वीपों में लोगों के विचारों पर इतना प्रभाव डाला है। १९०३ में मिले सुयोग्य युवा वकील में जो आध्यात्मिक शक्तियाँ छिपी हुई थीं, उनका मैं उस समय अनुमान न कर सका था। उस अपनी असफलता को मुझे नम्रतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए।

: १० :

गांधीजी और कांग्रेस

डा० भगवान्दास

बीसवीं शताब्दी के इन अन्तिम चालीस वर्षों का मनुष्य-जाति का तूफानी इतिहास केवल बीस-बाईस नामों का ही खेल है। इनमें से आधे से कम आज भी जीवित हैं। महात्मा गांधी केवल उनमें से एक ही नहीं हैं, अपितु उनमें भी अद्वितीय हैं। कारण कि वह स्वयं राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अहिंसात्मक आध्यात्मिकता के एकमात्र पुजारी हैं। बुद्ध को छोड़कर भारतीय इतिहास में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ता, जो नैतिक शक्ति में गांधीजी से बड़ा हो, अथवा उनके बराबर भी हो। 'वर्तमान' को सदा ही बहुत महत्व दिया जाता है; इसलिए जब हमारा वर्तमान युग बीतकर 'भूतकाल' बन जायगा, शायद तभी यह संभव हो सके कि भावी इतिहासकार कुछ ऐसे व्यक्तियों के नामों का उल्लेख कर सकें, जो महात्मा गांधी के बराबर हों; यह बात जरूर है कि गांधीजी के साथ इन भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक पुरुषों की तुलना करते समय, इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि ये लोग विभिन्न युगों में हुए हैं, और इसलिए इनकी परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न थीं और इनके लक्ष्य भी और-और थे। परन्तु आज, महात्मा गांधी की टक्कर का दूसरा व्यक्तित्व नहीं।

इसलिए मेरे हृदय में उनके प्रति अत्यधिक श्रद्धा पैदा हो जाना स्वाभाविक है। मैं उनके महान् तप का आदर करता हूँ, तप से मेरा अभिप्राय उनके आन्तरिक

ओज, उत्साह और साहस, उनके आत्म-निग्रह तथा पवित्रता, उनके उच्च विचारों की गम्भीरता और संकल्प की दृढ़ता, तथा उनके इन्द्रिय-दमन और इन्द्रिय-संयम आदि गुणों से है। यह वही सात्विक इंद्रिय-दमन और इंद्रिय-संयम है, जो प्राचीनकाल में भारत की, प्रारंभिक और मध्य-युग में ईसाइयों की तथा बाद में मुसलमानों की धार्मिक परम्परा में पाया जाता है। मेरा यह आदर इस कारण है कि उनका तपःप्राप्त आत्मबल एकाग्र मन से भारत की उन्नति में सतत प्रयुक्त होते रहने से उदात्त, बुद्धियुक्त और पवित्र हो गया है।

इसलिए महात्मा गांधी के अद्भुत राजनैतिक नेतृत्व का मैं भारी प्रशंसक हूँ; उनकी तपोगत पवित्रता और 'सर्वभूतहित' के लिए मेरे हृदय में गहरा आदर और उनके अद्भुत आत्म-संयम पर आदर और प्रशंसा दोनों के भाव हैं। उनकी स्थिर संकल्प-युक्त सतत आत्म-परिचालन की शक्ति 'धीरता' (धियम् · इरयति) ऐसी विलक्षण है कि गम्भीर परिस्थितियों में या परीक्षा के कठिन अवसरों और कष्टों में, जिनसे वह घिरे ही रहते हैं, उनका सार्वजनिक वर्तन देखकर कहना होता है कि जब कभी परीक्षा हुई वह ओछे, हलके कृत्य या विचार से मुक्त मिले। उनका अचूक गौरव और सौजन्य, उनकी आत्मा की धीरता, भारत की सेवा में उनकी अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार मन और शरीर की अथक क्रिया-शीलता, इन सबके कारण उनके घोर उग्रतम विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते रहे हैं और प्रायः उनकी इच्छा के अनुसार काम करने के लिए तैयार हो गये हैं।

यह अनुभव करते हुए, यह उचित है कि इस अवसर पर मैं श्रद्धाञ्जलि के रूप में कुछ फूल भेंट करके ही संतुष्ट न हो जाऊँ। ऐसे सत्कार से तो महात्मा गांधी अब-तक ऊब चुके होंगे। इसलिए मैं उनके महान् कार्य के सम्बन्ध में कुछ ऐसे आलोचनात्मक विचार उपस्थित करने का साहस करता हूँ, जैसे मैं पन्द्रह या अधिक वर्षों से कुछ सुझावों के साथ-साथ उनके और भारतीय जनता के सम्मुख रखता आया हूं। महात्मा गांधी ने भारत में जिस नवजीवन का संचार किया है उसके सम्बन्ध में मैं जो विचार प्रकट करूँगा, वे सब अपनी उत्कृष्ट बुद्धि की धृष्टता से नहीं उपजे हैं, बल्कि उनका आधार परम्परागत प्राचीन ज्ञान ही है।

मानव-जगत् चार वर्ष के पश्चात् सन् १९१८ में भयानक अग्निकुण्ड से बाहर निकल पाया। पर उसकी आँख नहीं खुली। अब भी वह फिर रौरव के तट पर खड़ा

है और गिरना ही चाहता है। स्पेन इस युद्ध से नष्ट हो गया और इस युद्ध में फ्रान्को और फासिज़्म की विजय हुई। चीन जान पर खेलकर जापान से लड़ रहा है। पराधीन, शोपित और आध्यात्मिकता से च्युत भारतवर्ष राजनीतिक तथा आर्थिक संघर्ष को अहिंसात्मक रूप से चला रहा है। परन्तु अहिंसा के विलकुल विपरीत यहाँ जबतब साम्प्रदायिक दंगे भी हो जाते हैं। भारत के दुष्ट-बुद्धि, धार्मिक, राजनैतिक 'नेताओं' की कुमन्त्रणाओं और ब्रिटेन की कुटिल राजनीति का यह परिणाम है। धर्म को अपने नफ़े का पेशा बनाकर रखने वाले मजहब के ठेकेदारों ने दोनों मजहबों को उनकी यथार्थता से दूर कर, विरूप, विकृत और कलुषित कर दिया है। इस मूल कारण से ब्रिटिश 'कूटनीतिज्ञ' फायदा उठा रहे हैं। यह कहना कि दोनों जातियों के कोई समान मानवोचित हित नहीं हैं, एक की हानि में ही दूसरे का लाभ है, इस पश्चिमी धारणा की हीं हूबहू पर भोंड़ी नकल है कि कोई देश, राष्ट्र या वंश दूसरे देश, वंश या राष्ट्र पर आतंक जमाकर या उसे दास बनाकर ही फलफूल सकता है। इस धारणा का आधार जीव-विज्ञान का 'जीवन के लिए संघर्ष' नामक वह नियम है, जिसके अनुसार विभिन्न प्राणी जीवित रहने के लिए आपस में लड़ा करते हैं और सबल निर्बल को हड़प कर अपना जीवन धारण करता है। इस नियम की खोज पर यूरोप बहुत गर्व करता है; परन्तु इस नियम से कहीं अधिक बड़ा और अच्छा सिद्धान्त एक और है। उस सिद्धान्त का नाम है "जीवन के लिए सहयोग"। इसको लोग भूल जाते हैं अथवा जानबूझ कर भुला देते हैं। इसका नतीजा यह है कि भारत का सारा वातावरण पारस्परिक द्वेष और अविश्वास की विषैली गन्ध से ओतप्रोत है और प्रत्येक शांति-प्रिय, ईमानदारी और भले हिन्दू और मुसलमान के लिए जीना चिन्तामय हो गया है। बहुत पहले, स्वर्गीय श्री गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था—"हिन्दू, मुसलमान और ब्रिटिश शक्ति त्रिभुज की कोई-सी दो भुजाएं मिलकर स्पष्टतया तीसरी से बड़ी हैं।" इसीलिए, लन्दन में सन् १९३० से १९३३ तक हुई तीन गोलमेज परिषदों का परिणाम यही हुआ कि पृथक् चुनाव-पद्धति पर स्वीकृति की मोहर लगाकर और उसे भविष्य में जारी रखकर दोनों जातियों के पृथक्करण की कलुषित पद्धति की व्यवस्था की गई है। फिर यह तो होना ही था कि नौकरियों में साम्प्रदायिक अनुपात और समानुपात को बढ़ावा देकर ऊपर से नीचे तक की राष्ट्र की सब नौकरियों में साम्प्रदायिक भावना ला दी गई। इन नौकरियों पर रहनेवाले स्वभावतः औसत नागरिक से अधिक चतुर और विज्ञ होते हैं और इनके हाथ में सरकारी अधिकार की भारी शक्ति रहती है; और आजकल प्रायः हर

जगह शक्ति का अर्थ होता है, निर्बल, भले और ईमानदार को सहायता देने की अपेक्षा उसे हानि पहुँचाना और उसके मार्ग में रोड़े अटकाना।

ब्रिटिश कूटनीति ने जबसे पृथक् चुनाव की पद्धति की स्थापना की है, तबसे भारत में साम्प्रदायिक समस्या सब समस्याओं से अधिक तीव्र बन गई है। पहले तो यह पृथक् निर्वाचन-नियम इस शताब्दी के दूसरे दशाब्द में म्युनिसिपल और जिला बोर्डों में दाखिल हुए और फिर इस तीसरे दशाब्द में धारासभाओं में प्रवेश पा गये।

२३ मार्च १६३६ को एक अमेरिकन सम्वाददाता ने महात्मा गांधी से प्रश्न किया—"क्या भारत आपकी पसन्द के माफिक ही उन्नति कर रहा है?" महात्माजी विचारमग्न हो गये और फिर उत्तर दिया—"हाँ, कर रहा है। कभी मुझे इसमें आशंका तो होती है; लेकिन मूल में उन्नति है और वह उन्नति पक्की है। **सबसे बड़ी बाधा** हिन्दू-मुस्लिम मतभेद है। यह एक भारी रुकावट है। इसमें मुझे कोई प्रत्यक्ष उन्नति नही दिखाई देती; लेकिन इस कठिनाई को भी हल होना ही है। हाँ, जनता का दिमाग मुकाम पर है, यदि और नहीं तो इसी कारण कि उसे कोई स्वार्थ नहीं साधना है। दोनों जातियों की राजनैतिक शिकायतें एक ही हैं और आर्थिक शिकायतें भी भिन्न नहीं हैं।"

यह सर्वथा सत्य है कि ये शिकायतें एक ही हैं; परन्तु प्रश्न यह है कि फिर वह दोनों जातियों को यह बात क्यों नहीं मनवा सके और क्यों उनको एक नहीं कर सके? 'कठिनाई को एक दिन हल होना है'—निस्सन्देह यह हल होगी; परन्तु जैसे स्पेन में हुई वैसे ही, शांति से? क्या यह सम्भव है कि कुछ ऐसा किया जा सके, जिससे यह शांति के साथ हल हो जाय? "जनता का दिमाग मुकाम पर है, यदि और नहीं तो इसी कारण कि उसे कोई स्वार्थ नहीं साधना है"—क्या यह कथन जरा गोलमोल नहीं है?

चीन, जापान और शेष एशिया की तरह भारत में भी 'जनता' का अधिकांश किसान है। ये किसान सब जगह अत्यन्त 'व्यक्तिगत परिधि में रहनेवाले' और 'स्वार्थी' होते हैं। परन्तु यह मान भी लें कि ये अपेक्षाकृत ठीक-ठीक और 'निस्वार्थ' हैं तो भी क्या इन्हें धर्म के यथार्थ तत्वों और उचित सामाजिक संस्थान के कुछ मुख्य-मुख्य मूलभूत सिद्धान्तों की विधिवत् शिक्षा मिली है? कठिनाइयों का शांति से हल स्वतः हो जानेवाला नहीं है। हममें से कुछ तो यह अनुभव करते हैं कि सब धर्मों के समान मुख्य तत्वों और उचित समाज-व्यवस्था के मूलभूत सिद्धान्तों

के ज्ञान का अनवरत प्रचार करने से ही साम्प्रदायिक समस्या का हल सम्भव होगा ।

कांग्रेस जिस राजनैतिक और आर्थिक आंदोलन को चला रही है वह ऊपर से तो बहुत कुछ अहिंसात्मक है; परन्तु भीतर से वैसा नहीं है । कांग्रेस के भीतर अनेक प्रकार की बुराइयाँ फैली हुई है । चुनावों में कांग्रेस के पदों के लिए मत-पेटियाँ लूटी गई, जलाई गई, उड़ा ली गई; लाठियाँ चलीं और कई बार गहरी चोटें भी आई—एक-दो ऐसी घटनाओं में हत्या भी हो गई; जैसा कि ब्रिटेन में भी कुछ दिन पहले तक ही होता था। साप्ताहिक 'हरिजन' में महात्मा गांधी के लेख इसके साक्षी है। दूसरे प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है; यदि पड़े ही तो मार्च १९३९ के त्रिपुरी कांग्रेस के खुले अधिवेशन में निर्विरोध पास हुए "अनीति-विरोधी" प्रस्ताव पर दिये गये भाषणों को पढ़ लेना काफी होगा । लेकिन इस चित्र का सुनहला पहलू भी है। निर्वाचकों की अमित संख्या और निर्वाचन-क्षेत्रों के विस्तार को देखते हुए, तथा यह ध्यान में रखकर कि यह चुनाव का "पहला प्रयोग" था, ऐसी-ऐसी दुःखद घटनाओं की संख्या कोई अधिक नहीं कही जा सकती ।

कुल मिलाकर इस परिस्थिति में जनता के प्रेम में जाग्रति उत्पन्न करने के लिए जो सर्वोत्तम सुंदर साधन उपलब्ध थे, वे जाग्रति उत्पन्न करने तक तो आश्चर्यजनक रूप से सफल हुए; परन्तु महात्मा गांधी के ये उपाय जितने सफल होने चाहिए थे, उतने सफल क्यों नहीं हुए ? स्पष्ट ही नेतृत्व में कोई **बड़ी गहरी कमी** रह गई है। मैं यहाँ यह दुहरा दूं कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में अहिंसात्मक असहयोग या भद्र-अवज्ञा—कुछ भी कहिए—निस्संशय यही एक सर्वोत्तम साधन है । इस तरीके से महात्मा गांधी ने भारतीयों में संकल्प की शक्ति भरने में एक जादू-सा किया है । उन्हें एक शान्तिशाली शस्त्र दे दिया है । यह तरीका लोगों की प्राचीन भावना और परम्परा के अनुकूल है । 'धरना' या धारणा (अत्याचारी के द्वार पर बुराई दूर न होने तक मरण का निश्चय करके बैठे रहना) प्रायोपवेशन (आमरण अनशन), उपवास, आज्ञाभंग, भद्रअवज्ञा, देश-त्याग, राज-त्याग, राजा को छोड़ देना, 'राजा तत्र विगर्ह्यते' (खुलेआम राजा की निन्दा) आदि ये कुछ प्राचीन पुस्तकों में वर्णित अहिंसामय उपाय हैं, जो अधिकार के दुरुपयोग को रोकने के लिए काम में लाये जा सकते हैं। हाँ, खास परिस्थितियों में जब शांतिमय उपाय असफल हो जाय तब सशस्त्र युद्ध की न केवल आज्ञा ही है, अपितु इसका विधान भी है।

ये सब उदात्त प्रयत्न यदि फल नहीं दे पाते हैं तो इसका कारण "कोई और कमी" है। किसी अनिवार्य वस्तु के अभाव से ही नुस्खा रोगनिवारण में असफल रहा है। वह अबतक रोग को शान्त भी नहीं कर सका। न महात्मा गांधी ने, न 'हाई कमाण्ड' ने कभी कोई ऐसी योजना बनाई, जिसके अनुसार मंत्रिगण मिलकर, एक ढंग मे सर्वसाधारण के हितार्थ कानून-रचना का कार्य करें। वे भविष्य के गर्भ मे निहित 'वैधानिक एसेम्बली' की प्रतीक्षा में हैं कि वह यह काम करेगी। निस्सन्देह कुछ प्रान्तों में यह असन्तोष, अन्य प्रान्तों की अपेक्षा, 'अपने ही प्रान्त के' मन्त्रियों से अधिक है। है यह सब प्रान्तों में, कहीं एक बात को लेकर तो कहीं दूसरी बात को लेकर। यह कारण प्रान्त-प्रान्त में अलग-अलग है। हम कुछ लोग पिछले वर्षों से कांग्रेस के 'हाई कमाण्ड' और 'लो कमाण्ड' का तथा सामान्य जनता का ध्यान इस भारी कमी की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करते आ रहे हैं और उसकी पूर्ति के लिए कुछ मार्ग-निर्देश भी करते रहे हैं। परन्तु अबतक यह सब व्यर्थ रहा है। अब तो कांग्रेस में जो मतभेद पैदा हो गया है, वह शायद 'नेताओं' और जनता का ध्यान हठात् इस ओर आकर्षित करेगा। इस मतभेद का परिणाम अत्यन्त दूरगामी होगा। यदि यह दूर न हुआ तो कांग्रेस ने पिछले बीस वर्ष के आत्मत्याग और बलिदान से जो कुछ प्राप्त किया है वह सब जाता रहेगा। उसमें यदि सुधार होगा और कलह की जगह एकता लेगी तो यह कार्यक्रम में उस भारी त्रुटि को दूर करने पर ही सम्भव होगा और जो संकल्पशक्ति देश ने हाल में प्राप्त की है, वह इसी भाँति बाल-रोगों, आंतरिक ज्वरों और आत्मघात से बचाई जा सकती है। इसी उपाय से इस राष्ट्र-संकल्प को वह ऐक्य प्राप्त होगा, जिसका अभाव उसे अकाल-मृत्यु के मुह में लिये जा रहा है।

परन्तु ऊपर की आवश्यक बात कहते हुए भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कांग्रेसी-मंत्री बड़ी मिहनत से काम कर रहे हैं और मद्यपान की बुराई मिटाने, साक्षरता फैलाने, किसानों का ऋण-भार कम करने, स्थानीय उद्योगों को प्रोत्साहित करने, स्वास्थ्य का सुधार करने और रोगों को रोकने में बड़ी कोशिशें कर रहे हैं। उन्हें जैसी चाहिए वैसी सफलता इसलिए नहीं मिल रही है कि कांग्रेस के अनुयायियों की निर्बलता के कारण उन्हें स्थाई सरकारी सर्विसों से पर्याप्त सहयोग नहीं मिल रहा है, और सबसे बढ़कर इसलिए कि जनता को **स्वराज्य, 'स्वशासन' शब्द की उचित व्याख्या नहीं बताई गई।**

न महत्मा गांधी ने, न पं० जवाहरलाल नेहरू ने, न श्री सुभाषचन्द्र बोस ने, न हाई कमाण्ड के किसी सदस्य ने, और न कांग्रेस के किसी दूसरे गण्य-मान्य 'नेता' ने ही जनता के सम्मुख कभी 'स्वराज्य' शब्द की व्याख्या करने का प्रयत्न किया (स्व० चित्तरंजन दास ने एक बार किया था)। सन् १९३६ या १९३७ तक महात्मा गांधी तो समय पड़ने पर यही कहते थे कि मेरे लिए तो औपनिवेशिक राज्य ही स्वराज्य है। अपनी एक हाल की भेंट में, जिसका पीछे जिक्र है, उन्होंने कहा था—"मैं स्वयं ठीक नहीं कह सकता कि मैं इस विषय में कहां हूं।" कुछ भी हो, औपनिवेशिक राज्य तो उसी ब्रिटिश शासन-पद्धति की नकल है जिसे माना प्रजातन्त्र जाता है, पर मूल में है 'गुट्टतंत्र'। महात्मा गांधी ने भारत के लिए आवश्यक सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में भी, जो निरी शासन-पद्धति से भी कुछ अधिक जरूरी चीज है—कोई निश्चित विचार प्रकट नहीं किये हैं। एक बार पूना में, यदि मैं भूलता नहीं तो, सन् १९३४ में उन्होंने समाज-व्यवस्था के विषय को लेने से ही स्पष्ट इन्कार कर दिया था। कह दिया था यह तो 'बड़ी बात' है। महात्मा गांधी ने बड़ी स्पष्टवादिता से बार-बार ऐसी बातें दुहराई हैं कि "मैं आगे की बात नहीं बता सकता।" "मुझे अपने चारों ओर अंधेरा-ही-अंधेरा दिखाई पड़ता है"। "मुझे अपने में अब वैसा विश्वास नहीं रह गया जैसा पहले था।" "यदि मेरे पास स्वराज्य की योजना हो तो जनता के सामने लाने में देर न करूं।" "जनता के द्वारा चुनी जानेवाली भावी वैधानिक एसेम्बली ही इसका निर्णय करेगी।" भारत को स्वराज्य मिलेगा या नहीं, इसका निर्णय भी यही वैधानिक एसेम्बली क्यों न करे! इस सम्बन्ध में महात्मा गांधी के सम्पूर्ण विचारों का संग्रह उनकी 'हिन्द स्वराज्य' नामक पुस्तक में है। इस पुस्तक का सारांश यह है कि अर्वाचीन सभ्यता की जो विशेषतायें या खास-खास चीज हैं—जैसे यंत्र, रेलवे, जहाज, वायुयान, बिजली का प्रकाश, मोटर-गाड़ी, डाक, तार, छापेखाने, घड़ियाँ, अस्पताल, शिक्षापद्धति, शिक्षणालय, चिकित्सा-पद्धति, आदि—ये सब बुरे हैं और इनको केवल सुधार लेना, सही कर लेना और व्यवस्थित कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु ये सर्वथा त्याज्य हैं। जाहिरा तौर पर इसी भाँति यह भी कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता के बहुत से अंश भी—जैसे विशाल मंदिर, नक्काशी के घाट और महल, ललित कलायें, शाल और कमखाब, ज्ञान-विज्ञान और साहित्य आदि-जीवन की 'शोभा' बढ़ानेवाली सब चीजें भी हेय हैं और मिट जानी चाहिए, तथा आद्य कृषि-जीवन ही फिर हो रहना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर और प्रकृति

मनुष्य-जाति से यही चाहते हैं। लेकिन 'सभ्यता' और इसकी कलायें तथा विज्ञान भी तो प्रकृति की उपज है।

पर दुर्भाग्य यह है, और महात्मा गांधी निर्मल हृदय से स्वयं खुलकर स्वीकार भी करते हैं कि वह "केवल सत्य का मार्ग दिखा सकते हैं; परन्तु स्वयं सत्य को नहीं। और उन्होंने उस पूर्ण सत्य को स्वयं देखा भी नहीं है, जिसको भारत के प्राचीन ऋषियों ने देखा, दिखाया और जिसका मार्ग भी बताया था। व्यक्ति-समष्टि-तंत्र के सत्य का जो सम्पूर्ण दर्शन ऋषियों ने पाया था, वह महात्मा गांधी को प्राप्त नहीं हुआ है। उनके 'हिन्द-स्वराज्य' में जो सत्य है वह उसी तथ्य का अस्पष्ट आभास मात्र है जिसका उपनिषदों, गीता और मनुस्मृति ने प्रतिपादन किया है। उपनिषदादि प्रतिपादित तथ्य यह है कि इस सारी पृथक्-पृथक् चेतन सत्ता और सारी जीवन क्रिया का मूलाधार और आदि-कारण अविद्या या माया है, जिससे हम यह मान लेते हैं कि अनादि-अनन्त आत्मा और हाड़-मांस का पिण्ड, यह शांत शरीर दोनों एक ही हैं। इसी से 'अहंकार,' 'स्वार्थ-भावना,' 'राग-विराग,' 'प्रेम और घृणा' का जन्म है, और इसी कारण 'परमार्थ,' 'आत्म-त्याग,' 'दान-दया,' आदि भावनाएं सम्भाव्य और यथार्थ बनती हैं, अन्त में सब मानवीय दुःख-सुख भी त्याग कर पूर्ण समाधि अर्थात चित्तशक्ति के सर्वोच्च तत्व में फिर से लीन हो जाना चाहिए। लौटकर केवल किसानी जीवन पर पहुँच जाना ही काफी नहीं होगा। इस सचाई पर चलने के लिए हमें और भी पीछे जाना पड़ेगा। राष्ट्रों और व्यक्तियों को इसी प्रकार लौटना पड़ेगा; लेकिन उचित अवसर देखकर अर्थात् सब पदार्थों का भोग तथा अनुभव करने और अपेक्षाकृत कल्याण-मार्ग पर चलते रहने के और 'स्वार्थ' तथा 'परमार्थ' की अपनी सब तृष्णा-वासनाओं को तृप्त करने के पश्चात। महात्मा गांधी ने प्रायः 'स्वराज्य' का अर्थ 'रामराज' किया है; परन्तु यहाँ भी रामराज का निश्चित लक्षण नहीं बताया। लेकिन अगर वाल्मीकि का विश्वास करें तो रामराज तो निरे कृषि-जीवन से बहुत भिन्न था। इसमें कृषि जीवन को प्रधानता अवश्य थी; लेकिन इसमें केवल गाँव ही नहीं थे, अच्छे शहर भी थे। राम की अयोध्या का वाल्मीकि-कृत वर्णन अधिक रमणीय होते हुए भी रावण की सुनहरी लंका की भाँति ही महिमामय है। और लंका तो 'यांत्रिक' ही अधिक थी।

भारत की वर्तमान अवस्था और इसके अन्दरूनी मतभेदों को देखकर हमारी युवक शिक्षित पीढ़ी की आँखें रूस और उसके बोल्शेविज़म, समाजवाद या साम्यवाद पर जा टिकती हैं—यद्यपि रक्तपात द्वारा जब-तब की जाने वाली पार्टी-शुद्धि Purges

की खबरों से वे भयभीत भी हैं। दूसरी ओर कांग्रेस के (और उसके बाहर के) पुरानी पीढ़ी के लोगों की आँख, दास-मनोवृत्ति की निन्दा करके भी, ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों के, अमेरिका के, और शायद फ्रांस के भी, प्रजातंत्रवाद—या उसे कुछ भी कहिये—पर जमी हुई है। भारत में कोई भी नाजीवाद या फासिज्मके 'आदर्श' का सुप्रत्यक्ष समर्थन नही करता दीख पड़ता। तो भी हममें से कम-से-कम कुछ तो यह अनुभव करते है कि यदि सब 'वाद' अपनी 'अतिशयता' छोड़ दें और इसके स्थान पर सच्चे आध्यात्मिक धर्म की थोड़ी-सी मात्रा और कुछ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त ग्रहण कर लें तो वे तत्काल एक-दूसरे से हिलमिल ही नही जायंगे, परस्पर आलिंगन भी करने लग जायँगे। इन सब 'विचार-धाराओं' और 'वादों' ने भलाई की है और पाप भी कमाया है। वे केवल अपने-अपने पक्ष के गर्म मिजाजियों के कारण ही एक-दूसरे को घूर रहे हैं, और यही इनकी गर्मदिली अपने-अपने आदमियों की ताकत 'युद्ध का संगठन' करने में खर्च कर देती है, 'शांति की व्यवस्था' करने में नही।

दुर्बल जातियों के साथ पश्चिमी सभ्यता ने जो पाप किये है, वे अब प्रकट हो रहे है। भाग्य उसका सूत के धागे मे लटकता दीखता है। उस सभ्यता की ऐसी संकटमय और मरणासन्न हालत देखकर हमारे 'प्रजातंत्री' और 'समाजवादी' नेताओं का अनेक पश्चिमी वादों के प्रति मोह और जोश दूर नही तो कम तो पड़ना ही चाहिए, क्योंकि इन वादों की स्वयं पश्चिम के ही बहुत से प्रमुख वैज्ञानिक और विचारक प्रबल निंदा कर रहे हैं। इससे चाहिए कि वे और हम अपने पुराने काल-परीक्षित समाज-व्यवस्था के सिद्धान्तों की ओर जायं और उनपर गंभीरता से विचार करें। प्रश्न हो सकता है कि यदि वे सिद्धान्त इतने अच्छे थे तो भारत का पतन क्यों हो गया ? उत्तर यह है कि इनके संरक्षकों मे शील-चारित्र्य नही रहा, उनकी 'स्पिरट', 'आत्मा' बदल गई, 'दिमाग' बिगड़ गया, भले सिद्धान्तों का व्यवहार छोड़ दिया गया, उनकी उपेक्षा की गई; यही नही उनके स्थान पर बुरे सिद्धान्त अपना लिये गये। भारत के विधि-विधान के संरक्षक 'तप' और सद्ज्ञान दोनों खो बैठे। कोई राष्ट्र, कोई जाति, कोई सभ्यता तबतक पनप नही सकती जबतक उसके अन्तरंग में ठोस सत्य न हो और दुर्दमनीय हृदय और मस्तिष्क न हो। राष्ट्र का बल होते है ऐसे व्यक्ति, जो स्वभाव से परमार्थी, त्यागी और ज्ञानी है। जो राष्ट्र या जाति 'हृदय और मस्तिष्क' की इस शक्ति को नही बना या पाल सकते, वे या तो भ्रष्ट होकर, या किसी प्रचंड आकस्मिक घटना से, युद्ध के ध्वंस से अकाल ही काल के ग्रास हुए

बिना या गुलाम बने बिना और दूसरों की दया पर जिये बिना नहीं रह सकते। भारत के भाग्य में यह दूसरी बात लिखी थी उनके बुद्धिबल की; परन्तु भारत में अभी तक बहुत-कुछ जीवन बच रहा है, और नया जीवन मिलने का भी पूरी सम्भावना है, यदि महात्मा गांधी के 'तप' में आवश्यक, 'विद्या' का मेल हो जाय।

महात्मा गांधी आज हमारी महत्तम नैतिक और तपःशक्ति है। बस, आवश्यकता है कि समाज-व्यवस्था-संबंधी पुरातन विद्या और ज्ञान का संयोग प्राप्त हो जाय। गांधीजी तब भारत की रक्षा कर सकेंगे और इसको एक ऐसा ज्वलंत आदर्श बना सकेंगे कि पश्चिम भी अनुकरण करेगा। यह देश तब पश्चिम के आकार-प्रकार की ही एक निस्तेज और विकृत छाया-मात्र नहीं रहेगा।

यह काम तभी होगा जब कि महात्मा गांधी और कांग्रेस के दूसरे नेता इस संबंध में अपने-अपने मस्तिष्क निर्भ्रांत कर लेंगे और भारतीय जनता के अनुकूल सर्वोत्तम सामाजिक रचना या व्यवस्था के संबंध में अपने निश्चित विचार बना लेंगे। तब उन्हें हिन्दू, मुसलमान और ईसाई स्वयंसेवकों का एक मजबूत दल संगठित करना होगा। ये स्वयंसेवक त्यागी, घूमने-फिरने और कड़ा परिश्रम करने के आदी, बौद्धिक क्षमताओं से संपन्न हों। यदि वह सम्पन्नता न हो तो उसे प्राप्त करने की तत्परता होनी चाहिए। ये स्वयंसेवक ऐसे हों, जो मिलकर भारत के कोने-कोने में निम्न संदेश सुनाने में अपना जीवन अर्पित कर दें। यह संदेश दो प्रकार का होगा। प्रथम, केवल भारतीयों के लिए ही नहीं, अपितु जाति, धर्म, रंग, वंश या लिंगभेद के बिना समग्र मानव-जाति के हित के लिए प्राचीन बुजुर्गों द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक समाजवादी योजना और संगठन का ज्ञान-प्रसार। दूसरा, एक ही विश्व-धर्म की यह घोषणा कि मूलतः सब धर्म एक और अभिन्न ही हैं। कांग्रेस कमेटियां प्रत्येक नगर और जिले में है, और रियासतों में भी है। वे स्वयंसेवकों को इस काम में सुविधा पहुँचा सकती हैं। वे स्वयंसेवक लोकमत को शिक्षण देंगे और लोगों को बतायंगे कि 'स्वतंत्रता' का अर्थ अपने अधिकारों का प्रयोग करने की आजादी तो है ही; पर उससे भी अधिक अर्थ है उन कर्तव्यों का पालन, जो कि उक्त समाज-रचना की योजना में भिन्न-भिन्न व्यवसाय के लोगों के लिए निश्चित किये गये हों।

: ११ :

गांधीजी का राजनेतृत्व

अलबर्ट आइन्स्टीन

गांधीजी राजनैतिक इतिहास में अद्वितीय हैं। उन्होंने पीड़ित लोगों के स्वातंत्र्य-संघर्ष के लिए एक बिलकुल नई और मानवोचित प्रणाली का आविष्कार किया है और उसपर भारी यत्न और तत्परता से अमल भी किया है। उन्होंने सभ्य संसार में विचारवान् लोगों पर जो नैतिक प्रभाव डाला है उसके पाशविक बल की अतिशयोक्ति से पूर्ण वर्तमान युग में बहुत अधिक स्थाई रहने की संभावना है, क्योंकि किसी भी देश के राजनीतिज्ञ अपने व्यवहारिक जीवन और अपनी शिक्षा के प्रभाव से जिस हद तक अपने देशवासियों के नैतिक बल को जाग्रत और संगठित कर सकेंगे उसी हद तक उनका काम चिरस्थाई रह सकेगा।

हम बड़े भाग्यशाली हैं और हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि ईश्वर ने हमें ऐसा प्रकाशमान समकालीन पुरुष दिया है—वह भावी पीढ़ियों के लिए भी प्रकाश-स्तम्भ का काम देगा।

: १२ :

गांधीजी : समाज-विज्ञानवेत्ता और आविष्कर्ता

रिचर्ड बी० ग्रेग

यंत्र के सम्बन्ध में गांधीजी के जो विचार हैं, उनको लोगों ने ठीक-ठीक नहीं समझा। इसीलिए पश्चिमी देशों में गांधीजी को वैज्ञानिक का 'बिलकुल उल्टा' माना जाता है; परन्तु, ऐसा मानना ठीक नहीं है।

वह एक समाज-वैज्ञानिक हैं क्योंकि, वह सामाजिक सत्य की खोज वैज्ञानिक ढंग से करते हैं—पहले वह तथ्यों का निरीक्षण करते हैं, फिर उस निरीक्षण के आधार पर उनकी अन्त:वृत्ति जिस अपनियम को बनाती है, उसको वह बौद्धिक रूप देते हैं और अन्त में उसकी सचाई की जाँच के लिए प्रयोग करते हैं। उन्होंने मुझे एक बार

बतलाया था कि मैं पश्चिमी वैज्ञानिकों को बहुत पूर्ण नहीं मानता; क्योंकि उनमें से अधिकतर अपने अपनियमों या स्थापनाओं को अपने ऊपर नहीं परखना चाहते। परन्तु वह और किसी को अपनी स्थापनाओं पर अमल करने के लिए कहने से पहले, उनको अपने ऊपर परखकर देख लेते हैं। वह ऐसा अपनी सभी कल्पनाओं के बारे में करते हैं—चाहे वे भोजन, स्वास्थ्य, चरखा, जात-पाँत अथवा सत्याग्रह, किसी भी विषय में क्यों न हो। उन्होंने अपनी आत्म-कथा का नाम ही 'मेरे सत्य के प्रयोग' रक्खा था।

गांधीजी केवल वैज्ञानिक नहीं हैं, वरन् वह सामाजिक सत्य के क्षेत्र में एक महान वैज्ञानिक हैं। समस्याओं का चुनाव, उनको सुलझाने के ढंग, सत्य की खोज में लगन और पक्काई तथा मानव-हृदय के ज्ञान की गहराई—इन सभी दृष्टियों से वह महान हैं। उनके सामाजिक आविष्कारों की महत्ता इस बात में है कि उनकी कार्य-प्रणालियाँ ऐसी होती हैं कि जनता के विचारों और भावों की संस्कृति तथा प्रवृति का उनके साथ मेल हो जाता है और वे उसकी आर्थिक तथा औद्योगिक साधनों के अनुकूल पड़ती हैं। मेरी समझ में उनका बड़प्पन इसको समझने में भी है कि किन बातों को त्याग देना चाहिए और किनको बचाये रखना चाहिए। किसी सुधार पर कब और कितनी शीघ्रता से अमल करना चाहिए, यह परख लेने की उनकी योग्यता भी उनकी महत्ता की साक्षी है। वह जानते हैं कि प्रत्येक समाज किसी भी अवसर पर एक विशेष सीमा तक ही परिवर्तन के लिए तैयार होता है। वह जानते हैं कि कुछ परिवर्तन तो गर्भावस्था में देर तक रहने पर भी एकदम जन्म ग्रहण कर लेते हैं, और दूसरे कई परिवर्तन पूर्ण होने के लिए, कम-से-कम तीन पीढ़ी तक समय ले लेते हैं। वह जानते हैं कि कई मामलों में लोग पुराने जन्म-परंपरागत अभ्यासों और विचारों को त्यागकर नयों को उनके मुख्य फलितार्थों-सहित शीघ्र ग्रहण नहीं कर लेते हैं। सामाजिक बातों के नूतन आविष्कारों के मामले में उनकी महत्ता का एक और प्रमाण है कि वह जब कभी कोई नया सामाजिक सुधार आगे रखते हैं तब उसे पूरा करने के लिए आवश्यक प्रभावशाली संगठन पहले ही कर लेते हैं। संगठन और शासन की सब बारीकियों के वह पूर्ण ज्ञाता हैं। न जाने कितने क्षेत्रों में उनके कामों में परिणाम-स्वरूप उनकी असाधारण महत्ता पहले ही सिद्ध हो चुकी है; और मेरा विश्वास है कि इतिहास उन क्षेत्रों में भी उनकी महत्ता सिद्ध कर दिखलायेगा। जिनमें उनका कार्य प्रारंभ ही हुआ है।

उन्होंने जिन व्यापक और कठिन सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए

विशेष रूप से काम किया है वे हैं, (१) गरीबी, (२) बेकारी, (३) हिंसा—व्यक्ति-व्यक्ति, जाति-जाति और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच की, (४) समाज के स्थानापन्न वर्गों का पारस्परिक अनैक्य और संघर्ष, (५) शिक्षा और (६) कुछ कम हद तक सफाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य, भोजन और कृषि-संबंधी सुधार। ये सब समस्याएं बड़ी हैं, इसे सब मानेंगे। मैं इनपर उलटे क्रम से विचार करता हूँ।

सफाई और सार्वजनिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में गांधीजी अनुभव करते हैं कि कई समस्याएं तब तक हल नहीं हो सकतीं जबतक कि लोगों की गरीबी कम न हो जाय। तो भी उन्होंने अपने आश्रमों में स्वास्थ्य के कई ऐसे सरल उपायों को आजमाया और उनपर अमल किया है, जो किसानों को—जो कि आबादी का बहुत बड़ा भाग हैं—सुलभ हो सकते हैं। उन्होंने कई कार्यकर्त्ताओं को इन उपायों का प्रयोग सिखलाया है और धीरे-धीरे कई जगहों में उनपर अमल किया जा रहा है।

गांधीजी ने समाज के एक-दूसरे से पृथक सामाजिक वर्गों का पारस्परिक भेद मिटाने में—विशेषत: हरिजनों के उद्धार में—बड़ी प्रगति की है। मैं और कोई ऐसा देश नहीं जानता, जिसमें सामाजिक एकता स्वेच्छापूर्वक, और इसलिए वास्तविक आंदोलन आन्तरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से इतना अधिक सफल हुआ हो। हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष की समस्या का बहुत बड़ा कारण राजनैतिक परिस्थितियाँ हैं, जिनपर गांधीजी या अन्य कोई भारतीय काबू नहीं पा सकता; तो भी जब भारत स्वतंत्र हो जायगा तब यह समस्या सुलझ जायगी और इसे सुलझाने में गांधीजी का उपाय बहुत काम देगा।

सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में गांधीजी ने हाल में एक ऐसी योजना आरम्भ की है, जिसमें विद्यार्थियों को सब कुछ किसी-न-किसी दस्तकारी द्वारा सिखलाया जायगा—जो कुछ सिखलाना होगा, उसका उस खास दस्तकारी की क्रियाओं से ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संबंध कर दिया जायगा। हम सबको जिन आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, उनमें यह योजना विशेष आशाजनक है। इससे न केवल विद्यार्थी पढ़ते-पढ़ते अपनी पढ़ाई का खर्च कमाने के लायक हो सकेंगे, बल्कि यह शिक्षा में से बहुत-से कूड़े-कचरे को साफ करके उसे जीवन के लिए उपयोगी बना देगी। एक और बड़ा लाभ यह होगा कि शिक्षा कम-से-कम राष्ट्रीय व्यय में जनता के लिए सुलभ हो जायगी। इसके अतिरिक्त मानव-जाति के विकास में मनुष्य का मन सदा हाथ और आँख का सहारा लेता रहा है—यह योजना इस विचार के भी अनुकूल है।

हिंसा की समस्या और उसे हल करने के गांधीजी के उपाय पर मैंने अपनी पुस्तक 'दि पावर ऑव नॉन-वायलेन्स'[1] में विचार किया है और यहाँ मैं उसपर ज्यादा विवेचन नहीं करूँगा। यद्यपि उनके उपाय से भारतवर्ष को अभी स्वतंत्रता नहीं मिल सकी, तथापि इसने बड़ी उन्नति करके दिखलाई है और प्रायः सारी-की-सारी जनता के राजनैतिक और सामाजिक विचारों को परिवर्तित कर दिया है। अधिकांश लोगों ने पहले की भांति अपनी हीनता को छोड़ दिया है और उनमें आशा, आत्म-विश्वास, राजनैतिक उत्साह आ गया है और एक नये प्रकार के नवीन बल का परिचय दिया है। मुझे विश्वास है कि गांधीजी के उपाय से भारत स्वतंत्र होकर रहेगा। इतना ही नहीं, बल्कि यह तमाम दुनिया की काया-पलट कर देगा।

गरीबी और बेकारी की समस्याओं को गांधीजी धुनने, कातने, कपड़ा बुनने और दूसरी दस्तकारियों के पुनरुद्धार द्वारा हल करना चाहते हैं। उनकी इस योजना के औचित्य का पश्चिम में—और पश्चिमी शिक्षा तथा रहन-सहन में दीक्षित भारतीयों द्वारा भारत में भी—इतना अधिक विरोध किया गया है कि मैं इसकी पुष्टिमें पश्चिमी विचार-प्रणाली से ही विस्तार के साथ विवेचन करना पसन्द करूँगा।

भारत में यह अनुभव किया जाता है, परन्तु अन्यत्र प्रायः नहीं, कि भारत की विशेष ऋतु के कारण, वर्षा-ऋतु का समय छोटा और गरमी तथा सूखे का समय बहुत बड़ा होने के कारण, बहुधा सारे भारत में किसान तीन से छः महीने तक बिलकुल निकम्मा रहता है। बहुत सख्त गरमी में वह कठोर जमीन को जोत नहीं सकता और न फसल बो या काट सकता है। भारत के विशाल भूभाग में खेतों और जंगलों में सचमुच काम करनेवाले मजदूरों की संख्या लगभग बारह करोड़ है और इस कारण, देश की सारी आबादी के साथ अपने अपेक्षाकृत और एकान्त रूप से भी खेतिहर ग्रामीणों की इस सामयिक बेकारी का अनुपात और संख्या प्रतिवर्ष बहुत बड़ी रहती है। माली नुकसान बहुत ज्यादा होता है। इसके आरण होनेवाले नैतिक और मानसिक पतन और ह्रास भी भयंकर हैं। जबतक पश्चिम से मिल का बना कपड़ा भारत में नहीं आया था तबतक किसान इस फालतू समय को कातने, कपड़ा

---

[1] **इसका हिंदी रूपांतर 'मंडल' से 'अहिंसा की शक्ति' के नाम से निकला है। मूल्य १।।)**

बुनने और अन्य दस्तकारियों में खर्च करते थे। आज भी हिन्दुस्तान के लिए आवश्यक कपड़े का एक-तिहाई हाथ-करघों से बुना जाता है। रूई हिन्दुस्तान के प्रायः सब प्रान्तों में पैदा होती है। इस में काम आनेवाले हाथ-औजारों का खर्च छोटी माली हैसियत का किसान भी उठा सकता है, हस्त-कौशल की परम्परा अभी बिलकुल मिट नहीं गई है। हाथ-बने कपड़े की बाजारू कीमत मिल के कपड़े से बहुत ऊँची नहीं बैठती और जो अपना सूत आप कातें उनको तो और भी कम पड़ती है। आबादी के ज्यादातर हिस्सों में कपड़े का खर्च रहन-सहन के तमाम खर्च के पाँचवें से छठे हिस्से तक बैठता है। जो लोग अपना गुजारा बहुत कठिनाई से कर पाते हैं, वे यदि बिना किसी खास मेहनत के अपने तमाम खर्च का दसवाँ हिस्सा भी बचा सकें तो उनके लिए यह बड़ी चीज है। हाथ का यह काम न केवल आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान् है, बल्कि यह आशा, सूझ-बूझ, आत्म-सम्मान और स्वावलम्बन का भी प्रबलता से संचार करनेवाला है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बहुत अर्से की बेकारी और गरीबी से इन गुणों का नाश हो चुका है। दस्तकारी की इस स्वास्थ्यदायिनी शान्ति को मानसिक रोगों के वर्त्तमान चिकित्सकों ने भी भलीभांति स्वीकार किया है और आजकल "औक्यूपेशनल थैरापी' (औद्योगिक चिकित्सा) के नाम से दस्तकारी को अनेक मानसिक रोगों के, खास कर निराशा और पागलपन के, इलाज में प्रयुक्त किया जाता है। इन कारणों से भारतीय बेकारी को दूर करने के लिए इस धन्धे को पुनरुज्जीवित करने का प्रस्ताव इतना बेहूदा नहीं है, जितना कि ऊपर से मालूम पड़ता है।

लेकिन इतने पर भी बहुत से लोग इस विचार का मजाक उड़ाते और यह कहकर इससे नाक-भौं सिकोड़ते हैं कि यह तो पीछे को लौटना हुआ, यह इतिहास-विरुद्ध है, यह समय की गति को पीछे फेरने का यत्न है। यह श्रम-विभाग के अत्यन्त सफल सिद्धान्त का परित्याग और यंत्रों और विज्ञान की अवहेलना करना है।

किसी भी उद्योग-व्यवसाय-पद्धति का मुख्य प्रयोजन उन सब लोगों को लाभ पहुँचाना होता है जो उसके अधीन हों। यदि वह पद्धति जनता की बहुत बड़ी अल्प संख्या को लाभ न पहुँचाती हो और वह अल्प-संख्या किसी और ऐसी पद्धति को अपना ले, जिससे उसकी माली हालत में सचमुच सुधार हो जाय तो उसे मूर्खता नहीं कहेंगे। अगर कोई पद्धति करोड़ों लोगों की माली जरूरतों को पूरा न करे तो वह उनके लिए अँधेरी गली के समान होगी और वे अपना कदम पीछे हटाकर वहाँ से निकल न जायँ तो वे मूर्ख होंगे। उन्हें कोई ऐसा रास्ता तलाश करना पड़ेगा, जिसपर खुद

उनका नियंत्रण रहे। उनके लिए तो आर्थिक प्रगति-रूपी घड़ी की सुइयाँ ठहरी ही हुई हैं। किसी भी ऐसी पद्धति को जो किसी भी गति से उनकी एक भी माली जरूरत को पूरा करती हो, अपना लेना घड़ी की सुई को पीछे हटाना नहीं, बल्कि फिर से चलाना ही कहा जायगा। दस्ती औजारों को काम में लाने से तो यह प्रगति-रूपी घड़ी इतना पीछे न हो जायगी। परन्तु वर्तमान महायुद्ध अवश्य ही उसे पीछे हटाने में अधिक सफल हो सकता है; फिर भी आज के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ, अधिकाधिक बड़े-बड़े इंजीनियरों और अन्य 'शिक्षित' व्यक्तियों की अनुमति से युद्ध की तैयारियों में खर्च कर रहे हैं।

मेहनत और कमाई का सामाजिक उपयोग बहुत बड़ा है; परन्तु घरेलू उद्योग-धंधों के जमाने में इसका जितना महत्व था, आधुनिक उद्योगवाद ने उसे कम करके उसको और भी आदिम-युग की ओर ढकेल दिया है। हमारी नैतिक एकता की प्रत्यक्ष साधना दस्तकारी के जमाने में जिस मंजिल पर थी, उससे जरा भी आगे नहीं बढ़ी। 'पीछे कदम' तो तब हटा जब हमने और हमारे पुरखों ने मूर्खतावश इतना भी नहीं समझा और उसके अनुसार आचरण नहीं किया कि मनुष्य-समाज एक इकाई है और हमें ऐसे तरीकों और औजारों तथा विनिमय के माध्यमों को अपनाना चाहिए, जिससे वह एकता हमारे रोजमर्रा के विनिमय और काम में व्यक्त हो।

दस्तकारी को अपनाने से श्रम-विभाग के सिद्धान्त का परित्याग नहीं होगा; बल्कि कुछ अंशों में आप-से-आप चलनेवाली या आधी आप-से-आप और आधी हाथ से चलनेवाली मशीनों ने ही इस सिद्धान्त को बिगाड़ा है। दूसरी बातों में इस सिद्धान्त पर अभी हाल तक, जो जोर का अमल होता आया था, वह अब तो मूलभूत आवश्यक बातों में परिवर्तन हो जाने से नहीं हो सकता, क्योंकि एक तो अब पहले के जितने बड़े-बड़े बाजार नहीं रहे और दूसरे मजदूर, मैनेजर और मालिक में अब पहले का-सा सहयोग, अन्योन्याश्रय और सामंजस्य का भाव नहीं रहा। श्रम-विभाग के लाभ की एक सीमा है और वह सीमा हाल में समाप्त-सी हो गई है।

गांधीजी की तजवीज मशीनों या विज्ञान का परित्याग नहीं करती; बल्कि वह सरल मशीनों को अबतक अप्रयुक्त मानव-शक्ति के एक ऐसे विशाल भंडार के सामने पेश करती है, जो कि बेकारों की भारी सेना के रूप में उपस्थित है। वह कुछ खास मशीनों को पसन्द करते हैं, क्योंकि वे जनता की आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल हैं और क्योंकि उन खास मशीनों के प्रयोग से पहले ही से

बड़े परिमाण में मौजूद, सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयाँ तथा समस्याएं और ज्यादा नहीं बढ़ेंगी ।

आजकल सब देशों में सैनिक तैयारियों और कार्रवाइयों के लिए राष्ट्रीय निधियों का अनुपात और परिमाण निरन्तर बढ़ता जा रहा है और इस कारण लोगों के रहन-सहन का और शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि सार्वजनिक सेवाओं का दर्जा गिरता जा रहा है । आर्थिक व्यवस्था आज उतार के युग में है । कम-से कम पश्चिम में सामाजिक अवनति और संगठन निरन्तर बढ़ रहे हैं, जो पागलपन, आत्मघात और अन्य अपराधों की बढ़ती हुई संख्या से प्रकट है । यदि कोई दूसरा विश्व-युद्ध छिड़ गया तो मानव-जाति को बहुत बड़े पैमाने पर 'औक्युपेशनल थैरापी' (औद्योगिक चिकित्सा) की आवश्यकता पड़ेगी । खद्दर और सब किस्म की दस्तकारियाँ लोगों के लिए सब जगह ज्यादा महत्वपूर्ण हो जायँगी—आर्थिक दृष्टि से भी और चिकित्सा की दृष्टि से भी ।

तब भी, हम इस सचाई की भी उपेक्षा नहीं कर सकते कि कल-कारखानों के सब देशों में आबादी जल्दी-जल्दी घट रही है । इस सचाई को कार-सौण्डर्स, कुकजिन्स्की टी० एच० मारशल, एनिड चार्ल्स, एच० डी० हेण्डरसन, आरनॉल्ड प्लांट और हौग्बेन सरीखे विद्वानों ने प्रमाणित कर दिया है । आबादी की इस घटती का भारी आर्थिक और सामाजिक प्रभाव सारे संसार पर खास कर पश्चिम पर बहुत करारा और भयंकर पड़ेगा । इस कारण भी दस्तकारियों और विशेष कर खद्दर का प्रसार अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा ।

अन्य विचारों के अतिरिक्त इन कारणों से भी मैं इस निर्णय पर पहुँचता हूँ कि गांधीजी एक महान समाज-वैज्ञानिक और सामाजिक तथ्यों के आविष्कर्त्ता हैं । उनकी सफलताएं देखकर मुझे एक पुरानी संस्कृत-लोकोक्ति याद आती है कि "मनुष्य को चमत्कारिक शक्तियाँ कठिन काम करने से प्राप्त नहीं होतीं, बल्कि इस कारण प्राप्त होती हैं कि वह उन्हें शुद्ध हृदय से करता है ।" इसका अभिप्राय यह है कि उच्च, सरल उद्देश्य और उत्कट लगन ही चमत्कार दिखला सकती है आइए, हम गांधी के लिए ईश्वर का धन्यवाद करें ।

: १३ :

काल-पुरुष

जेराल्ड हेयर्ड

पश्चिमी दुनिया ने जब यह कल्पना करनी शुरू की कि धनवान होना ही सभ्य होना है तो यह ख्याल रहा होगा कि जरूरी तौर पर ज्यों-ज्यों यन्त्र-कौशल उन्नत होगा त्यों-त्यों कल्याण भी उतना ही बढ़ता जायगा और सुख-समृद्धि भी स्थाई हो जायगी, लोग सब समान माने जाने लगेंगे, क्योंकि बेहद सामान उन्हें समानभाव से मिल सकेगा और इस तरह उन्नति की सीमा न रहेगी।

अभी यह कल्पना बहुत दिनों की भी नहीं हो पाई थी कि आज हमें वह उड़ती हुई दिखाई दे रही है। इसलिए आज हमारे लिए यह कह सकना सम्भव है कि आदमी सब बराबर नहीं होते। प्रकृति की सबको भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक देन है और उनमें छोटे-बड़े भी हो सकते हैं। यह भी जाहिर है कि सभ्यता अनिवार्य रूप में प्रगति ही नहीं करती जाती है, बल्कि उसमें उतार-चढ़ाव दोनों आते हैं। कभी तीव्र ह्रास का युग भी आ जाता है तो कभी किसी विशिष्ट सृजन-शक्तिशाली अकेले व्यक्तित्व की स्फूर्ति-प्रेरणा से आकस्मिक उभार और परिवर्तन भी हो चलता है।

सत्य का यह उद्‌घाटन समय से एक क्षण भी पहले नहीं हुआ। उसका अब ऐन अवसर था। पश्चिमी दुनिया समझे बैठी थी कि एक भविष्य उसकी प्रतीक्षा में है। वहाँ आराम, ऐश और इफरात होगी। सो वह उसी की खुमारी में थी और मूलभूत समस्याओं के न सिर्फ हल करने में नाकामयाब हो रही थी, बल्कि वह समस्या दिनों-दिन धीर गति से विषम होती जाती थी। वह समस्या यह है कि पृथिवी पर न्याय का और व्यवस्था का सच्चा समर्थन किस मूल नियम में खोजा जाय और अगर हिंसा ही एकमात्र तरीका है, जिससे न्याय और अमन को कायम रखा जा सकता है, तो उस न्याय और अमन की सुरक्षा खुद हिंसा-विश्वासी शासक के हाथों कैसे हो? इस प्रश्न का सामना सभी बड़े-बड़े सुधारकों को करना पड़ा। ईसामसीह ने शस्त्र को नहीं छुआ; लेकिन उनके अनुयायियों के हाथ जैसे ही लोकसत्ता आई, वैसे ही उनमें तलवार भी दीखने लगी। मुहम्मद साहब ने भी प्रीति और सेवा के धर्म का उपदेश देना आरम्भ किया था; पर वहाँ भी अत्याचार को सुगम प्रचार का साधन

बना लिया गया। तो भी सिद्ध है कि खूंरेजी कभी सफल नहीं होती, फिर उसके उचित होने का प्रश्न ही जुदा है। हर नये यान्त्रिक आविष्कार के साथ शस्त्रास्त्र अपनी हिंस्रता में भीषण किन्तु निशाने में अनिश्चित होते जाते हैं। यही बात नहीं है कि 'मानो या न मानो तो भी मानना ही होगा।' बात तो इससे भी आगे पहुँची है। अब लड़ाई का निशान तो अंधाधुंध और गलत होता है, जिसमें ऐसे लोग भी मारे जाते हैं, जिनका बुनियादी झगड़े से कोई वास्ता नहीं होता। और वे भी अत्याचारी के खिलाफ खिंच आते हैं। युद्ध कोई 'सामाजिक समस्याओं का निर्णायक' नहीं है। वह तो समाज में पैदा हुआ रोग है।

अतः अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक शक्ति निर्माण करनी चाही। पहले तो वे मुश्किल से यह जानते थे कि हमें क्या करना है; परन्तु समय बीतने पर उसकी आवश्यकता अधिकाधिक अनुभव करने लगे। एक ऐसा शासन निर्माण करना था और ऐसी 'सेना' बनानी थी, जो समर्थ, समुचित, ठीक-ठीक तथा प्रभावपूर्ण हो। श्री इग्नेशस लोयला की मसीही सोसाइटी (Society of Jesus) ऐसे ही प्रयत्न का गणनीय उदाहरण है। इस संस्था में ऐसे चुने हुए लोग थे, जिन्हें बुद्धि-योग की ही शिक्षा नहीं मिलती थी, बल्कि हृदय को भी संस्कार दिया जाता था और तरह-तरह के मनोवैज्ञानिक अभ्यासों से गम्भीर संकल्प-शक्ति-संग्रह की शिक्षा भी दी जाती थी। अनुशासन और बड़ों की आज्ञा-पालन की जहाँ तक बात है, सोसाइटी का संगठन फौजी तरीके का था। घर-बार, स्त्री-बच्चे, धन-दौलत या ओहदे आदि की चिन्ताएं उन्हें छू नहीं पाती थीं। इस तरह की शिक्षा और साधना से तैयार करके फिर शिष्यों को एक गुरु-सेनानी के मातहत भेज दिया गया, रोमन चर्च की सुधार-प्रवाह में खोई हुई विभुता की पुनःप्रतिष्ठा के लिए।

इस नई निःशस्त्र सत्ता के विकास में अगली मंजिल पहले से भिन्न हुई। इस बार वह किसी निश्चित धर्म-मत की पुनःप्रतिष्ठा का प्रयत्न करनेवाले किसी संघ या संस्था के रूप में नहीं, बल्कि जीवन की कुछ खास समस्याओं का निराकरण करने की सफलता के रूप में आई, जो कि अबतक सर्वस्वीकृत हिंसात्मक उपायों से हल न हो सकी थीं। पागलपन की नवीन मानसिक चिकित्सा-पद्धति के उदय के साथ हम कह सकते हैं कि एकांगी ही सही; पर अहिंसा की निश्चित विजय के लिए एक नवीन क्षेत्र खुल गया। उन्माद और मस्तिष्क-विकारों का इलाज दमन में नहीं, बल्कि प्रीति में देखा जाने लगा। अहिंसा की इस खुली शक्ति से पागलपन का

मिटाना और पागल होने के अवसरों का कम करना मुमकिन हो सका। पहले के रूढ़ और गलत हिंसक साधनों में यह शक्ति कभी नहीं पाई जा सकती थी। जबरदस्ती के विरोध में युक्ति और दमन के विरोध में प्रीति के सिद्धान्त के इस वैज्ञानिक प्रयोग से हमने बहुत कुछ सीखा है। असभ्य और पिछड़ी जातियों के साथ सम्पर्क की आवश्यकता सीखी, मानवता का विस्तार करना सीखा, जंगली जानवरों को साधना सीखा और अपराधी को फिर समाज-योग्य बनाने की शिक्षा ली।

तो भी हिंसक साधनों से बस में न आनेवाले विशेष श्रेणी के मनुष्यों और पशुओं को सुधारने में उस अहिंसक पद्धति के अपूर्व फल तो दीख पड़े; पर ये फल अधिकतर व्यक्तिगत रूप में घटित और प्राप्त किये गये; जैसे कि अतिशय धर्मशील जीवन बितानेवाले क्वेकर लोगों ने जगह-जगह इसकी सफलता प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा दिखलाई थी। पर ये इक्के-दुक्के प्रयोग थे। इनमें कोई वैज्ञानिक एकसूत्रता की प्रतिष्ठा नही हुई थी। जिन व्यक्तियों ने इन प्रयोगों को किया, वे तक यह न समझते थे कि उनके इस अन्वेषण का या इस प्रणाली का, अथवा इस सफलता का कोई भी उपयोग युद्ध और शांति की सामान्य समस्याओं को सुलझाने में या समाज-व्यवस्था और अंतर्राष्ट्रीय संबन्ध को सुधारने में भी हो सकता है।

इसी बीच में युद्ध-कौशल और युद्ध-क्रिया की भी बहुत उन्नति हुई। उसकी सफल संहार-शक्ति इतनी बढ़ गई, जितनी कभी संभावना भी न थी। यहाँ प्रायः देखा गया है कि मनुष्य जिससे छुटकारा नहीं पा सकता, उसी को वह साध्य तथा सर्वोत्कृष्ट कल्याण मानकर उसकी पूजा करने लगता है। यही इस विषय में भी हुआ। मनुष्य ने देखा कि युद्ध से छुटकारा नहीं मिलता, तो जिस युद्ध-क्रिया को वह अभी तक साधन कहता था उसीको साध्य बनाने का प्रयत्न करने लगा और जिसका समर्थन वह अनिवार्य आवश्यकता के रूप में करता, अब वह उसी का प्रचार भीषण देव-पूजा या परम श्रेय समझ कर करने लगा।

इस प्रकार दो उन्मादों का मेल हो रहा था—एक तो, आजाद मनुष्यों ने मशीनों की संहारिणी शक्ति के सामने अंधे हो कर घुटने टेक दिये; दूसरे, वे वर्ग-विशेष की एक ऐसी विवेकहीन नीति के पीछे चलने लगे, जो संहारिणी मशीनों के समान ही अंधी और उनसे भी अधिक विध्वंस करने वाली थी। इस सबका सामना करने के लिए एक ऐसे पुरुष की आवश्यकता थी, जो वैसा ही कुशल और कुशाग्र-बुद्धि हो, जैसे कि संहार के इन राक्षसी साधनों के आविष्कारक थे और जिसमें उतना ही

बल और वेग हो, जितना उन नर-पिशाच नेताओं में है, जो अपने देशवासियों को परस्पर लड़ने-भिड़ने और मरने-कटने के लिए उत्तेजित करते थे।

इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं कि इतिहासकारों को ऐसा व्यक्ति मोहनदास करमचन्द गांधी के रूप में मिलेगा। यूरोप, एशिया और अफ्रीका के तीन महाद्वीप आपस के सम्पर्क में आकर तीनों विक्षिप्त और विक्षुब्ध हो रहे थे। उस समय भारत ने इस पुरुष का दान अफ्रीका को दिया। अफ्रीका की उस भूमि पर यूरोप के विरोध में (यूरोप के पक्ष में कहना शायद ज्यादा सही हो) इस व्यक्ति ने अपनी प्रतिभा और सिद्धान्त का पहला व्यापक परीक्षण किया। 'पक्ष' में' इसलिए कहा कि गांधी की अहिंसा एक ऐसी नीति है, जो स्वभाव से ही पक्ष की भाँति विपक्ष का भी हित-साधन करती और उसे सुसंस्कार देती है। भारत में जन्म लेकर यह योग्य ही था कि गांधी की अहिंसा-नीति का प्रयोग-क्षेत्र अफ्रीका हो, क्योंकि अहिंसा की नीति की शिक्षा एक देश या जाति के लिए नहीं है, वरन् वह समूची मानव-जाति का हक है। मानव समाज की भिन्न-भिन्न जातियों के बीच ही नहीं, बल्कि सब सजीव प्राणियों के बीच निस्सन्देह एक यही (अहिंसा का) संबन्ध या जोड़नेवाली कड़ी सही और उचित है। अफ्रीका के बाद, जिस भारत ने अपने इस पुत्र को बाहर भेजा था, वही उसके आन्दोलन और इतिहास की रंगभूमि बना, उसी भारत-देश के स्वातन्त्र्य-अन्दोलन में उसका व्यक्तित्व तप और साधना से तपता हुआ अब अपनी परिपूर्णता पर आता जा रहा है। भारत वह देश है, जिसे विश्व का प्रतीक कहना चाहिए। महाद्वीप ही उसे कहें। तमाम जातियों के लोगों और समस्याओं की विषमता का तनाव उस देश की परिस्थिति में प्रतिबिंबित और शरीर में अनुभूत होता है। उसी देश को वह पुरुष अपना जीवन होम कर सिखा रहा है कि युग-युग से अपने प्राचीन ऋषियों की शिक्षा के सार का सामूहिक रूप से प्रयोग करके किस प्रकार स्वतन्त्रता को पाना होगा।

भविष्य में क्या है, हम नहीं देख सकते। लेकिन काल अथवा देश के भी हिसाब से यह निश्शंक होकर कहा जा सकता है कि अगली ही पीढ़ी में और हिन्दुस्तान में ही मृत्यु और जीवन की शक्तियों का अन्तिम युद्ध होनेवाला है। एक ओर तो विनाश की शक्तियाँ होंगी, जो सुझायेंगी कि भीरु और सम्पन्न लोगों की सुरक्षा केवल उन्हीं के हाथ में है। दूसरी ओर विधायक, निर्माणकारी शक्तियाँ होंगी, जिनके कारण ऐसे नये प्रेम-मन्त्र से दीक्षित, व्यवस्थित, जागरूक और अनुशासन-बद्ध सैनिक जाकर मैदान लेंगे, जो मानव-जाति के त्राता होंगे। वे मनुष्य-जाति के

हित में ऐसी एक अपूर्व विजय पाने का प्रयत्न करेंगे, जिसमें बरबादी किसी की भी नहीं होगी। न धन की बरबादी होगी, न समस्त मानव-जाति की। हम नहीं कह सकते कि यह परिणाम कैसे घटित होगा। फल हमारे हाथ नही। लेकिन इतना कह सकते हैं कि सफलता हो या असफलता हो, जो अपने दूसरे भाइयों का हित चाहते हैं और उनकी हत्या नही चाहते, उनके लिए राह यही और एकमात्र यही है, दूसरी नही; और वह राह यदि प्रशस्त हो कर आज हमारे आगे खुली हुई है तो उसका श्रेय सबसे ज्यादा उस व्यक्ति को है, जो आज दिन अपने जीवन के और मानव-जाति की सेवाओं के शिखर पर खड़ा है।

: १४ :

गांधी : आत्मशक्ति की प्रकाश-किरण

कार्ल हीथ

मानवता के इतिहास में अवतारी पुरुष को सदा दुर्धर्ष संघर्ष का सामना करना होता है। किसी की उक्ति है, "प्रकाश की भाँति मै जग में आया हूँ।" किन्तु प्रकाश-पुत्रों को यह जगत् स्वागत नही देता, क्योंकि लोगों को प्रकाश से अधिक अन्धकार प्रिय होता है। अविद्या, मिथ्या धारणा और उदासीनता को लोग अपना रक्षक तक समझ लेते हैं। अवतारी पुरुष को तो इन्हें छिन्न-भिन्न करके, उनसे ऊपर उठना पड़ता है।

मो० क० गांधी के चरित्र की यह आजीवन विशेषता रही है कि उन्होंने सदा अन्धकार को छिन्न-भिन्न किया और अविद्या और मिथ्या धारणा पर विजय पाई। यही कारण है कि आज वह केवल भारत-प्राण होकर ही नहीं, बल्कि सारी सहृदय मानवता के प्रेरक होकर दीप्तिमान् हो रहे हैं। न जाने उन्होंने कितने दुःख झेले, कितनी साधना की, कितनी कठिन उपासना की और कितने उपवासों से अपने शरीर को सुखाया है। यदि ऐसा न करते तो वह इतना ऊँचा न उठ पाते।

जीवनभर इस अन्धकार को छिन्न-भिन्न करके बढ़ते रहना और अज्ञान और दुराग्रह से कभी न हारना, बल्कि सदा उसे परास्त करते रहना—गांधी के चरित्र की विशेषता रही है। यही वजह है कि आज दिन हिन्दुस्तान की सर्वश्रेष्ठ आत्मा

और प्रतिभा के रूप में ही उनकी दीप्ति फैली हुई नहीं है, बल्कि तमाम सहृदय मानवता के स्फूर्तिदाता ही आज वह हैं। जीवन उनका सतत साधना, तपस्या, आर्त्त-कातर प्रार्थना और अनेक उपवासों का लम्बा इतिहास है। ऐसा न होता तो वह इतने महान नहीं हो सकते थे।

बहुत पहले ही मोहनदास करमचन्द गांधी ने धीरता के परम रहस्य को पा लिया था। थॉमस ए० कैम्पिस ने कहा है, "अपार धैर्य में तू शान्ति प्राप्त कर।" गांधी ने सचमुच ही उस कथन की सचाई को अपने भीतर अनुभूत किया है। जो गांधीजी के जीवन का अध्ययन करेंगे, उनके सार्वजनिक कृत्यों और सम्बन्धों को बारीकी से देखेंगे, वे यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकेंगे कि चाहे दूसरों के आवेश या जोश को देखकर उनके खून का दबाव बढ़कर खतरनाक हो जाय; पर उनका सहज धैर्य भंग नहीं हो सकता। उनका धैर्य न तो विरोधियों या विदेशी सरकार के सामने ही छूटता है, न अनगिनत दर्शनार्थियों के सामने और न अपने चेलों के सामने ही; यद्यपि वे उन्हें प्रायः तंग किया करते हैं। सबके प्रति धीरज उनका अखण्डित रहता है। यह अनन्त धैर्य-धन उनका स्वत्व है और दारुण-से-दारुण घटना या जघन्य-से-जघन्य अपराध भी उनके धीरभाव को विचलित नहीं कर सकता। इसका कारण कदाचित् यह हो कि भीतर आत्मा में उनके अखण्ड निष्ठा है कि "भगवान के काम धीरे-धीरे होते हैं।" मो० क० गांधी भगवान का ही काम कर रहे हैं।

और फिर वह सत्य के अनन्योपासक हैं। वह कभी गलतियाँ न करने का ढोंग नहीं रचते और जब-जब भूल उनसे हो गई है, अनुपम साहस के साथ उसे उन्होंने स्वीकार किया है और सर्वसाधारण के आगे उसका प्रायश्चित किया है। तीन वर्ष हुए, उन्होंने लिखा था, "अब तो मेरे ईश्वर का एक ही नाम और बखान है। वह है सत्य! उससे अधिक सम्पूर्णता के साथ मेरे सत्य-रूप ईश्वर का वर्णन नहीं हो सकता।" ध्यान रहे कि इस ईश-धर्म में वह काल्पनिक सचाइयों की दुनिया में नहीं जा रमते हैं; बल्कि इस भाँति उनकी कर्मनिष्ठा ही बढ़ती है। "ऐसे धर्म के सच्चे अनुयायी रहने में व्यक्ति को जीव-मात्र की सतत सेवा में अपने को खो देना होता है।" और यह सेवा ऊपर से की जानेवाली दया-दान की सेवा नहीं है। "यह तो अपनी क्षुद्र बूंद को जीवन के अपार महासागर में पूरी तरह डुबोकर एकाकार कर देना है।" "जीवन के सब विभाग उस सेवा में समा जाने चाहिए।" इस तरह सत्य उनके लिए एक जीवन्त तथ्य है।

और इसीसे गांधीजी में जीवन की अखण्डता और संपूर्णता दिखलाई पड़ती है। अपने को जनसाधारण से बड़ा समझकर, उनसे अलग रहनेवाले आध्यात्मवादी वह कदापि नहीं। यदि वह महात्मा या महान् आत्मा हैं तो जनता के बीच वह उसीके आदमी हैं। दृष्टि-स्पष्ट, ईश्वर के समक्ष मौन-मग्न, सच्चे अर्थ में विनय-नम्र! ऐसा यह प्रार्थना, अध्यात्म और ईश-लगन का पुरुष एक ही साथ शरीर के काम में भी अथक और चुस्त है। सबके प्रति सुलभ, अतिशय स्नेही और अत्यंत विनोदी। वह व्यक्ति मानव-संघर्ष के निकट घमासान में भी जितना नैतिक और धार्मिक है, उतना ही सामाजिक और राजनैतिक भी है।

कभी वह रहस्य की भाँति दुरधिगम्य होते हुए भी अपनी आत्मा की सरलता और विमलता के कारण सबके स्नेह-भाजन भी हैं। फिर अपने अन्दर का मैल तो उन्होंने कोने-कोने से धो डाला है। मैल नहीं तो बाहरी परिग्रह भी उनके पास नहीं ही जितना है। इससे उनके अपने या अन्य देशों के स्त्री-पुरुष बड़ी संख्या में दूर-दूर से खिचकर उनके पास पहुँचते हैं। स्वत्व के नाम सब उन्होंने तज दिया है। थोरो की भाँति वह कुछ न रखकर भी सब पा जाने का आनन्द उठाते हैं। और समूची जीव-सृष्टि की सेवा के अर्थ सत्य-शोध में अपने को गला देनेवाले वह गांधी लाखों स्त्री-पुरुषों के आश्वासन और आकांक्षा के केन्द्र-पुरुष बन गए हैं।

दक्षिण अफ्रीका में अपने राष्ट्रवासियों के हक में उनके युद्ध को याद कीजिए। उनकी अपनी हिन्दू-जाति के अछूतों—हरिजनों—के अर्थ किये उनके आन्दोलन का स्मरण कीजिए, भारतवासियों और उनकी स्वतन्त्रता के लिए किये गए प्रयत्नों को देखिए; दीन, दरिद्र और अपढ़ छितरे-छाये हिन्दुस्तान के गाँवों को देखिए; सरहद के पठानों और कबीलेवालों को देखिए; मुस्लिम-हिन्दू-ऐक्य या राजबंदियों के छुटकारे की बात लीजिए; सब वर्गों, जातियों, सम्प्रदायों और धर्मों के स्त्री-पुरुषों को देखिए; गोरक्षा की भावना से व्यक्त होनेवाले पशु-जगत् को लीजिए—गांधी का कर्म सब जगह व्याप्त दीखेगा। और बुराई के प्रति अहिंसात्मक प्रतिरोध की शिक्षा उनकी जीवित और अमर सूझ है। दुनिया में जो लोग युद्ध की जिज्ञासा से युद्ध करने में प्रवृत्त हैं, उन सबको उनके उदाहरण में आश्वासन और दिशा-दर्शन प्राप्त होगा। अपने समूचे और विविध लौकिक कर्म के बीच उस व्यक्ति ने किसी के प्रति असद्भावना को प्रश्रय नहीं दिया। सदा विकार पर विजय पाई और इस भाँति भारत के और 'मानवता' के एक "विनम्र सेवक" कहलाने का गौरवपूर्ण अधिकार पाया।

सत्याग्रह के सिद्धान्त को ऐसी अविचल निष्ठा के साथ उन्होंने पकड़े रखा, यह योग्य ही है, क्योंकि वह स्वयं आत्म-शक्ति के अवतार हैं। अपनी सब सामाजिक और राजनैतिक प्रवृत्तियों से परे वह प्रकृतभाव में सदा आध्यात्मिक पुरुष ही रहे हैं। अतः आधुनिक युग के लिए उनकी वाणी चुनौती की वाणी बन गई है, यही उनका सर्वोत्तम गुण है। इसी में उनकी अवतारता सिद्ध है। जेल में रहकर, त्रस्त होकर, उपेक्षा, अपमान और उपहास के शिकार बनकर भी वह मानवता की माप में हर पग पर ऊँचे-ही-ऊँचे चढ़ते गये।

मनुष्यों तथा अन्य जीवधारियों के प्रति उनकी मानवोचित सहृदयता के कारण इस धरती पर हर देश और हर जगह उन्हें अनेक स्नेही बन्धु प्राप्त हुए हैं। उनके मन में हिन्दू और मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, पारसी, यहूदी धर्मों के लोगों के बीच कोई भेद-भाव नहीं है। सब उनके मित्र हैं और सत्य के इस अनन्त परिवार के अंग हैं, और सत्य ही ईश्वर है। मनुष्य अथवा मनुष्येतर, अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा की भावना उनके जीवन में ओतप्रोत है। इस युग में सभ्य और परिपूर्ण मानवता का उन्हें नमूना समझिए।

: १५ :

मुक्ति और परिग्रह

विलियम अर्नेस्ट हाकिंग

मनुष्य जहाँ रहता है, उस स्थान पर उसकी कुछ संपत्ति हो जाती है और उस समाज में उसके कुछ सम्बन्ध हो जाते हैं। स्थानीय संपत्ति और सामाजिक सम्बन्ध उसकी कार्य-स्वतंत्रता और विचार-स्वतंत्रता को सीमित करने लगते हैं और मनुष्य बड़े असमंजस में पड़ जाता है कि वह क्या करे और क्या न करे। यह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता का अवसर सबके सामने आता है और गांधीजी ने जहाँ हमारे युग के लोगों को अन्य बहुत-सी शिक्षाएं दी हैं, वहाँ हमें उनसे इस अवसर के विषय में भी शिक्षा मिलती है।

अपनी संस्थाओं पर जब हम विचार करते हैं तो उसका सबसे पहला असर शायद यह होता है कि हम उसके दोषों या त्रुटियों से परिचित हो लें; हमारी

पाश्चात्य जातियों में शिक्षित मनुष्य के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह अमुक पंथ (चर्च) से अपना सम्बन्ध स्थापित करे, क्योंकि वह प्रचलित मत-पंथों में मे किसी के स्वरूप को स्वीकार नहीं कर सकता, अथवा किसी राजनैतिक दल का सदस्य बने, क्योंकि सभी दल बेवकूफी और स्वार्थ-भावना से कलंकित है। दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में एक दृढ़ प्रवृत्ति यह होती है कि वह मनुष्य को इन बन्धनों मे और साथ ही कुटुम्ब तथा देश के बन्धनों मे भी विमुक्त कर देती है। दार्शनिक को किसी खास पक्ष का होना ही नहीं चाहिए। उसे पक्ष-विपक्ष से परे होना चाहिए। धर्म इस अनासक्ति को एक कदम और आगे ले जाता है। वह परमात्मा से ऐक्य स्थापित करता है, सर्वात्मैक्य की ओर ले जाता है, भेद-बुद्धियाँ नष्ट हो जाती हैं और सिद्धान्ततः मनुष्य विश्वात्मा हो जाता है। साथ ही, वह किसी उपयोग और अर्थ का भी नहीं रहता है।

गांधीजी अपने भगवान को 'सत्य' के नाम से पुकारते हैं। यह सिद्धान्त विश्व-व्यापी है और तमाम धार्मिक मत-मतान्तरों से परे है। वह उसे 'राम' भी कहते हैं। राजनीति में भी उनका मार्ग उस एकात्मदेव की ओर ही जाता है। ऐसे लोगों के साथ भी चर्चा का धरातल उन्हें सुलभ है, जो नीति और रुचि में उनसे बहुत अधिक भेद रखते हैं। यह होते हुए भी उनका एक पक्ष है। लगभग यह कहा जा सकता है कि वह स्वतः एक पक्ष हैं। वह प्रस्तुत प्रश्नों की व्याख्या करते हैं, निश्चित योजनाएं बनाते है और 'हरिजन' तथा दूसरे पत्रों द्वारा उन प्रश्नों के पक्ष में चर्चा चलाते हैं। उपयोगहीन और अर्थहीन के इस तरह वह बिलकुल उलटे हैं।

संक्षेप में, गांधीजी ने यह दिखला दिया है कि संन्यासी की अनासक्ति राजनेता की सफलता में किस प्रकार योग दे सकती है और सांसारिक कर्त्तव्य का अंगीकार और अनेकविध समारम्भों का ग्रहण किस प्रकार वैयक्तिक स्वाधीनता में अधिक-से-अधिक सहायता दे सकता है। क्योंकि मैं जितने लोगों से मिला हूँ, उनमें से किसी का भी मुझपर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ा कि जिसने नित्य के जीवन में कर्त्तव्य-कर्म को उतनी परिपूर्ण सहृदयता के साथ करना चाहा हो और उसके करने में अत्यन्त आनन्द प्राप्त किया हो।

उनके लिए तो यह एक साधारण-सी बात है, पर यही एक वस्तु स्पष्टता के अभाव में संसार के अधिकांश क्लेशों और मूढ़ताओं की जड़ बनी हुई है। खुद हमारे अमेरिकन समाज में ऐसे आदमी भरे हुए हैं, जो अपने परिग्रह और तत्संबन्धी अपने कर्त्तव्यों से भागकर स्वाधीनता-प्राप्ति का प्रयत्न कर रहे हैं। और जिस कौटुम्बिक

बन्धन को स्वीकार कर चुके, उसे तोड़कर स्वाधीनता के लिए आतुर हो रहे हैं। अधिक क्या कहें; राजनैतिक कार्यों के संघर्ष से, संगठित धर्म से और यहाँ तक कि अपने खुद के प्रत्यक्ष अस्तित्व से भागकर स्वाधीनता के लिए छटपटा रहे हैं। लोक-सत्ता लड़खड़ाती है, क्योंकि चिन्तन और मनन उसे उन व्यक्तियों की सेवा से वंचित कर देते हैं, जो उसके भार को सबसे अच्छी तरह वहन कर सकते हों। 'अपूर्ण की महिमा' हमें अब भी सीखनी है, और सीखना है कि जो विशिष्ट या व्यक्त और एकदेशीय को छोड़कर छूट जाता है, वह स्वयं अस्तित्व से ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अस्तित्व सविशेष या विशेषतया व्यक्त ही है।

गांधीजी ने हमें यह सिखलाया है कि अपनी जाति के अन्दर मिली अपनी आत्मा की महत्ता के अतिरिक्त दूसरी कोई महत्ता नहीं है। अपने प्रान्त या क्षेत्र के अन्दर जो हमारी सार्वलौकिकता है, उससे परे कोई सार्वलौकिकता नहीं है। स्वपरिग्रह से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है, अन्य मुक्ति नहीं।

: १६ :

गांधी की महत्ता का स्वरूप

जॉन हेन्स होम्स

कोई बीस वर्ष हुए होंगे, मैंने अमेरिका की जनता के आगे यह घोषित किया था कि "गांधीजी संसार में सबसे महान् पुरुष हैं।" उन दिनों मेरे देशवासी गांधीजी के बारे में कुछ नहीं जानते थे। हमारे पाश्चात्य संसार में उनका नाम तब मुश्किल से पहुँच पाया होगा। किन्तु उस समय से उनका नाम इतना अधिक प्रसिद्ध हो गया जितना कि किसी भी महापुरुष का हो सकता है। और अमेरिकावासी इस बात को जानते हैं कि मैंने गांधीजी को जो सबसे महान् कहा था, सो ठीक ही कहा था।

गांधीजी की महत्ता इस युग में साधारणतः ऐसी किसी वस्तु के कारण नहीं है जिसकी कि साधारणतया महान् प्रतिभा या महिमा के अन्दर गणना हुआ करती है। न तो उनके पास बड़ी-बड़ी सेनाएं हैं और न उन्होंने किसी देश को ही जीता है; न वह कोई उच्चपदासीन राजनीतिज्ञ ही हैं, जो राष्ट्रों के भाग्यविधाता कहे जा सकें। वह कोई दार्शनिक अथवा ऋषि भी नहीं हैं। उन्होंने न कोई बृहत् ग्रन्थ लिखे

है, न बड़े-बड़े काव्य। उनमें तो स्पष्ट और विशिष्ट व्यक्तित्व के वे तत्त्व ही नहीं है जो कि मनुष्य को, कम-से-कम बाह्यतः, एक प्रभावशाली नेता बनाते हैं। उनकी प्रतिभा तो आत्म-शक्ति के क्षेत्र में सन्निहित है। वहीं उसका होना उन्हें पसन्द भी होग । यह उनका 'आत्मबल' ही है, जिसने उन्हें अनुपम प्रभाव और नेतृत्व के पद पर बिठा दिया है और ऐसी वस्तुओं को प्राप्त कराया है, जो इतिहास के थोड़े-से बड़े-से-बड़े व्यक्तियों को छोड़कर सबकी पहुँच और गति से परे ह ।

भारत को अन्त में जब स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायगी तब उसका श्रेय जितना गांधीजी को दिया जायगा, उतना किसी दूसरे भारतीय को नहीं मिलेगा। यह भी श्रेय गांधीजी को ही मिलेगा कि उस स्वाधीनता के योग्य अपने देशवासियों को उन्होंने बना दिया है और ऐसा उन्होंने उनकी अपनी संस्कृति का पुनरुद्धार करके, आत्मगौरव और आत्मसम्मान की भावना को उनके अन्दर जाग्रत करके, उनमें आत्मनियंत्रण का अनुशासन विकसित करके, अर्थात् उन्हें आध्यात्मिक तथा राजनैतिक दृष्टि से आजाद करके, किया है। इसके अलावा, उनका एक महान् कार्य अस्पृश्यों के उद्धार का है—यह अकेला काम ही उनका इतना महान् है, जो मानव-जाति के उद्धार के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। फिर गांधीजी के जीवन की श्रेष्ठ वस्तु 'अहिंसात्मक प्रतिरोध' का सिद्धान्त है, जिसको उन्होंने विश्व में स्वतन्त्रता, न्याय और शांति प्राप्त करने के लिए एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक कला मे परिणत कर दिया है। दूसरे मनुष्यों ने जिस वस्तु को एक व्यक्तिगत अनुशासन के रूप में सिखलाया है, गांधीजी ने उसे विश्व के उद्धार के लिए एक सामाजिक कार्यक्रम के रूप में परिणत कर दिया है।

गांधीजी अतीत युगों के तमाम महापुरुषों में भी महान् हैं। राष्ट्रीय नेता के रूप में वह अल्फ्रेड, वालेस, वाशिंगटन, कोसियस्को, लफाइती की कोटि में आते है। गुलामों के त्राता के रूप में वह क्लार्कसन, विल्बरफोर्स, गैरिजन, लिंकन आदि की भाँति महान् हैं। ईसाई धर्मग्रन्थों में जिसे 'अप्रतिरोध' और इससे भी सुन्दर शब्द 'अमोघ प्रेम' कहा है, उसकी शिक्षा देनेवाले के रूप में वह सन्त फ्रांसिस, थोरो और टाल्स्टाय की श्रेणी में आते हैं। युग-युगान्तरों के महान् धार्मिक पैगम्बरों के रूप में वह लाओजे, बुद्ध, जरथुश्त और ईसा के समकक्ष हैं। सर्वश्रेष्ठ रूप में वह मानव हैं, जिसके विषय में मैंने 'री-थिंकिंग रिलीजन' नामक अपनी हाल की पुस्तक मे लिखा है :

"वह विनम्र हैं, मृदुल हैं और बड़े दयालु हैं। उनकी विनोदशीलता अदम्य है। उनके व्यवहार की सरलता मोहक है, उनकी संकल्प-शक्ति को कोई दबा नहीं सकता, उनका साहस मानो लोहा है। यद्यपि उनके तौर-तरीके शान्त और मृदुल होते हैं, फिर भी उनकी सच्चाई स्फटिक मणि के समान पारदर्शक है, सत्य के प्रति उनकी निष्ठा अनुपम है, खोने के लिए कुछ न होने के कारण उनकी स्थिति ऐसी है कि उनपर आक्रमण नही किया जा सकता। हरेक वस्तु का खुद जिसने उत्सर्ग कर दिया है, वह दूसरों से किसी भी वस्तु को त्यागने के लिए कह सकता है। उसके जीवन से सांसारिक विचार, सांसारिक महत्वाकांक्षाएं और चिन्ताएं कभी की विलुप्त हो चुकी हैं। उसपर तो आत्मा का ही, जो सत्ता और अहिंसा के रूप में व्यक्त है, पूर्ण अधिकार है। गांधीजी कहते हैं, "मेरा धर्म-सिद्धान्त ईश्वर की सेवा और इसलिए मानव-जाति की सेवा है....और सेवा का अर्थ है शुद्ध प्रेम।"

: १७ :

दक्षिण अफ्रीका से श्रद्धांजलि

आर० एफ० अल्फ्रेड होर्नले

गांधीजी की भावना और उनके आदर्शों के प्रति जहाँ संसार भर से श्रद्धांजलि अर्पित हों, वहाँ कम-से-कम एक तो दक्षिण अफ्रीका के श्वेतांग की ओर से भी होनी उचित ही है।

कारण कि पहले-पहले सन् १८९३ में दक्षिण अफ्रीका में ही गांधीजी ने भारतीय समाज का नेतृत्व किया। यहाँ रोज यूनिवर्सिटी जाते-आते रास्ते में पड़नेवाला जोहान्सबर्ग का यह 'किला' ही उनके और उनके साथियों का पहला कारागार बना था। ट्रान्सवाल को स्वायत्त शासन के अधिकार मिल जाने पर उपनिवेश-मंत्री के पद पर नियुक्त जनरल स्मट्स से ही उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के भविष्य के सम्बन्ध में समझौते की बातचीत चलाई। निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति को पहले-पहल बरतने और उसका परीक्षण करने का पहला अवसर भी उनको वर्णभेद के आधार पर बनाये कानूनों के खिलाफ उठाये गये भारतीयों के आन्दोलन में यहीं मिला। दक्षिण अफ्रीका के बहुत-से प्रवासी भारतीयों के घरों और प्रवासी

भारतीय समाज की समस्त सार्वजनिक इमारतों में 'महात्मा' का चित्र अपना एक खास आदर का स्थान रखता है। दक्षिण अफ्रीका में आज भी वे स्त्री-पुरुष—श्वेतांग और भारतीय दोनों—जीवित हैं, जिन्होंने उस संघर्ष में गांधीजी का साथ दिया था और कष्ट सहन किये थे। उनका एक पुत्र वहीं रहकर 'इंडियन ओपीनियन' नामक पत्र का सम्पादन करता है। इस पत्र की स्थापना गांधीजी ने ही की थी, और यह अब भी नेटाल की 'फिनिक्स बस्ती से प्रकाशित होता है। यह बस्ती गांधीजी के भारतीयों की उन्नति सम्बन्धी सपनों को सच्चा करने के उद्देश्य से बसाई गई थी। आध्यात्मिक और राजनैतिक नेतृत्व के अपने स्वाभाविक गुणों का उपयोग अपनी जन्मभूमि और उसके निवासियों के लिए आरम्भ करने से पहले गांधीजी ने निश्चय ही, दक्षिण अफ्रीका के इतिहास में एक चिरस्मरणीय स्थान बना लिया था।

मैंने गांधीजी के एक श्वेतांग मित्र और समर्थक जोहान्सबर्ग के ईसाई पादरी रेवरेन्ड जोसेफ जे० डाक द्वारा लिखित उनका दक्षिण अफ्रीका का जीवन-वृत्त (M. K. Gandhi : An Indian Patriot in south Africa) पढ़कर यह जानने की कोशिश की कि अपने देशवासियों पर उनके नियन्त्रण और बहुत-से श्वेतांग विरोधियों पर भी उनके गहरे प्रभाव का रहस्य क्या है? मुझे नीचे लिखी बातें विशेष जान पड़ी!

पहली वस्तु उनकी मानसिक शक्ति है। इस इच्छा शक्ति द्वारा ही वह ऐसे उत्तेजना के वातावरण में भी जबकि और आदमी लड़ने के लिए तैयार हो जाते और हिंसा के मुकाबिले में हिंसा का ही प्रयोग करते, वह अहिंसा के प्रति अपनी श्रद्धा पर अटल रहे। अपनी जाति कि उच्चता प्रदर्शित करने और इस 'कुली' को अपनी मर्यादा बनाने के लिए गोरों ने उन्हें कितनी ही बार ठोकरें मारीं, घूंसे जमाये, और गालियां भी दीं; लेकिन उन्होंने कभी बल-प्रयोग से बदला नही लिया। प्रेसिडेन्ट क्रूकर के घर के सामने की पटरी पर ठोकर मारने वाले संत्री पर मुकदमा चलाने से उन्होंने इन्कार कर दिया। और जब उनके अपने देशवासियों में से उनके विरोधियों ने ही उन पर इतना बर्बर हमला किया कि वह लोहूलुहान और असहाय हो गये, तब भी उन्होंने पुलिस से यह अनुरोध किया कि वह उनके हमलावरों को सजा न दें। गांधीजी ने कहा—"उनकी समझ में वे ठीक कर रहे थे, और उनपर मुकदमा चलाने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है।" स्पष्ट ही, दूसरों पर उनके अधिपत्य की पहली कुंजी उनका आत्म-नियंत्रण ही है।

दूसरी बात यह है कि गांधीजी, दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों को, कड़े प्रतिबन्ध लगाने पर भी, जो विदेशियों की भांति असह्य लगते थे और सिद्धान्ततः नागरिक नहीं समझे जाते थे, अस्पृश्य बनानेवाले वहां के कानून के विरुद्ध उकसाने और उसके विरोध के लिए उन्हें संगठित करते हुए केवल अधिकार मांगकर ही सन्तुष्ट नहीं थे। भारतीयों में आत्मसम्मान की भावना पैदा करने की ओर उनका अधिक ध्यान था। उन्होंने देखा कि ये भारतीय निरुत्साह और उदासीन हैं, अपने कष्टों का विरोध तक नहीं करते और चुपचाप सह लेते हैं। गांधीजी ने उन्हें उनके पुरुषार्थ का स्मरण दिलाया और पुरुषार्थ को ही वहां के गोरों से अपने साथ मनुष्यता का व्यवहार करने की मांग का नैतिक आधार बताया। रेवरेण्ड डोक के शब्दों में वहां के प्रवासी-भारतीयों के भविष्य के सम्बन्ध में उनकी कल्पना यह थी : "दक्षिण अफ्रीका का भारतीय समाज ऐसा हो जिसके हित और आदर्श एक समान हों, जो शिक्षित हो, नैतिक हो, विरासत में मिली अपनी प्राचीन संस्कृति का अधिकारी हो, मूलतः भारतीय रहते हुए भी उसका व्यवहार ऐसा हो कि अन्ततः दक्षिण अफ्रीका अपने इन पूर्वीय निवासियों पर अभिमान कर सके, और इन्हें उचित और न्याय्य समझकर वे अधिकार दे जो हरेक ब्रिटिश प्रजा-जन को मिलने चाहिएं।"

तीसरे, गांधीजी यह भली भांति जानते थे कि नेतृत्व के साथ विनय का मेल कैसे होता है। अपेक्षाकृत अधिक धनी भारतीयों के सामने उन्होंने लोक-भावना का आदर्श पेश किया। उन्हें जो कुछ मिलता वह उसे खुशी-खुशी भारतीयों के हित खर्च कर दिया करते थे। गरीबों में वह गरीब की भांति रहते थे। एक भारतीय रियासत के प्रधानमन्त्री के पुत्र; पद, प्रतिष्ठा, अधिकार और सुशिक्षा में पले परिवार के लड़के; इंग्लैण्ड से बैरिस्टर बनकर आये। शिक्षित यूरोपियनों के साथ बराबरी का अधिकार रखनेवाले होकर भी उन्होंने अपने लिए कोई विशेष रियायतें कभी नहीं चाहीं, बल्कि दूसरे भारतीयों के साथ होनेवाले बर्ताव को ही पसन्द किया। कानून के अनुसार हरेक हिन्दुस्तानी को लाजिमी था कि वह अपनी पहचान के लिए खास रजिस्टर में अपना अंगूठा लगाये। वह इससे बरी किये जा सकते थे, लेकिन अपने भाइयों के सामने उदाहरण रखने के लिए उन्होंने सबसे पहले खुद इसका पालन करना उचित समझा।

और, चौथी बात, हिन्दुस्तानियों को अधिकार मिलने का आन्दोलन करते हुए भी उन्होंने इस बात पर हमेशा जोर दिया यक जो नागरिक अधिकारों के

पात्र होने का दावा करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे अपने इस दावे को सिद्ध करने के लिए, आवश्यकता पड़ने पर, सामाजिक कृत्य में भाग लेने की किसी प्रकार की मांग न होते हुए भी स्वेच्छा से अपना कर्तव्य पूर्ण करें। यही कारण था कि उन्होंने बोअर-युद्ध के समय नेटाल की लडाई में स्ट्रेचर उठाने के लिए हिन्दुस्तानियों का एक सैनिक-दल बनाना चाहा। प्रस्ताव पहले नामंजूर हुआ, लेकिन पीछे मान लिया गया और हिन्दुस्तानियों ने अमूल्य सेवायें कीं। जनरल रॉबर्ट्स का पुत्र सख्त घायल हुआ। उसे हिन्दुस्तानियों ने ही सात मील दूर शीवेली के अस्पताल में पहुंचाया। १९०६ के जुलू-युद्ध में यही सेवा हिन्दुस्तानियों ने फिर की। और सन् १९०४ में जोहान्सबर्ग में प्लेग फैल जाने के अवसर पर अगर गांधीजी फौरन उद्यम न करते तो जितनी प्राणहानि हुई, उससे कहीं अधिक होती।

जातीय संघर्ष के उस वातावरण में 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के अस्त्र का सबसे पहले प्रयोग करने वाले इस पुरुष में ये गुण और ये भावनायें थीं। उनके ही शब्दों में, उसने भारतीय विवेक-बुद्धि की समझ में न आनेवाले कानून को मानने से इन्कार कर दिया। लेकिन एक कानून-पाबन्द प्रजाजन की भांति कानून द्वारा दिये गये दण्ड को भुगता। वह जानते थे और कहते थे कि 'निष्क्रिय प्रतिरोध' से उनका आदर्श आधा ही स्पष्ट होता है। "उससे मेरा सारा उद्देश्य व्यक्त नहीं होता। पद्धति तो उससे प्रकट होती है, पर जिस 'प्रयोग' का यह केवल एक अंशमात्र है, उसकी ओर कोई निर्देश प्राप्त नहीं होता। मेरा उद्देश्य तो यह है कि बुराई के बदले भलाई की जाय और इसीमें सच्ची सुन्दरता है।" इस भावना के अनुसार ही उनका यह दावा था कि अपने शत्रुओं से प्रेम करना तथा अपने द्वेषी और पीड़कों की भी भलाई करने की ईसा की आज्ञा भारतीय दूरदर्शी विचारकों और धर्मप्रचारकों के वचनों के सर्वथा अनुकूल ही है।

मैं यहां 'निष्क्रिय प्रतिरोध' के 'अस्त्र' के सम्बन्ध में कुछ अपने विचार प्रकट कर दूं। यह तो साफ है कि यह एक स्थाई सिद्धांत बन गया है। लोगों ने इसे कई प्रकार से प्रयुक्त किया है और करेंगे। व्यक्ति (जैसे कि युद्धके समय इसके नैतिक विरोधी) व्यक्ति के रूप में इसका प्रयोग कर सकते हैं। राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से असमर्थ जन-समूह इसको एक-मात्र सम्भव साधन समझकर इसपर निर्भर रह सकते हैं। नैतिक शस्त्र के रूप में (शारीरिक शस्त्र के रूप में नहीं) यह राजनैतिक युद्ध के धरातर को ऊँचा उठा देता है। इसके प्रयोग करने वाले योद्धा स्वेच्छा से दुःख और अपमान सहते हैं और उन्हें आत्मनिग्रह और इच्छा-शक्ति

असाधारण पैमाने तक बढ़ानी पड़ती है। इसकी सफलता का प्रभाव यही होता है कि जिनके विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है उनकी विवेक-बुद्धि पर इसका असर पड़ता है। सच्चाई उनमें ही है,' यह विश्वास उनका जाता रहता है। शारीरिक शक्ति व्यर्थ हो जाती है तथा दुःख देने में अपना हाथ रहा है, यह अनुभव करने से उत्पन्न अपने दोषी होने की एक प्रकार की भावना उनके संकल्प को ढीला कर देती है। प्रभावित करने के लिए जिनमें विवेक-बुद्धि ही न हो, ऐसे विरोधियों पर भी इस शस्त्र का कोई सफल प्रभाव हो सकता है, इसमें मुझे सन्देह है। जैसा कि समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ है, गांधीजी ने जर्मनी के यहूदियों को 'निष्क्रिय प्रतिरोध' से अपनी रक्षा करने की सलाह दी है। यदि सलाह पर अमल किया जाय, तो शायद यही पता लगेगा कि नाजी बवंडर-सेनाओं और उनके नेताओं की विवेक-बुद्धि पर ऐसे नैतिक दबाव का कोई असर नहीं होता।

और भी। चूंकि निष्क्रिय प्रतिरोध एक नैतिक अस्त्र है, इस कारण समूह-रूप से लोगों के लिए यह प्रायः सम्भव नहीं होगा कि वे निःस्वार्थ लगन के उस क्षेत्र तक पहुँच सकें, अथवा वहां पहुँचकर स्थिर रह सकें, जिस क्षेत्र पर पहुँचने से मनुष्य की स्वभावजन्य कलहेच्छा, क्रोध, प्रतिहिंसा, धैर्य, क्षमा और प्रेम में बदल जाती है। इस 'रीति' का व्यवहार उसे उस 'प्रयोग' से जुदा करके, जिसका कि यह केवल एक अंशमात्र है, किया ही नहीं जा सकता। अर्थात् अपने शत्रुओं के प्रति प्रेम और बुराई के बदले में भलाई करने की भावना के बगैर इसका प्रयोग हो नहीं सकता।

मिलकर काम करने के लिए नेता चाहिए ही, लेकिन मनुष्य-समूह को इतना ऊंचा उठाने के लिए नेता की और भी अधिक आवश्यकता है। और वह नेता साहस तथा नैतिक दृढता की साक्षात् मूर्ति ही होना चाहिए, ताकि बढ़े-चढ़े प्रचार-साधनों या बवंडर-नेताओं की बन्दूकों की सहायता के बिना भी वह अपने अनुयायियों को अपने आचरण और उपदश के बल से ही साहसी और दृढ़निश्चयी बना सके। ऐसे नेता बिरले ही होते हैं। गांधीजी जैसे पुरुष एक पीढ़ी में एकाधबार भी नहीं पैदा होते।

इस समय इस बात का स्मरण दिलाना रुचिकर होगा कि दक्षिण अफ्रीका के गोरे उन दिनों गांधीजी की आलोचना इसलिए करते थे कि उनको डर था कि हिन्दुस्तानियों के निष्क्रिय प्रतिरोध की नकल कहीं यहां के आदि-निवासी भी न करने लगे। दक्षिण अफ्रीका को 'श्वेतांगों का देश' बनाने के लिए इन आदि-निवासिग्रों

को कानून और चलन दोनों के द्वारा हिन्दुस्तानियों की स्थिति से भी नीचे रक्खा जाता था और रक्खा जाता है। गांधीजी उत्तर देते थे कि बलवा, हिंसा और खून खराबी से तो नैतिक अस्त्र बेहतर ही है, इसका प्रयोग ही न्यायसंगत प्रयोजन का सूचक है। इसलिए यदि आदि-निवासियों का ध्येय न्यायसंगत है और निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीके का प्रयोग करने के लिए सभ्यता की उचित मात्रा तक वे पहुँचे हुए हैं तो वे वस्तुतः 'मत' देने के अधिकारी हैं और दक्षिण अफ्रीका के अनेक जातीय तानेबाने में उन्हें अपना स्थान नियत करने के लिए आवाज उठाने का पूरा अधिकार है।

ये तीन साल पहले की बातें हैं। दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानी आज भी गांधीजी के नेतृत्व को याद करते हैं, पर जबसे वह हिन्दुस्तान लौटे, आजतक उन लोगों ने निष्क्रिय प्रतिरोध के अस्त्र का प्रयोग नहीं किया। और आदि-निवासी, अनेक बाधाओं की मौजूदगी में भी पर्याप्त आगे बढ़े गये हैं। लेकिन कोई निश्चय-पूर्वक यह नहीं कह सकता कि वे इस अस्त्र का प्रयोग कभी करने के लिए तैयार होंगे भी तो कबतक? क्योंकि उसके लिए प्रयोक्ताओं को ऐसी असाधारण विशेषतायें प्राप्त करनी पड़ती हैं। निरस्त्र वे हैं, पारस्परिक मतभेद उनमें हैं, और असहाय वे हैं। इसलिए अन्त में यही एक अस्त्र उनकी आशा का आधार है। परन्तु आदि-निवासी गांधी का दिन अभी नहीं निकला। इसके निकलने की कभी जरूरत भी न हो, परन्तु दक्षिण अफ्रीका के अल्पसंख्यक गोरे सदा इसी कोशिश में रहते हैं कि यहाँ के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र की उन्नति में किसी गैर की पहुँच हो ही न सके। इन कोशिशों का सम्भाव्य परिणाम यही होगा कि यहां की सारी-की सारी गैर-यूरोपियन जातियां इसके विरुद्ध संगठित हो जायंगी। उस अवस्था में हो सकता है कि हिन्दुस्तानियों में से कोई गांधीजी के पद-चिह्नों पर चलता हुआ, गैर-यूरोपियनों के निष्क्रिय प्रतिरोध के मोर्चे का नेतत्व करे।

: १८ :

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी

जॉन एच० हाफमेयर

प्रसिद्ध मिशनरी राजनीतिज्ञ डॉ० जॉन आर० मॉट जब पिछली बार ताम्बरम् कान्फ्रेन्स में उपस्थित होने के लिए हिन्दुस्तान गये तो उन्होंने सेगांव में महात्मा गांधी से भेंट की। वहां उन्होंने जो प्रश्न गांधीजी से पूछे उनमें से एक यह था—"आपके जीवन के वे अनुभव क्या हैं, जिनका सबसे विधायक प्रभाव हुआ ?" इसके उत्तर में यहां महात्माजी के उत्तर को ही उद्धृत कर देना ठीक होगा।

"जीवन में ऐसे अनेक अनुभव हुए हैं। लेकिन इस समय आपने पूछा तो मुझे एक घटना खास-तौर पर याद आती है, जिसने कि मेरे जीवन का प्रवाह ही बदल दिया। दक्षिण अफ्रीका पहुँचने के सात दिन बाद ही वह घटना घटी। मैं वहां केवल ऐहिक और स्वार्थ-साधन का उद्देश्य लेकर गया था। मैं अभी इंग्लैण्ड से लौटकर आया हुआ निरा लड़का ही था और कुछ धन कमाना चाहता था। मेरे मवक्किल ने अचानक मुझे प्रिटोरिया से डरबन जाने के लिए कहा। यह यात्रा सुगम नहीं थी। चार्ल्सटाउन तक रेल का रास्ता था और जोहान्सबर्ग तक बग्घी से जाना पड़ता था। रेलगाड़ी का मैंने पहले दर्जे का टिकट लिया। पर बिस्तर का टिकट मेरे पास नहीं था। मेरित्सबर्ग स्टेशन पर जब बिस्तर दिये गए, तो गार्ड ने मुझे बाहर निकाल दिया और माल के डिब्बे में जा बैठने के लिए कहा। मैं नहीं गया और गाड़ी मुझे सर्दी में कांपता छोड़कर चल दी। यहां वह विधायक अनुभव आता है। मुझे अपनी जान-माल का डर था। मैं अंधेरे वेटिंगरूम में घुसा। कमरे में एक गोरा था। मुझे उससे डर लगा। मै सोचने लगा कि क्या करूं ? मैं हिन्दुस्तान लौट जाऊँ या परमात्मा के भरोसे आगे बढ़ूं और जो मेरे भाग्य में बदा है, उसको सहन करूँ ! मैंने फैसला किया कि यहीं रहूँगा और सहन करूँगा। जीवन में मेरी सक्रिय अहिंसा का आरम्भ उसी दिन से होता है।"

इस घटना का स्मरण दक्षिण अफ्रीका निवासी को रुचिकर नहीं है; लेकिन गांधीजी के जीवन में दक्षिण अफ्रीका के महत्त्व पर इससे प्रकाश पड़ता है। क्योंकि उनमें दक्षिण अफ्रीका में ही सत्याग्रह के सिद्धान्त की लहर उठी और वहीं 'हिंसारहित प्रतिरोध' का अस्त्र गढ़ा गया। प्रायः ऐतिहासिक घटनायें भी प्रतिफल देती हैं।

हिन्दुस्तान ने, यद्यपि स्वेच्छा से नहीं, दक्षिण अफ्रीका की सबसे अधिक कठिन समस्या पैदा की और दक्षिण अफ्रीका ने, वह भी स्वेच्छा से नहीं, हिन्दुस्तान को सत्याग्रह का विचार दिया ।

दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानी इसलिए आये कि गोरों के हित में उनका आना आवश्यक समझा गया । नेटाल के किनारे की भूमि से लाभ उठाना गिरमिटिया (प्रतिज्ञाबद्ध) मजदूरों के बिना असम्भव जान पड़ा । इसलिए हिन्दुस्तानी आये और उन्होंने नेटाल को हरा-भरा बनाया । बहुत से वहीं बसकर उपनिवेश को खुशहाल बनाने लगे । फिर और भारतीय भी आते रहे । स्वतंत्र प्रवासी भी आये और गिरमिटिया लोग भी । लेकिन समय आया और यूरोपियनों को खतरा पैदा हो गया कि अपने रहन-सहन के निम्नतर मानवाले हिन्दुस्तानी हमारे एकाधिकार के किसी-किसी क्षेत्र में हमें मात कर देंगे । वर्ण-विद्वेष के लिये इतना ही पर्याप्त था । हिन्दुस्तानियों को लार्ड मिलनर के शब्दों में, "स्वागत के लिये अनिच्छुक समाज पर अपने आपको बलात् लादनेवाले विदेशी" कहा जाने लगा । इस द्वेष-भावना का ही मेरित्सबर्ग स्टेशन पर युवक गांधी को अनुभव हुआ और उसका फल हुआ सत्याग्रह का जन्म ।

दक्षिण अफ्रीका में महात्माजी के जीवन और कार्य का वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है । यह लम्बा संघर्ष था । इसमें उनके प्रतिद्वन्दी जनरल जे० सी० स्मट्स भी आज संसार के प्रसिद्ध पुरुषों में से हैं । दोनों में बहुत-सी समानतायें थीं । कुछ साल पहले मैं एक उच्च सरकारी अफसर के साथ जोहान्सबर्ग के बाहर हिन्दुस्तानी और देसी बच्चों के लिये सुधार-जेल (रिफार्मेटरी) देखने गया — यह पहले जेल ही थी । मेरे साथी ने मुझे वह कोठरी बताई जिसमें तीस साल पहले गांधीजी को रक्खा गया था और तब वह एक जूनियर मजिस्ट्रेट की हैसियत से उन्हें दर्शनशास्त्र की पुस्तकें देने आए थे । ये पुस्तकें उनके अफसर जनरल स्मट्स ने उपहार स्वरूप भेजी थीं । बड़ी प्रसन्नता की बात है कि अन्त में सारी विनाश कारिणी शक्तियों के ऊपर इन दोनों महापुरुषों के पारस्परिक सम्मान और मित्रता के भावों की विजय हुई और आज भी वह मेल बना हुआ है ।

दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी को क्या मिला? वह स्मट्स को उनका मुख्य उद्देश्य पूरा करने से नहीं रोक सके—यह उद्देश्य दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों के प्रवास को रोकना था । लेकिन गांधीजी इस बात में सफल हुए कि प्रवासियों के कानून में हिन्दुस्तानियों का खासतौर पर जो अपमान होता था, उससे वे बच गये

और वहां पहले बसे हुए हिन्दुस्तानियों की छोटी-छोटी शिकयतें भी दूर हो गई। दक्षिण अफ्रीका से लौटते समय यदि उन्होंने ऐसी आशा की हो, और निस्सन्देह उन्होंने की थी, कि स्मट्स के साथ हुए उनके समझौते को परिणामस्वरूप एशिया-निवासियों के विरुद्ध होनेवाले वर्ण-विरोध का नाश हो जायगा तो उसमें वह जरूर निराश हुए हैं। दक्षिण अफ्रीका में यह पक्षपात आज भी वैसा ही मजबूत है और इसके कई रूप तो दक्षिण अफ्रीका का नाम ही बदनाम करते हैं।

फिर भी दक्षिण अफ्रीका के हिन्दुस्तानियों पर गांधीजी के नेतृत्व की अमिट छाप है। गांधीजी ने ही उन्हें इस योग्य बनाया कि वे निम्न जाति में पैदा होने से लगी हुई अयोग्यतायें दूर कर सकें और उन्हें जातीय स्वाभिमान का ज्ञान हुआ जो अमिट रहा है। दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी हिन्दुस्तानी पृथक्करण के कलंक का विरोध करने के लिए इसी दृढ़ता से तैयार हैं जिस दृढ़ता से कि वे गांधीजी के झंडे के नीचे अपमानजनक कानूनों के विरुद्ध लड़े थे। लेकिन सबसे अधिक महत्व की बात तो यह है कि जिन दिनों गांधीजी ने कानून तोड़ा, अंगूठा लगाये बिना प्रान्तीय सीमायें पार कीं, जेल गये और आये, उन दिनों वह वस्तुतः आत्मनिग्रह का पाठ पढ़ रहे थे और इसकी शक्ति तथा शस्त्र के रूप में इसकी साध्यकता की परीक्षा कर रहे थे।

इसलिए यह कहा जा सकता है कि दक्षिण अफ्रीका ने उस महापुरुष के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है, जो केवल भारत का महात्मा ही नहीं, बल्कि संसार के महान् आध्यात्मिक नेताओं में से एक होनेवाला था।

हां, वहां के श्वेत शासक उस विशिष्ट परिस्थिति को शायद ही संतोष के साथ स्मरण करेंगे, जो उस महान् आत्मा के परिवर्तन में कारणीभूत हुई।

: १९ :

गांधी और शांतिवाद का भविष्य

लारेन्स हाउसमैन

सफल शान्तिवाद के जीवित प्रतिपादकों में महात्मा गांधी का स्थान सबसे ऊँचा है। उन्होंने यह दिखला दिया है कि क्रियात्मक शान्तिवाद संसार की राजनीति

में एक शक्ति हो सकती है। बल और दमन द्वारा शासन करने के हथियार से भी यह हथियार अधिक मजबूत साबित हुआ है। दक्षिण अफ्रीका में उनको पूरी सफलता मिली। हिन्दुस्तान में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली और अगर इसके प्रयोग करनेवालों की संख्या और अधिक होती और वह प्रयोग एक समान हिंसा-रहित होता, तो महात्मा के इस शान्तिमय अस्त्र की अवश्य विजय होती।

'व्यावहारिक राजनीति' के नाम से प्रसिद्ध क्षेत्र में शान्तिवाद की शक्ति के इस सफल प्रयोग की कीमत कूती नहीं जा सकती और स्वाधीनता में प्रयत्नशील राष्ट्रों और जातियों के लिए वह भविष्य तो करनेवाला प्रकाश-स्तम्भ ही है।

साधारण मनुष्य जिन ढंगों को काम में लाता है, अहिंसा की प्रणाली उनसे बहुत भिन्न है। युग-युगान्तर से एक ऐसी परम्परा चली आई है जिसने मनुष्य को भटकाकर यह मानने के लिए बाध्य कर दिया है कि बुराई की रोक हिंसा से ही हो सकती है। इन बातों को देखते हुए अहिंसा की सफलता का महत्व और भी बढ़ जाता है। हिसा का पक्ष करनेवाली इस परंपरा के होते हुए भी, गांधीजी को इस अग्नि-परीक्षा का सामना करनेवाले इतने अधिक और, न्यूनाधिक इतने विश्वस्त अनुयायी मिल गये, यही, मेरी समझ में इस बात का प्रमाण है कि उनका जो उपदेश है वह मानव-प्रकृति का छिपा हुआ, मूल-सत्य है और यह न तो ऐसा है, जो, आदर्श सामने होनेपर भी साधारण स्त्री-पुरुषों की समझ में न आये और न ऐसा ही है कि वे उसको आचरण में न ला सकें और अपने महान उद्देश्यों की पूर्त्ति में उसका उपयोग न कर सकें।

इन्हीं कारणों से मेरा विश्वास हो गया है कि महात्मा गांधी का जीवन आज सबसे अधिक मूल्यवान् है। यद्यपि मैं उनकी ७० वीं वर्षगांठ के लिए अपनी शुभकामना भेज रहा हूँ, फिर भी मेरी इच्छा होती है कि आज वे इससे कई वर्ष छोटे होते, जिससे दुनिया की यह आशा युक्तिसंगत होती कि गांधीजी का प्रबुद्ध नेतृत्व उन्हें अनेक वर्षों तक मिलता रहे।

: २० :

गांधीजी का सत्याग्रह और ईसा का आहुति-धर्म

जॉन एस० होयलैण्ड

सन् १९३८ की शरद ऋतु के अन्त में मद्रास में, ईसाई पादरियों की एक सभा हुई थी। इसमें संसार से सब देशों के और खासकर अफ्रीका और पूर्व के नये धर्म-संघों के प्रतिनिधि इस बात पर विचार करने के लिये कि हजरत ईसा के संदेश की दृष्टि से दुनिया की वर्तमान समस्याओं का हल क्या है, एकत्र हुए थे। इस मद्रास-कान्फ्रेंस से पहले एक अपूर्व घटना घटी। धनी-मानी ईसाइयों में प्रतिष्ठित इन प्रमुख ईसाई नेताओं में से कई, बड़ी लम्बी दूरी तय करके, एक हिन्दू-नेता-गांधीजी के दर्शन और उनके चरणों में बैठकर शिक्षा लेने पहुँचे। इनका उद्देश्य गांधीजी से यह सीखना था कि हजरत ईसा के उपदेश पर आचरण करने का बेहतर तरीका कौन-सा है। यह तो निर्विवाद है कि पहले की किसी ऐसी ईसाइयों की अन्तर्राष्ट्रीय सभा के समय ईसाई नेताओं ने ऐसी बात नहीं की थी। अब जब उन्होंने ऐसा किया तो इससे पहली बात तो यह प्रकट होती है कि ईसाई गलत रास्ते पर चले जा रहे हैं, (आधुनिक यंत्रवाद और साम्राज्यवाद से समझौता करने का ही यह परिणाम है) यह खयाल कितना व्यापक और गहरा हो चुका है और दूसरी बात यह कि हिन्दुस्तान का यह महान् ऋषि हजरत ईसा के मन की बात हमसे अधिक अच्छी तरह समझता है और उसके निर्दिष्ट मार्ग पर चलने में भी हमसे आगे बढ़ा हुआ है, यह विश्वास भी कितना दृढ़ हो गया है।

इन ईसाई नेताओं से गांधीजी की जो अत्यन्त महत्वपूर्ण बातचीत हुई उसमें उन्होंने पहले धन का प्रश्न लिया। थोड़े शब्दों में उन्होंने अपना विश्वास प्रकट करते हुए कहा—"मेरे विचार में ईश्वर और लक्ष्मी की सेवा साथ-साथ नहीं की जा सकती। मुझे शंका है कि लक्ष्मी को तो हिन्दुस्तान की सेवा करने भेज दिया गया है, और ईश्वर वहीं रह गये हैं। परिणाम इसका यह होगा कि ईश्वर अपना बदला चुका लेगा।.....मैंने यह हमेशा अनुभव किया है कि जब किसी धार्मिक संस्था के पास उसकी आवश्यकता से अधिक धन जमा हो जाता है तब यह खतरा भी हो जाता है कि कहीं वह संस्था ईश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा न खो बैठे और धन पर निर्भर न रहने लगे। धन पर निर्भर रहना एकदम छोड़ देना होगा।

"दक्षिण अफ्रीका में जब मैंने सत्याग्रह-यात्रा शुरू की तो मेरी जेब में एक पैसा भी नहीं था और मैं वैसे ही बिना गहरा विचार किये आगे बढ़ा। मेरे साथ तीन हजार आदमियों का काफिला था। मैंने सोचा, 'कुछ फिक्र नहीं, अगर भगवान् की मर्जी हुई तो वही पार लगायेगा।' हिन्दुस्तान से धन की वर्षा होने लगी। मुझे रोक लगानी पड़ी, क्योंकि ज्योंही धन आया, आफत भी शुरू हो गयी। जहाँ पहले लोग रोटी के टुकड़े और थोड़ी-सी शक्कर में संतुष्ट थे, अब तरह-तरह की चीजें मांगने लगे।

"और इस नये शिक्षा-संबंधी परीक्षण को लीजिये। मैंने कहा कि यह प्रयोग किसी प्रकार की आर्थिक सहायता मांगे बिना ही चलाया जाय। नहीं तो मेरी मृत्यु के बाद सारी व्यवस्था तीन-तेरह हो जायगी। **सच बात तो यह है कि जिस क्षण आर्थिक स्थिरता का निश्चय हो जाता है, उसी समय आध्यात्मिक दिवालियेपन का भी निश्चय हो जाता है।"**

यह अन्तिम वाक्य गांधीजी के आदर्शवाद का सर्वोत्तम नमूना है। उन्होंने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि मुनाफे की इच्छा से नियोजित कोष पर अधिकार जमाना और आर्थिक साधनों को हस्तगत कर लेना किसी जीवित आन्दोलन का आध्यात्मिक विनाश करना है। स्वेच्छा से और स्वार्थत्याग की भावना से बने स्वयंसेवक फिर उस आंदोलन से लाभ उठानेवाले लोलुप बन जाते हैं और जो इससे मदद पाते और उदात्त बनते थे, वे दरिद्र हो जाते हैं। आन्दोलन और उसका कोष बार-बार अच्छी तरह और चतुराई के साथ एक ही आदमी से दुही जानेवाली गाय बन जाते हैं। बुराई और पतन तब अनिवार्य हो जाते हैं और सब प्रकार के दंभ और छल चलने लगते हैं।

लेखक को महामारी, दुर्भिक्ष और युद्ध के पश्चात् सहायता में धन-वितरण का कुछ अनुभव है। उसके आधार पर उसे निश्चय है कि गांधीजी ठीक कहते हैं। वस्तुतः जीवित आध्यात्मिक आंदोलन, धन-संचय करने से जितना अधिक-से-अधिक बचेगा उतना ही उसका बल बढ़ेगा। गांधीजी के इन विचारों की उत्पत्ति 'अपरिग्रह' के सिद्धान्त में विश्वास होने से हुई है। यह सिद्धान्त फ्रान्सिस के अनुयायियों के 'स्वत्ववाद'—वैयक्तिक सम्पत्ति को छोड़ने के सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। गांधीजी के अत्यन्त समीपस्थ शिष्यों में से एक ने सार-रूप में यह बात यों कही है: "धन उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयेगा जिसके लिए तुम अपना जीवन उत्सर्ग करने को तैयार हो; लेकिन जब धन नहीं होगा तो यदि तुम विमुख नहीं होगे तो

उद्देश्य पूरा होता रहेगा, और शायद धन के अभाव में और भी अधिक अच्छी तरह पूरा होगा।"

दूसरा—और बहुत महत्व का—प्रश्न तो ईसाई नेताओं और गांधीजी की इस वार्तालाप में छिड़ा, वह यह था कि 'डाकू' जातियों से कैसा बर्ताव होना चाहिए। हम अंग्रेजों के लिए यह अच्छा है कि ऐसे प्रश्नों पर विचार करते हुए हम मान लें कि दुनिया के बहुत-से लोग हम अंग्रेजों की गिनती 'डाकू' जातियों में करते हैं। यह कहा जा सकता है कि हम लोगों ने तो अब लूट-खसोट बंद कर दी है और हम १९१९ में नौ उपनिवेशों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के बाद से बिलकुल शान्त और संतुष्ट बैठे हैं। परन्तु, हमारे इस कहने से क्या होता है। अन्तर्राष्ट्रीय लूट-पाट कुछ लोगों ने अभी हाल में शुरू की है और हम लोगों ने बहुत पहले कर दी है। परन्तु इसलिए दूसरी जातियाँ हम पुराने लुटेरों को नये लुटेरों से तनिक भी कम नहीं समझती। ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर जो गुलामी के अभिशाप से पीड़ित है, उनकी बड़ी इच्छा है कि अंग्रेज लोगों के अंतःकरण में इस अन्तर्राष्ट्रीय लूट-खसोट के प्रति क्षोभ उत्पन्न हो जाता और जर्मनी, इटली तथा जापान इस लूट-पाट के क्षेत्र में जो नंगा-नृत्य कर रहे हैं, उससे उनका (अंग्रेजों का) कुछ भी नाता न रहता।

गांधीजी ने इस बात पर जोर दिया कि जिनकी अहिंसा में श्रद्धा है और इस पर कुछ-कुछ आचरण करना सीखे हैं उन्हें यह मानना होगा कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय 'डाकूपन' के इस अत्यन्त अप्रिय और भीषण रूप का मुकाबला भी अहिंसा से किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा—"बल का प्रयोग चाहे कितना ही न्यायसंगत क्यों न दीखे, अन्त में हमें उसी दलदल में ला पटकेगा जिसमें कि हिटलर और मुसोलिनी की ताकत ला पटकती है। केवल भेद होगा तो मात्रा का। जिन्हें अहिंसा पर श्रद्धा है, उन्हें इसका प्रयोग संकट के क्षण में करना चाहिए। हम डाकुओं तक के हृदयों को प्रभावित कर सकते हैं। संभव है इस प्रयत्न में हमें जल्दी सफलता न मिले और कुछ दिनों हमारा सत्याग्रह वैसा ही व्यर्थ हो जैसा कि एक जड़ दीवार पर सिर पटकना। परन्तु हताश होने की जरूरत नहीं।"

कुछ देर बाद बातचीत का रुख बदला। गांधीजी से पूछा गया कि अन्याय और अत्याचार के विरोध के लिए जीवन में कैसे सामर्थ्य आ सकती है; किस प्रकार रचनात्मक अनुभव निश्चित रूप से यह शक्ति पैदा कर सकते हैं? गांधीजी ने यहाँ अपना वह कटु अनुभव सुनाया जो १९वीं सदी के अन्तिम दशाब्द में दक्षिण अफ्रीका पहुँचने के सात दिन बाद ही उन्हें हुआ था। इस घटना से गांधीजी की सफलताओं के

दो मूल तत्व प्रकट है । प्रथम तो भय पर उनकी विजय । पश्चिम के किसी राष्ट्र के निवासी, जो प्राय परस्पर समान भाव से रहते है, उस भय की कल्पना भी नही कर सकते जिस भय से औसत हिन्दुस्तानी किसी गोरे को देखता है—अथवा देखता था । किसानो को एक गोरा किसी दूसरे लोक मे उतरकर आया प्राकृतिक शक्तियो पर दैवी प्रभुत्व रखनेवाला प्राणी लगता था । उसका आतक प्राय गुलामी पैदा कर देता था, उसके सामने कॉपना ओर बिना आनाकानी उसकी आज्ञा मानना होता था । यह बिल्कुल ठीक कहा गया है कि गाधीजी ने अपने देशवासियो को जो सबसे बडी भेट दी है वह है गोरो के सामने भयभीत हो जाने की भावना पर विजय । गाधीजी ने हिन्दुस्तानियो को खासकर किसानो को सिखाया कि गोरो के सामने सीधे खडे हो, निडर होकर उनसे ऑख मिलाये और जब उनकी कोई आज्ञा देश-हित के लिए हानिकर प्रतीत हो, उसका जान-बूझकर उल्लघन करे। जैसे डर छूत से फैलता है वैसे ही निर्भयता भी । गाधीजी मे निर्भयता की भावना है और इसे दूसरो मे पहुचाने की बडी-से-बडी ताकत भी भारतीय किसानो मे यह हिम्मत भर दी है कि वे अन्याय से मागा गया लगान न दे, जिले के अफसर उनके विरुद्ध चाहे कुछ भी क्यो न करे । जो हिन्दुस्तान को जानते है, उनके लिए यह सिद्ध करने के लिए कि भय पर विजय पाने की गाधीजी के व्यक्तित्व मे अनुपम शक्ति है, यही काफी प्रमाण है ।

नवयुवक गाधी के जीवन मे यह, जो मोरित्सवर्ग स्टेशन पर घटना हो गई उससे उनके एक बडे विश्वास का पता लगता है । वह विश्वास यह है कि हम स्वय दु ख झेल कर क्रियात्मक रूप से भी दूसरो का उद्धार कर सकते है । गाधीजी का यह विश्वास आजीवन रहनेवाला है ओर इसके अनुसार वह सदा आचरण भी करते आये ह । रेल के डिब्बे से निकाल दिए जाने और गाडीवान के हमले की घटना नगण्य प्रतीत होती हो, लेकिन याद रहे कि उस अपमान ओर पीडा को एक सकोचशील और कोमल हृदय युवक ने दूसरो के लिये स्वय साहस पूर्वक सहन किया था । उसी दिन व्यवहाररूप मे, केवल सिद्धान्त रूप मे ही नही, गाधीजी के सत्याग्रह का जन्म हुआ । इसका आदर्श यह है कि "कष्ट से बच निकलने की कोशिश मत करो, साहस से उसमे कूद पडो, वाहवाही लूटने या विरक्त बनने या आत्म-बलिदान कर देने के लिए नही, बल्कि इसलिए कि अगर तुम दूसरो की सहायता करने की सच्ची भावना से इन कष्टो को झेलोगे तो यह कष्ट बुराई को भलाई बना देनेवाली विधायक शक्ति बन जायगा ।" लगभग तीस साल बाद अपने

देश का भविष्य उज्ज्वल बनाने की इच्छा से जिस उल्लास और जोश से ढाई लाख हिन्दुस्तानी जेलों मे चले गए, वह इस नवयुवक के उस साहस का ही परिणाम था जिससे कि इस युवा ने नेटाल मे अपना यह कठोर प्रयोग किया। कोई यातना या अपमान ऐसा नही है जो सद्भावना से झेला जाय तो उसमे दूसरो की भलाई न हो। कारण कि सत्याग्रह किसी देश को स्वतत्र कराने या उसमे एकता पैदा कराने या सैनिकवाद और युद्ध को जीतने अथवा भ्रष्ट सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने का ही साधन नही है। इसका प्रभाव तो और अधिक गहराई में पहुँचता है। यह आत्म यज्ञ का, क्रास का, आत्माहुति का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त सत पाल के इस कथन का स्मरण दिलाता है कि "मै ईसामसीह के कष्टो की झोली भरता हूँ।" जो मनुष्य सत्याग्रह के इस अर्थ को कुछ भी समझ लेता है वह इतिहास के लबे दृष्यो मे, सब जगह, जातियो के धीरे-धीरे होनेवाले विकास मे, उस जाति को उन्नत और जीवित रहता देखता है, जिसके अगणित व्यक्तियो ने बलिदान और कष्ट सहन किया है। वह देखता है कि वात्सल्य जेसा कोई भाव सृष्टि मे काम करता है। पीछे वही भाव सामाजिक सहयोग के रूपमे प्रकट होता है। आरम्भ मे सहयोग धीमे-धीमे और परीक्षण के रूप मे बढता है। बाद मे वही निश्चित प्रभाव और बलवाला हो चलता है। लेकिन यह तत्व जहाँ किसी भी रूप मे काम नही करता है, वहाँ दूसरों—उदाहरणार्थ अपने बशजों और बाद मे अपने साथियों—की भलाई के लिए प्रायः स्वेच्छा से स्वीकृत कप्ट और मृत्यु द्वारा व्यक्ति की आत्म-निग्रह की भावना साथ होती है। मानव-जाति के इतिहास को देखने से मालूम होता है कि जैसे-जैसे शताब्दिया बीतती जाती है वैसे ही वैसे यही सिद्धान्त अधिकाधिक स्पष्ट रूप से जगमगाता जाता है। मानव-इतिहास और प्रगति का सम्पूर्ण मूल सिद्धान्त का साराश "क्रॉस आव क्राइस्ट" (ईसा की आत्माहुति) मे मिल जाता है। अविचल और स्थिर भाव से वह (ईसा) जेरुसलम को चल दिया", जहाँ सत्य के लिए उन्हे शहीद होना था वह बोले "भगवान! यदि तेरी यही इच्छा है, तो मेरे इस घट (शरीर) को मुझसे अलग हो जाने दे।"

इस प्रकार सत्याग्रह के जिज्ञासु को यह मानना पड़ता है कि गाधीजी ने अहिसक रहते हुए दूसरों के लिए स्वेच्छा से कष्ट उठाने के आन्दोलन मे अपने देशवासियो को डालकर एकबार विश्व-विदित सिद्धान्त को प्रकट कर दिया है, जो पश्चिम की स्वार्थमय विलासमय, और लालचभरी भावना से धुधला पड गया था। औद्योगिक क्रांति के आरम्भ-काल में लगभग डेढ़ शताब्दी तक ईसाई मजहब ने क्रॉस (आत्माहुति)

का बहुतेरा उपदेश दिया, परन्तु सर्वव्यापी स्वार्थपरता की भावना के आगे इसकी एक न चली और यह केवल व्यक्तियों की मुक्ति का एक रूढ़ चिह्नमात्र रह गया है हमारी संततियों के सामने एक भारी काम है, (और अगर यह पूरा न हो सका तो सभ्य-मानवों में हमारी संतति सबसे पिछड़ जायगी) वह काम यह कि वे ऐसे 'क्रॉस' की खोज करें जो केवल रूढ़मात्र न हो; बल्कि अन्याय, युद्ध और हिंसा रोकने में जीते-जागते अमर सिद्धान्त के प्रतीक रूप में हो। हमें फिर से यह सीखना है कि ईसामसीह के 'क्रास को लेकर मेरे पीछे चलो' शब्दों का असली मतलब क्या था? हमें फिर से यह सीखना है कि जिस प्रकार उसने किया उसी प्रकार हम भी स्वेच्छा से हानि, कष्ट और मृत्यु तक का आलिंगन कर सकें। यह सब हमें सुधार की भावना से ––मनुष्य जाति को पाप और अन्याय से बचाने के लिए––सर्वथा अहिंसक रहकर, पीड़क और अन्यायी के प्रति तनिक भी द्वेष-भावना न रखते हुए, उसके साथ 'जैसा-का-तैसा' व्यवहार करने की जरा भी कोशिश न करते हुए, करना है। और फिर यह सब नम्रता, धीरता, मित्रता तथा सद्भावना से ही करना है।

लेकिन हजरत ईसा के जीवन से यह प्रतीत होता है कि ईश्वर का नये रूप में बोध ही हजरत के क्रॉस उठाने का कारण था। गांधीजी के संदेश में भी इसी विश्वास की भनक है। हमें फिर ईश्वर की एक नवीन सत्ता अनुभव करना है। परमात्मा की अपनी कार्यविधि ही क्रॉस और अहिंसा की विधि है। क्रॉस का यह मार्ग केवल कुछ जोशीले शान्तिवादियों के कोरे तरंगित विचार ही नहीं हैं। पाप और अन्याय की सफल विजय का यही ईश्वरीय अमर मार्ग है। 'क्रॉस' की छाया संसार के सारे इतिहास और व्यक्ति के जीवन पर पड़ती है। मानवीय रंगमंच पर यह ईश्वर की क्रियात्मक इच्छा है। हजरत ईसा ने हमें बताया कि परमेश्वर फिजूलखर्च लड़के के बाप की नाईं गलती करनेवाले का भी स्वागत उदारतापूर्वक बिना डाँट-डपट करता है। वह भले चरवाहे की भाँति अपनी एक भी भटकी भेड़ को ढूंढ़ने और बचाने के लिए घर से आराम को छोड़कर जंगलों, पहाड़ों, आंधी और पानी में घूमता फिरता है। अन्याय या बुराई के विरुद्ध ऐसी कार्यवाही करना परमेश्वर की इच्छा है, उसका अपना स्वभाव और अपना स्वरूप है।

परमेश्वर उद्धार करनेवाली सद्भावना की साधना, और रक्षा में प्रयत्नशील 'प्रेम' है, जो दुखिया की खातिर अपने ही आप कष्टों, खतरों और मौत तक को अपने ऊपर ओढ़ लेता है और तबतक ओढ़ लेता है जब तक कि इस पीड़ित संसार

की रक्षा नहीं हो जाती । यही ईश्वर है, जिसका हमें सहारा है और जिसपर हमें भरोसा करना चाहिए । यदि मार-काट लड़ाई-भिड़ाई और गरीबी आदि अभिशापों से मानवता को छुटकारा पाना है, तो सारी मनुष्य जाति को ही इसी ईश्वर पर भरोसा करना पड़ेगा । हमें उसी ईश्वर का बोध होना चाहिए ।

गांधीजी से एक प्रसिद्ध ईसाई नेता (डा० जॉन आर० मॉट) ने पूछा कि आपत्ति, सन्देह और संशय के समय उन्हें अत्यधिक संतोष किससे हुआ है ? उन्होंने उत्तर दिया—"परमात्मा में सच्ची श्रद्धा से ।" परमेश्वर किसी को साक्षात् आकर दर्शन नहीं देता, वह तो कर्मरूप में प्रकट हुआ करता है । इस सम्बन्ध में गांधीजी ने अस्पृश्यता-निवारण-विषयक अपने इक्कीस दिन के उपवास का अनुभव बताया । यदि हम परमेश्वर की इच्छा को पूर्ण करने के लिए कृतसंकल्प हैं तो वह स्वयं अपने ही तरीके से पथ-प्रदर्शन करेगा । हजरत ईसा ने एक जगह कहा था—"वह जो परमेश्वर की इच्छा का अनुसरण करता है, उसे सच्चा उपदेश अवश्य मिलेगा ।" और क्रूसारोहण से ठीक पहले अपने शिष्यों के पैर धोकर जब उसने हाथ से तुच्छ-से-तुच्छ कमाई और सेवा करने के महान्, पर भूले हुए संस्कार को फिर से प्रतिष्ठित किया, तब उसने कहा—"यदि तुम्हारे गुरु ने तुम्हारे लिए यह किया है तो तुम्हें भी यह करना चाहिए । जो आदर्श मैंने तुम्हारे सामने पेश किया है उसको समझकर उसपर चलने से तुम सुखी रहोगे ।" आचरण में ईसा की समानता करने से ही हम अपने जीवन के चरम उद्देश्य को पा सकते हैं, और विश्व के सर्वोपरि ध्येय के साथ ऐक्य अनुभव कर सकते हैं ।

महात्मा गांधी ने इस बात पर भी जोर दिया कि अगर असत् को जीतने में जीवन को सचमुच समर्थ बनाना है तो इसके लिए 'मौन' भी बहुत जरूरी है । उन्होंने कहा, "मैं यह कह सकता हूँ कि मैं अब सदा के लिए मौन जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति हूँ । अभी कुछ ही दिन पहले मैं लगभग दो महीने पूर्णतः 'मौन' में रहा और उस मौन का जादू अभी भी हटा नहीं है । . . . आजकल शाम की प्रार्थना के समय से मैं मौन ले लेता हूँ और दो बजे जाकर मिलनेवालों के लिए उसे छोड़ता हूँ । आज आप आये तभी मैंने मौन तोड़ा था । अब मेरे लिए यह शरीरिक और आध्यात्मिक—दोनों प्रकार से औषध हो गया है । पहले-पहल यह मौन काम के बोझ से छुटकारा पाने के लिए किया गया था, तब मुझे लिखने का समय चाहिए था । पर कुछ दिन के अभ्यास से ही इसके आध्यात्मिक मूल्य का भी मुझे पता लग गया । अचानक मुझे सूझा कि परमेश्वर से नाता बनाये रखने का मौन ही सबसे श्रेष्ठ

मार्ग है। और अब तो मुझे यही प्रतीत होता है कि मौन मेरे स्वभाव का ही एक अंग है।"

गांधीजी के भीतर काम कर रही सत्यपरायणता की सफल शक्ति का दृढ़ आध्यात्मिक आधार क्या है, यह इन शब्दों से बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। परमेश्वर में लवलीन हो जाने के इन धीर क्षणों में ही गांधीजी को पैगम्बर और ऋषियों की-सी दिव्य-शक्ति प्राप्त होती है और इस शक्ति से ही उनका अपने प्रेमियों और अनुयायियों पर असाधारण अधिकार है।

बाद में और एक अवसर पर गांधीजी ने कुछ अन्य ईसाई नेताओं से, जो हाल की मदरास की परिषद् में इकट्ठा हुए थे,हम सभी को फिर से लड़ाई में और इस प्रकार विद्वेष और हिंसा-पूर्ण उन्माद में झोंक देनेवाले भावी अन्तर्राष्ट्रीय महासंकट से मनुष्यजाति को बचाने की समस्या के विविध पहलुओं पर विचार किया। सभ्यता की जड़ों को खा जानेवाली 'नपुंसकता की जिल्लत' से सभ्यता की रक्षा कैसे की जा सकती है? पश्चिम की सभ्यता करीब दो हजार बरस से ईसा का सन्देश सुन रही है, पर इतने अन्तर में भी वह उस सन्देश पर अमल नहीं कर सकी। इसलिए आज वह हमारी आँखों के आगे ही नष्ट हो रही है। आज क्या हो रहा है और क्या-क्या होने वाला है, इसके सम्बन्ध में सारे पश्चिम में गहरी बेचैनी है। इसलिए यह उचित ही था कि ये ईसाई नेता उस व्यक्ति के चरणों में आते जिसने कि ईसा के उपदेश के केन्द्रीय तत्व—स्वेच्छा से अंगीकृत कष्टों से उद्धार करनेवाले आत्म-बलिदान—को एक बार फिर से जीता-जागता रखने का प्रयत्न करना स्पष्ट रूप से अपना ध्येय बनाया है। और इस प्रकार उस पूर्वकालीन विश्व-व्यवस्था की पुनर्सृष्टि की है, जो कई प्रकार से जीर्ण-शीर्ण हो चुकी थी। इस महापुरुष के उद्योग से इस गैर-ईसाई वातावरण और परिस्थिति में भी उत्पादक रूप से विजयी हो कर ईसा का 'आत्म-बलिदान'—क्रॉस—फिर एक बार जीवित हो उठा है।

क्या हम आशा न करें कि पश्चिम यद्यपि आर्थिक क्रान्ति के शुरू होने के समय से आज तक पीढ़ियों से अबाधित धन-तृष्णा के पीछे दौड़-दौड़कर पक्का हो रहा है तो भी क्रॉस का सन्देश फिर कुछ कर दिखायेगा। और क्रॉस का यह पुनर्जीवन समय रहते सर पर मँडराते हुए सर्वनाश से हमें बचा लेगा?

गांधीजी से एक दर्शनार्थी सज्जन ने पूछा कि आपने भारत के लिए जो कुछ किया है उसका प्रेरक उद्देश्य कैसा है? क्या वह सामाजिक है, राजनैतिक है अथवा धार्मिक? गांधीजी का कार्य इन तीनों क्षेत्रों में इतना फैला हुआ है और हिन्दू-समाज

की मूल-रचना और हिन्दुस्तान की राजनैतिक स्थिति दोनों पर उसका इतना गहरा रंग चढ़ा हुआ है कि यह प्रश्न स्वाभाविक था।

गांधीजी ने उत्तर दिया—"मेरा उद्देश्य विशुद्ध धार्मिक रहा है।...सम्पूर्ण मनुष्य-जाति के साथ एकीकरण किये बिना मैं धार्मिक जीवन व्यतीत नहीं कर सकता; और मनुष्य-जाति से एकीकरण राजनीति में हिस्सा लिये बिना सम्भव नहीं। आज तो मनुष्य के सब व्यापारों का समूह एक अखंड इकाई है। इन्हें सामाजिक, राजनैतिक या विशुद्ध धार्मिक आदि नितान्त पृथक् भागों में नहीं बाँटा जा सकता। किसी धर्म का मनुष्य के क्रिया-कलाप से पृथक् होना मेरी समझ में नहीं आता। इससे मनुष्य के उन दूसरे कार्यों को नैतिक आश्रय मिलता है जो अन्यथा अनाश्रित रहते हैं। इस नैतिक आधार के अभाव में तो जीवन गर्जन-तर्जन मात्र रह जाता है, जिसका कोई भी मूल्य नहीं होता।"

इस सम्बन्ध में गांधीजी से प्रश्न किया गया कि आपके सेवा-भाव का प्रवर्त्तक क्या है—अंगीकृत कार्य के प्रति प्रेम या सेवा की पात्र जनता के प्रति प्रेम? गांधीजी ने बिना हिचकिचाहट के उत्तर दिया—"मेरा प्रेरक कारण तो जनता के प्रति प्रेम ही है। लोक-सेवा के बिना उद्देश्य-सिद्धि कुछ भी अर्थ नहीं रखती।" गांधीजी ने उदाहरण-स्वरूप वर्णन किया कि वह किस प्रकार बचपन से ही अस्पृश्यों से सहानुभूति रखने और उनकी उन्नति का प्रयत्न करने लग गए थे। एक दिन उनकी माता ने उन्हें एक अन्त्यज बालक के साथ खेलने से रोक दिया था। इससे उनके मन में तर्क-वितर्क उठने लगे और "मेरे विद्रोह का वह पहला दिन था।"

"पश्चिम में तो आपकी अहिंसा का इतना व्यापक या सफल प्रयोग होना सम्भव नहीं दिखाई पड़ता, फिर भी उसके बारे में जो आपका रुख है उसको कुछ अधिक विस्तार से समझायेंगे?" यह पूछने पर गांधीजी ने कहा—"मेरी राय में तो अहिंसा किसी भी रूप या प्रकार में निष्क्रियता नहीं है। मैंने जहाँ तक समझा है, अहिंसा संसार की सब से अधिक क्रियाशील शक्ति है...अहिंसा परम धर्म है। अपने आधी शताब्दी के अनुभव में कभी ऐसी परिस्थिति नहीं आई जब मुझे कहना पड़ा हो कि अब मैं यहां असमर्थ हूँ, अहिंसा के पास इसका इलाज नहीं है।"

"यहूदियों के ही सवाल को ले लीजिए। इनके सम्बन्ध में मैंने लिखा है। अहिंसा के पथ पर चलनेवाले किसी यहूदी को अपने-आपको असहाय महसूस करने की जरूरत नहीं। एक मित्र ने अपने पत्र में मेरी इस बात पर ऐतराज किया है कि मैंने यह मान लिया है कि यहूदियों की भावना हिंसामय थी। यह ठीक है कि उन्होंने

शरीर से हिंसा नहीं की, परन्तु उनकी वह अहिंसा व्यवहार में नहीं आई; अन्यथा अधिनायकों (डिक्टेटरों) के कुकृत्यों को देख कर भी वे कहते, 'हमें इनके हाथ से दुःख तो मिलता ही है, इनके पास इससे अच्छा और क्या है! परन्तु वह दुःख उस ढंग से हमें नहीं झेलना जिस ढंग से वह चाहते हैं।' यदि एक भी यहूदी इस पर अमल करता तो वह अपना स्वाभिमान बचा लेता और एक उदाहरण छोड़ जाता। और वह उदाहरण यदि संक्रामक बन जाता तो सारी यहूदी कौम की रक्षा ही नहीं करता, बल्कि मनुष्य-जाति के लिए भारी विरासत भी बन जाता।

"आप पूछेंगे कि चीन के बारे में मेरी क्या राय है? चीनियों की किसी दूसरे राष्ट्र पर आँखें नहीं हैं। राज्य बढ़ाने की उनकी इच्छा नहीं है। शायद यह सच है कि चीन हमला करने के लिए ही तैयार नहीं है। परन्तु शायद जो उसकी यह शान्ति-वृत्ति-सी दीखती है वह वस्तुतः उसकी जड़ता है। हर सूरत में चीन की यह अहिंसा व्यवहार में नहीं आई है। जापान का बहादुरी से मुकाबला करना ही इस बात का काफी प्रमाण है कि चीन कभी इरादतन अहिंसक नहीं रहा। चीन आत्म-रक्षा के लिए लड़ रहा है, यह जवाब अहिंसा के पक्ष में नहीं है। इसीलिए जब उसकी व्यावहारिक अहिंसकता की परीक्षा का अवसर आया, तो चीन इसमें असफल हुआ। यह चीन की कोई टीका नहीं है। मैं तो चीनियों की विजय चाहता हूँ। प्रचलित माप से तो उसका बर्ताव बिलकुल सही है, पर जब परख अहिंसा की कसौटी से की जायगी तो कहना पड़ेगा कि ४० करोड़ जन-संख्यावाले चीन-जैसे सुसभ्य राष्ट्र को यह शोभा नहीं देता कि वे जापानियों के अत्याचार का प्रतिकार जापानियों के तरीके से ही करें। यदि चीनियों में मेरे विचारानुकूल अहिंसा होती तो जापान के पास विध्वंस के जो नवीनतम यन्त्र हैं, चीन को उनका प्रयोग करना ही नहीं पड़ता। चीनी जापान से कहते—"अपनी सारी मशीनरी ले आओ, हम अपनी आधी जन-संख्या तुम्हें भेंट करते हैं, लेकिन बाकी २० करोड़ तुम्हारे आगे घुटने नहीं टेकेंगे।" चीनी अगर यह करते तो जापान चीन का गुलाम बन जाता।"

महात्मा गांधी का अपने अहिंसा के विश्वास का इससे और अधिक असंदिग्ध वर्णन क्या हो सकता है? अधर्म के स्थान पर—चाहे फिर वह अधर्म उस प्रकार का भी क्यों न हो जैसा आज चीन सहन कर रहा है—धर्म-स्थापना करने की युद्ध की पद्धति में दोष यह है कि यह 'शैतान को शैतान से हटाने' का प्रयत्न है। इसमें मनुष्यों को जला देना, गोली मार देना, उनके हाथ-पैर तोड़ देना, यातना देना आदि पाप-

कृत्यों के प्रयोग से इन्हीं साधनों से काम लेनेवालों का प्रतिकार करना होता है। इस प्रक्रिया से वह पाप-संकल्प मिट नहीं सकेगा जिसके कारण कि प्रथम आक्रमण हुआ है। इससे तो पाप-संकल्प और अधिक दृढ़ और अधिक भयानक बनता है। अन्याय को हटा कर न्याय को उसके आसन पर बिठानेके लिए सफल पद्धति यह नहीं है कि शैतान को शैतानियत में मात किया जाय; हिंसा का अन्त करने के लिए और हिंसा की जाय--यह तो मूर्खतायुक्त और मूलतः व्यर्थ पद्धति है। अत्याचार की भावना को मित्रता की भावना मे बदलने के लिए स्वेच्छा से कष्ट-सहन करने की सद्भावना ही सफल पद्धति है। गांधीजी ने इस जगह शैली की 'मारक ऑव अनार्की' कविता की प्रसिद्ध पंक्तियाँ[१] दोहराई। काश कि लोग उन्हें और अच्छी तरह समझ पाते !

---

[१] **मूल अंग्रेजी पद्य इस प्रकार है :—**

Stand ye calm and resolute,
Like a forest close and mute,
with folded arms and looks which are
Weapons of unvanquished war.
And if then the tyrants dare,
Let them ride among you there,
Slash, and stab, and maim, and hew—
What they like, that let them do.
With folded arms and steady eyes,
And little fear, and less surprise,
Look upon them as they slay,
Till their rage has died away.
Then they will return with shame
To the place from which they came,
And the blood thus shed will speak
In hot blushes on their cheek.
Rise like lions after slumber
In unvanquishable number——
Shake your chains to earth, like dew
Which in sleep has fallen on you—
Ye are many, they are few.

'शांत और स्थिरमति रह कर वन की भॉति सघन और नि शब्द खडे हो जाओ। हाथ जुडे हुए हो, और तुम्हारी निश्चल ऑखो मे अविजित योद्धा का तेज हो।

और, तब यदि अत्याचारी का साहस हो तो आने दो, मचाने दो उन्हे मार-काट। बोटी-बोटी करे तो करने दो; उन्हे मनचाही मचा लेने दो।

और तुम बद्धाञ्जलि और स्थिर दृष्टि से, बिना भय और बिना आश्चर्य, उनकी यह खूरेजी देखते रहो। आखिर क्रोधाग्नि उनकी बुझ जायगी।

तब वे जहॉ से आये थे, वही अपना-सा मुह लिये लोटेगे। और वह रक्त, जो इस तरह बहा था, लज्जा मे उनके चेहरे पर पुता दीखा करेगा।

उठो, जैसे नीद से जगा शेर उठता है। तुम्हारी अमित और अजेय सख्या हो। बेडियॉ झिटक कर धरती पर छोड दो, जैसे नीद मे अपने पर पडी ओस की बूद ऊपर से छिटक देते हो। अरे, तुम बहुत हो, वे मुट्ठी भर है।'

अब सवाद इसी विषय के एक दूसरे अग पर चला गया। गाधीजी ने कहा—"यह शका की गई है कि यहूदियो के लिए तो अहिसा ठीक हो सकती है, क्योकि वहॉ व्यक्ति और उसके पीडक मे शारीरिक सम्पर्क सम्भव हैं। लेकिन चीन मे तो जापान दूरभेदी बन्दूको और वायुयानो से पहुँचता हैं। आसमान से मृत्यु की बौछार करने वाले तो कभी यह जान ही नही पाते कि किनको और कितनो को उन्होने मार गिराया है। ऐसे आकाश-युद्धो मे जहॉ शारीरिक सम्पर्क नही होता, अहिसा कैसे लड सकती हैं?"

इसका उत्तर यह है कि "जीवन-मृत्यु का सोदा करनेवाले बमो को ऊपर से छोडनेवाला हाथ तो मानवीय ही है और उस हाथ को चलानेवाला पीछे मानव-हृदय भी तो है। आतकवाद की नीति का आधार यह कल्पना ही है कि पर्याप्त-मात्रा मे इसका उपयोग करने से उत्पीडक के इच्छानुसार विरोधी को झुका देने का अभीष्ट सिद्ध होता है। लेकिन मान लीजिए कि लोग निश्चय कर लेते है कि वे उत्पीडक की इच्छा कभी पूरी न करेगे, और न इसका बदला उत्पीडक के तरीके से ही देगे, तब उत्पीडक देखेगा कि आतक से काम लेना लाभदायक नही है। उत्पीड़क को पर्याप्त भोजन दे दिया जाय तो समय आयेगा कि उसके पास अत्यधिक भोजन से भी अधिक इकट्ठा हो जायगा।

"मैने सत्याग्रह का पाठ अपनी पत्नी से सीखा। मैने उसे अपनी इच्छा पर चलाना चाहा। एक ओर तो उसने मेरी इच्छा का दृढ प्रतिवाद किया और दूसरी ओर मैने अपनी मूर्खतावश उसे जो कष्ट पहुँचाये उसने उन्हे शान्ति से सहन किया।

इससे मैं अपने से ही लजाने लगा और 'मैं उसपर शासन करने के लिए ही जन्मा हूँ'—यह सोचने का मेरा पागलपन जाता रहा तथा अन्त में वह अहिंसा में मेरी शिक्षिका बन गई। जिस सत्याग्रह की नीति का वह सरल भाव ही से अपने में अभ्यास कर रही थी, उसका विस्तारमात्र ही मैंने दक्षिण अफ्रीका में किया था।"

सत्याग्रह का यह दूसरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यह एक ऐसा आन्दोलन और विधायक नियम है, जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों के साथ समान भाग ले सकती हैं। इतना ही नहीं, इस आन्दोलन में स्त्रियां ही नेतृत्व करने में विशेष रूप से योग्य हैं। अनगिनत सदियों से स्त्रीत्व का उत्कृष्ट शस्त्र धीरता से कष्ट सहन करना और साथ ही हिंसा और अत्याचार के विरुद्ध स्पष्टवादिता और निर्भीकता से डटे रहना रहा है। अब उसको यह भार सौंपा जा रहा है कि वह इसी भावना और पद्धति को संसार के बचाने का मूल साधन बनाये।

आइए, यहाँ हम सत्याग्रह की चार आधारभूत बातों का स्मरण कर लें :

(१) संसार में अन्याय खुलकर खेल रहा है।

(२) अन्याय को मिटाना चाहिए।

(३) अन्याय को हिंसा से नहीं मिटाया जा सकता। हिंसा से तो कुत्सित संकल्प और अधिक गहराई तक पहुँच कर ज्यादा मजबूत हो जाता है और इसे निर्दयता से क्यों न कुचला गया हो, एक-न-एक दिन इसका कई गुना हिंसा के साथ फूट निकलना अनिवार्य हो जाता है।

(४) अन्याय का प्रतिकार यही है कि इसे धीरता से सहन किया जाय। इसका अर्थ है सद्भावना से स्वेच्छापूर्वक अन्यायजनित दुःख—मृत्यु तक—को भी आमंत्रित करना। सत्य की वेदी पर किसी एक सत्याग्रही का जीवन बलिदान हो जाने पर भी ऐसी भावना को अनिवार्यतः पुनर्जीवन मिलता है।

इन चार मूलभूत आदर्शों का जहाँ तक सम्बन्ध है, स्त्री अनन्त काल से इन्हें जानती है और सत्याग्रह का प्रयोग करती रही है। जिस अत्याचार को उसने अपने ऊपर झेला है उसने स्त्री के अन्तःकरण को अन्याय का बलात् अनुभव करवाया है। क्रमशः उसे ज्ञान हुआ और उसने कुछ भी देकर इस अन्याय का अन्त करने के लिए उसे कटिबद्ध कर दिया। वह हिंसक उपायों से इस अन्याय का अन्त नहीं कर सकती। और स्त्री-पुरुष सम्बन्धी समस्यायें ऐसे तरीकों से हल हो सकती हैं, इसकी कल्पना भी न करने की समझ तो उसमें है ही। उसने कार्य की दूसरी ही प्रणाली पकड़ी; अत्याचार घर में हो या राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में—उसका अविचल

भाव से साहसपूर्वक प्रतिरोध किया जाय। स्त्री ने—न केवल स्त्री-आंदोलन की नेतृयों ने, बल्कि लाखों साधारण स्त्रियों ने भी—दूसरों की खातिर कष्टों को स्वयं वरण करने की भावना से अत्याचार की कठोरतम यंत्रणाओं को उद्धार की दृष्टि से सहन करने की आदत डाली। बच्चों की उत्पत्ति, उनके लालन-पालन आदि प्राणि-विद्या-सम्बन्धी मानवीय स्वभाव के मूलभूत नियम स्त्री का सत्याग्रह की मान्यताओं से केवल घनिष्ट परिचय ही नही करा देते, उन्हें अमलन सत्याग्रही भी बना देते हैं, चाहे ईसामसीह या उनके 'क्रॉस' को एक वार फिर से जीवित शक्ति बना देने का प्रयत्न करनेवाले हमारे युग के नेताओं का भले ही उन्होंने नाम तक भी न सुना हो। बच्चे का जन्म ही स्वयं वरण किये कष्ट में से होता है और उसका लालन-पालन दूसरों के लिए सब कुछ सहन करनेवाले प्रेम से प्रेरणा पाता है।

गांधीजी के द्वारा हमें ईसा का आधुनिक संदेश मिल रहा है: "मानव-जाति के प्रश्नो को हल करने के लिए 'ईसा के आत्म-बलिदान' का मार्ग यथार्थ रूप में पकड़ो उसके सिद्धान्तों का प्रयोग बड़े-से-बड़े पैमाने पर भी करो।" यह वास्तव में समस्त स्त्रीत्व के लिए आह्वान है कि वह इस विश्व-व्यापी आध्यात्मिक नेतृत्व में आगे बढ़े और गरीबी, अत्याचार और युद्ध-जैसे मानवता के अभिशापों का अन्त करे।

हम दुनिया में जी भर रहे हैं, यही इसका प्रमाण है कि केवल प्रसव-वेदना के समय ही नहीं, वल्कि हमारे बचपन की प्रतिदिन की हजारों भूली हुई घटनाओं में भी हमारी माताओं ने सत्याग्रह किया है, 'क्रॉस' के पथ का अनुसरण किया है। उन्होंने स्वेच्छा से और खुशी-खुशी हमारे लिए भी कष्ट उठाया, क्योंकि उन्हें हमसे प्रेम था। हमें यही आमन्त्रण है कि हम खुशी-खुशी कष्ट-सहन की इसी भावना से मनुष्य-जाति की रक्षा के लिए आगे बढ़ें। यदि हम मनुष्यों में कुछ भी समझ है तो हमें यह महसूस होगा कि स्त्रियां तो इस दिशा में हमसे बहुत आगे बढ़ चुकी हैं और इसलिए वे यहाँ हमारा नेतृत्व और पथ-प्रदर्शन कर सकती हैं। उनके नेतृत्व के बिना हम निश्चय ही असफल होंगे।

गांधीजी के एक मुलाकाती ने तब उनके सामने अधिनायकत्व (डिक्टेटर-शिप) की समस्या पेश की। कहा—"यहाँ तो किसी नैतिक अपील का तनिक भी असर नहीं होता। यदि अधिनायकों से आतंकित-जन उनका अहिंसा से मुकाबिला करें, तो क्या यह उनका अपने अधिनायकों के हाथ में खेलना नहीं कहलायेगा? क्योंकि अधिनायकत्व तो लक्षण से ही अनैतिक है। तो क्या इनके मामले में भी नैतिक परिवर्तन का सिद्धान्त लागू होने की आशा है?"

गांधीजी का इस सम्बन्ध का उत्तर भी अत्यन्त हृदयग्राही था। उन्होंने कहा—"आप पहले ही यह मान लेते हैं कि अधिनायकों का उद्धार नहीं हो सकता। परंतु अहिंसा की श्रद्धा का आधार ही यह धारणा है कि यथार्थतः मनुष्य प्रकृति एक है, इसलिए वे अवश्य प्रेम का प्रतिदान प्रेम से ही देंगे। यह स्मरण रखना चाहिए कि इन अधिनायकों ने जब कभी हिंसा का प्रयोग किया है, उसका जवाब तत्काल हिंसा से ही दिया गया है। अब तक उन्हें यह अवसर नहीं मिला कि कभी संगठित अहिंसा से किसी ने उनका मुकाबला किया हो। कभी साधारणतः किया भी हो, तो पर्याप्त परिमाण में ऐसा कभी नहीं हुआ। इसलिए यह केवल बहुत सम्भावित ही नहीं है, मैं तो इसे अनिवार्य समझता हूँ कि वे अहिंसामय प्रतिरोध को हिंसा के अपने भरसक प्रयोग से भी अधिक और उदात्त अनुभव करेंगे। फिर अहिंसा-नीति अपनी सफलता के लिए अधिनायक की इच्छा पर निर्भर नहीं होती। कारण कि सत्याग्रही तो उस परमात्मा की अचूक सहायता पर निर्भर होता है, जो अन्यथा दुस्तर दीख पड़नेवाली विपत्तियों में उसे सहारा देती है। परमात्मा में श्रद्धा सत्याग्रही को अदम्य बना देती है।"

यहाँ फिर हमें पता लगता है कि ईसा के 'क्रॉस के आदर्श' की भाँति गांधीजी का सत्याग्रह-आदर्श कितना धर्म-प्रधान है! हमें अत्याचार और दमन से होनेवाले कष्ट की याद मन में लेकर नहीं चलना है, क्योंकि वह कटु होगी। हमें परमात्मा पर निगाह रख कर चलना आरंभ करना है। हमें यहाँ सबसे पहले इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि मैं परमात्मा की 'इच्छा' किसे समझता हूँ और परमात्मा को मैं किस प्रकार का मानता हूँ? यदि इस प्रश्न के उत्तर में हम यह मानते हैं कि परमात्मा और वह स्वयं तो मुक्ति और न्याय से चलता ही है, बल्कि उस मुक्ति और न्याय को मानव प्रकृति में सर्वोच्च आसन भी देना चाहता है, तब हमें इतना ही और करना रहता है कि हम इस परम पिता परमात्मा का हाथ थाम लें—और हम ईसाई तो संक्षेप में यह कह सकते हैं कि वह परमात्मा और हमारे प्रभु ईसामसीह का पिता है। यदि हम इस प्रकार उसका हाथ पकड़ लें (और थोड़ी ही देर में हमें ऐसा लगेगा कि यथार्थ में उसने ही हमारा हाथ पकड़ा है) तो हमें वह 'क्रॉस' पथ पर ले जायगा—अर्थात् दूसरों को पीड़ा और अन्याय से छुड़ाने की खातिर सदिच्छा, अथवा दूसरे शब्दों में ईश्वरेच्छा के विरुद्ध होनेवाले उत्पीड़न, और अन्याय के निकृष्टतम परिणाम को अहिंसक रह कर, स्वेच्छा से सहन करने का मार्ग दिखायेगा।

हमारे मार्ग का उद्गम परमेश्वर है। हमारे सब वाद-संवादों और हमारी सब योजनाओं के पीछे परमात्मा की सत्ता है। यदि हम उसे कुछ गिनें ही नहीं, तो निस्सन्देह हम असफल रहेंगे। और यदि वह एक जीवित परमेश्वर है तो, जैसा कि गांधीजी बताते हैं, मौन में ही उसकी खोज करनी चाहिये। कारण कि अत्यन्त ललित भाषा में उससे कुछ कहना कुछ महत्व नहीं रखता, बल्कि महत्व की बात यह है कि परमेश्वर की इच्छा हम जानें और उससे हमारा मार्ग-दर्शन हो। ऐसा पथ-प्रदर्शन और ईश्वरेच्छा के साथ अपनी इच्छा मिलाने से उत्पन्न बल हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब कि मौन हो कर हम उसकी शरण जायं और उसकी वाणी को सुनें। तब भगवान् की उपासना द्वारा उसके संकल्प को समझने से, जैसा कि गांधीजी कहते हैं, हमारे हृदय पर वह ज्वलंत श्रद्धा अंकित होगी जिसकी सहायता से हम सारी विघ्न-बाधाओं को पार कर सकेंगे।

किन्तु हमारा आरम्भ परमेश्वर से होना चाहिए। उसको आत्मसमर्पण करके चलना होगा कि हमारी राजनीति और हमारे कार्य हमारे अपने न रहकर उसके हो जायं।

अधिनायकों के मुकाबले में क्या करना होगा, इसपर और अधिक विचार करते हुए गांधीजी के एक मुलाकाती ने पूछा कि उस हालत में क्या किया जाय जब कि अन्यायी प्रत्यक्षरीति से बल-प्रयोग तो न करे, पर अपनी अभीष्ट वस्तु पर कब्जा जमाने के लिए उसको धमकी देकर आतंकित करे?

गांधीजी ने उत्तर दिया—

"मान लीजिए कि शत्रु लोग आकर चेक प्रजा की खानों, कारखानों और दूसरे प्रकृति के साधनों पर कब्जा कर लें, तो इतने परिणाम संभव हैं—

"(१) चेक प्रजा को सविनय अवज्ञा करने के अपराध पर मार डाला जाय। अगर ऐसा हुआ तो वह चेक राष्ट्र की महान् विजय और जर्मनी के पतन का आरम्भ समझा जायगा।

"(२) अपार पशुबल के सामने चेक प्रजा का नैतिक पतन हो जाय। ऐसा प्रायः सभी युद्धों में होता है। पर अगर ऐसी भीरुता प्रजा में आ जाय तो यह हिंसा के कारण नहीं, बल्कि अहिंसा अथवा यथोचित अहिंसा के अभाव से होगा।

"(३) तीसरे, यह हो कि जर्मनी विजित प्रदेश में अपनी अतिरिक्त जन-संख्या को ले जाकर बसा दे। इसे भी हिंसात्मक मुकाबला करके नहीं रोका जा सकता, क्योंकि हमने यह बात मान ली है कि हिंसात्मक प्रतिरोध हमारे प्रश्न से बाहर है।

"इसलिए अहिंसात्मक मुकाबला ही सब प्रकार की परिस्थितियों में प्रतिकार का सबसे अच्छा तरीका है।

"मैं यह भी नहीं मानता कि हिटलर तथा मुसोलिनी लोकमत की इतनी उपेक्षा कर सकते हैं। आज बेशक, लोकमत की उपेक्षा में वे अपना संतोष मानते है, कारण कि तथाकथित बड़े-बड़े राष्ट्रों में से कोई भी निष्कलंक नहीं है और इन बड़े-बड़े राष्ट्रों ने इनके साथ गुजरे जमाने में जो अन्याय किया है, वह उन्हें खटक रहा है। थोड़े ही दिन की बात है कि एक सुयोग्य अंग्रेज मित्र ने मेरे सामने स्वीकार किया था कि नाजी जर्मनी इंग्लैड के पाप का फल है और वर्साई की संधि ने ही हिटलर पैदा किया है।"

इस सम्बन्ध में इस लेखक को अपना एक अनुभव याद आ जाता है। वियना के बाल-चिकित्सालयों में असंख्य वार्डों में बच्चे भरे हुए थे। मैं उनमें होकर घूम रहा था। यह उस समय की बात है, जबकि वर्साई की संधि अभी समाप्त ही हो पाई थी, लोग भूख की ज्वाला से प्राण दे रहे थे और बच्चों को खिलाने-पिलाने की अमेरिकन योजना अभी शुरू नहीं हो पाई थी। यहाँ हमारे घेरे[1] और उससे उत्पन्न हुई भीषण बीमारियों के शिकार अनगिनती बच्चे थे, उनके शरीर मुड़े-तुड़े और खंडित थे। इस घोरतम अंतर्राष्ट्रीय अपराध से मरनेवाले जर्मन और आस्ट्रियन स्त्री-बच्चों की संख्या दस लाख कूती गई है। जब बिस्मार्क ने सन् १८७१ में पेरिस पर कब्जा किया था तो उसने जल्दी–से-जल्दी गाड़ी से वहाँ भोजन भेजने की व्यवस्था की थी। अस्थायी शान्ति के बाद भी हमने अपने हारे शत्रु को उससे अपनी मन-चाही संधि की शर्तों पर 'हाँ', भरवाने के लिए जर्मनी और आस्ट्रिया को आठ महीने तक भूखों मारा। वह संधि-शान्ति हमें मिल गई। मूलतः वह भद्दी शान्ति थी; पर इस शांति को प्राप्त करने का तरीका—'घेरा'—जितना अधार्मिक रहा, इस शांति में होनेवाले सब अपमान और अन्याय (युद्ध के दोषारोपण की धारा और जर्मनी को उपनिवेश बसाने के अयोग्य करार देना) उतने अधार्मिक नहीं थे। मुझे याद है कि इन बच्चों को देखकर मैंने मन-ही-मन कहा था कि 'एक दिन इस काले कारनामे का लेखा चुकाना ही पड़ेगा।' वह दिन आज आ गया है। उन बच्चों में से बचे हुए या उनके समवयस्क ही आज नाजी सेनाओं के सेनापति हैं। इन्ही में से

---

[1] मित्रराष्ट्रों ने युद्ध के बाद शत्रु-देशों पर घेरा डाल कर खाद्य-सामग्री आदि का वहाँ जाना बंद कर दिया था।

नाजी-वाद के अंधभक्त बने हैं। हम विजयी राष्ट्रों ने ही, युद्ध के बाद इटली के साथ किये गये अपने व्यवहार से, मुसोलिनी को पैदा किया है। व्यवहार की बानगी लीजिए। चौदह शासनाधिकार के प्रदेशों में से ब्रिटेन ने नौ लिये और इटली को एक भी नहीं मिला। 'घेरे' के दिनों में और वर्साई की संधि के द्वारा हमने जो बर्ताव जर्मनी और आस्ट्रिया से किया, उसी व्यवहार का परिणाम हिटलर है। इतने बड़े-बड़े अन्तर्राष्ट्रीय अपराध करके भी यह दुराशा रखना कि भावी भीषण प्रतिक्रिया के बीज नहीं बोये गये, बन नहीं सकता। यदि इतिहास कुछ भी सिखाता है, तो यही।

परन्तु हम पीड़ा और अपमान के उन दिनों पर दृष्टि डालें। नाजियों में यह मशहूर है कि यहूदी इसके जिम्मेदार हैं। इस विलक्षण गाथा के अनुसार उस समय, जब कि जर्मन सेनायें आगे युद्ध क्षेत्र में बिना हिम्मत हारे खूब लड़ रही थीं, यहूदियों ने देश में विद्रोह की आग जलाकर उनपर आघात किया। इसलिए ये जर्मन यहूदियों को सबसे पहले दंडनीय शत्रु मानते हैं। अत: जर्मनी के यहूदियों के त्रास का कारण हम विजेता राष्ट्रों के 'घेरे' और उनकी मनमानी संधि-शान्ति से हुए अन्तर्राष्ट्रीय पाप की अप्रिय प्रतिक्रिया है। यहूदियों के प्रति नाजियों की नीति की निन्दा करने का हमें अधिकार नहीं है, क्योंकि इस नीति के कारण तो हम ही हैं। हमें तो सबसे पहले अपना ही दोष मानना चाहिए और फिर इन त्रस्त यहूदियों की जितनी भी सहायता कर सकें, करनी चाहिए।

× × ×

एक मुलाकाती ने प्रश्न किया, "मैं बहैसियत एक ईसाई के अन्तर्राष्ट्रीय शांति के काम में किस तरह योग दे सकता हूँ ? किस प्रकार अहिंसा अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को नष्ट करके शान्ति-स्थापना में प्रभावकारी हो सकती है ?"

वह दृश्य कितना मनोहर रहा होगा ! दो हजार वर्ष तक मेहनत करने के बाद भी ईसा के आहुति-धर्म की पद्धति से युद्ध की समस्या हल करने में असमर्थ रहकर, शांति के राजकुमार के ये चुने हुए राजदूत, हिन्दू होने का गर्व रखनेवाले गांधीजी के चरणों में, उनसे अपनी ईसाइयत की मूलभूत मान्यताओं को व्यावहारिक बनाने के उचित मार्ग की शिक्षा लेने के लिए संसार के कोने-कोने से आकर वहाँ एकत्र थे।

गांधीजी ने उत्तर दिया—

"एक ईसाई के नाते आप अपना सहयोग अहिंसात्मक मुकाबला करके दे सकते हैं, फिर भले ही ऐसा मुकाबला करते हुए आपको अपना सर्वस्व होम देना पड़े।

जब तक बड़े-बड़े राष्ट्र अपने यहाँ निःशस्त्रीकरण करने का साहसपूर्वक निर्णय नहीं करेंगे, तब तक शांति स्थापित होने की नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि हाल के अनुभव के बाद यह चीज बड़े-बड़े राष्ट्रों को स्पष्ट हो जानी चाहिए।

"मेरे हृदय में तो आधी सदी के निरन्तर अनुभव और प्रयोग के बाद इतना निःशंक विश्वास है और ऐसा विश्वास आज पहले से भी अधिक ज्वलंत हो गया है कि केवल अहिंसा में ही मानव-जाति का उद्धार निहित है। बाइबिल की शिक्षा का सार भी, जैसा कि मैं उसे समझता हूँ, मुख्यतः यही है।"

सारी बात का सार यही है। गांधीजी जब 'अहिंसा' या 'सत्याग्रह' कहते हैं तो उसमें उनका अभिप्राय इसी आत्मयज्ञ अथवा आहुति-मार्ग का होता है। तभी तो बर्मिंघम की हमारी बस्ती में आने पर उन्होंने प्रार्थना के लिए जो गीत चुना, वह था "When I survey the wondrous cross' अर्थात् "जब मैं अद्भुत क्रॉस को देखता हूँ।" मानों विश्व-सत्य का सार वह इसमें देखते हों। ये साक्ष्य स्पष्ट हैं कि वह मानते हैं कि मनुष्य-जाति का उद्धार 'क्रॉस' और प्रभु ईसा के "अपना क्रॉस लेकर मेरे पीछे चलो" शब्दों का अक्षरशः पालन करने से हो सकता है।

हमारे धर्म का क्या उद्देश्य है, यह हम कब सीखेंगे ? बहुत करके यह आशा की जा सकती है कि इस महान् हिन्दू का कथन और कथन से भी बढ़कर उसका अपनी मान्यताओं का जीवन में पालन, ईसाइयत की जाग्रति के दिन नजदीक लायेगा। यूरोप के सबसे अधिक घनी बस्ती के ईसाई देश में चर्च पर आक्रमण शुरू हो ही गये हैं तथा राष्ट्र और धर्म के एक नये विस्तृत झगड़े में ईसाई धर्म के खिलाफ और भयानक आक्रमण होंगे, ऐसी अफवाहें फैल रही हैं। क्या जर्मन ईसाई आज समय का लाभ उठायेंगे और ईसाइयत को पुनरुज्जीवित करने और शायद सभ्यता को बचाने के लिए क्रॉस की भावना में कष्टों का सामना करेंगे ? कैदखानों को महल मानकर उसमें प्रवेश करेंगे और ईसामसीह के लिए कष्ट उठाने का गौरव मिला देखकर खुश होंगे ? और क्या हम अपनी समस्याओं का खासकर युद्ध और दारिद्र्य का, मुकाबला करने में भी इस मान्यता पर अमल करेंगे ? क्रॉस केवल सक्रिय पीड़न के समय में धारण करने की ही चीज नहीं है। नंगे, भूखे, रोगी और पीड़ित जो 'प्रभु के अपने हैं' के कष्टों और आवश्यकताओं से आत्म-सम्पर्क जोड़ने का सिद्धान्त ही 'क्रॉस' है।

गांधीजी ने इसके बाद उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के अपने ताजे अनुभव का जिक्र किया और बताया कि वहाँ की जंगली लड़ाकू जातियों में अहिंसा की भावना

कैसे बढ़ती जा रही है। कहा—"वहाँ मैंने जो कुछ देखा उसकी आशा मुझे नहीं थी। वे लोग सच्चे दिल से और पूरी लगन से अहिंसा की साधना कर रहे हैं। उन्हें स्वयं अहिंसा मे प्रकाश मिलने की पूरी आशा है। इससे पहले वहाँ घोर अंधकार था। एक भी कुटुम्ब ऐसा न था जिसमें खूनी लड़ाई-झगड़े न चले हों। वे शेरों की तरह मांदों में रहते थे। हालाँकि वे सदा छूरियों, खंजरों और बन्दूकों से लैस रहते थे, पर अपने बड़े अफसरों को देखते ही काँप जाते थे कि कहीं कोई कसूर न निकल आये और उन्हें अपनी नौकरियों मे हाथ न धोना पड़े। आज वह सब बदल गया है। जो लोग खान साहब के अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रभाव के नीचे आ गये, उनके घरों से खूनी लड़ाई-झगड़े नेस्तनाबूद होते जा रहे हैं और तुच्छ नौकरियों के पीछे मारे-मारे फिरने के वजाय वे अब खेत-खलिहान से जीविका कमा रहे हैं। और अगर उन्होंने अपना वचन निबाहा तो वे दूसरे गृह-उद्योग भी जारी करेंगे।"

इन पिछले शब्दों से प्रकट होता है कि गांधीजी कठोर मेहनत और खासकर खेत-खलिहान की मेहनत को बहुत महत्व देते हैं। जब वह सन् १६३१ में इंग्लैण्ड आये तो उन्होंने इसी वात पर जोर दिया था कि छोटी-छोटी बस्तियाँ होनी चाहिएँ; इससे बेरोजगारी का सवाल भी हल होगा और ईसाई सभ्यता की फिर से नींव पड़ेगी। भारत को भी उनका यही संदेश है। इसके साथ वह कहते हैं कि प्रतिदिन किसी किस्म के गृह-उद्योग में, खासकर चर्खा कातने में, पर्याप्त समय लगाना चाहिए।

यहाँ यह स्मरण कर लेना लाभदायक होगा कि पांचवीं शताब्दी में जब पुरानी उच्च सभ्यता नष्ट होगई तब इसका उन लोगोंने शनैः-शनैः कष्ट सहनकर पुनर्निर्माण किया जो छोटे-छोटे गुट्टों में, कभी की उपजाऊ पर उस समय की वीरान पड़ी भूमियों में जा बसे थे। यहाँ उन्होंने ईसा के नाम पर छोटी-छोटी बस्तियाँ और मठ वना लिये। प्रारम्भ के ये पादरी, जिन्होंने फिर से वैज्ञानिक कृषि शुरू की, फिर शिक्षा, धर्म और कला फैलाई, मुख्यतः खुरपा-कुदारी से काम करनेवाले ही थे। खुरपों से ही इन वीर नेताओं ने मध्ययुगीय महती सभ्यता का निर्माण किया। यह सभ्यता हमारी सभ्यता की अपेक्षा कई प्रकार से अधिक रचनात्मक और बहुत अधिक यथार्थता में ईसाई थी। उनका यह खुरपा उनके निजी स्वार्थ की पूर्ति का साधन नहीं था; वे उसको अपने समाज, अपने प्रभु और बर्बर लोगों के आक्रमणों से घायल अपने साथियों की रक्षा के लिए धारण करते थे।

वह तो सम्भव है ही कि इस युग में भी सभ्यता, जो अपनी सैनिकता और औद्योगिक मुकाबिले के कारण इस हालत में है, फिर नये विश्व-युद्ध में चकनाचूर हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो ऐसे लोगों की एक बार आवश्यकता पड़ेगी जो साहस के साथ प्रभु यीशु के लिए अपने हाथों की मेहनत से नवनिर्माण आरम्भ करें। निजी लाभ के लिए नहीं, बल्कि जाति के अर्थ, युद्ध से सताये लोगों और उनके प्रभु के निमित्त फावड़ा चलायें और धरती खोदें। लेकिन यदि ऐसा होनेवाला है तो इसकी **तैयारी अभी से करनी पड़ेगी।** एक कारण यह है कि इंग्लैड और वेल्स में जहाँ-तहाँ बेरोजगारों को रोजगार दिलानेवाली संस्थायें स्थापित हो गई हैं। इसी कारण यह भी आवश्यक है कि कुछ भाग्यशाली वर्ग के लोग ऐसी संस्थाओं में पर्याप्त संख्या में सम्मिलित हों और उनके कार्य में हाथ बँटायें।

इसके बाद ईसाई नेताओं और गांधीजी का संवाद फिर धर्म पर चल पड़ा। गांधीजी से पूछा गया कि उनकी उपासना की विधि क्या है? उन्होंने उत्तर दिया—"सुबह ४ बजकर २० मिनट पर और सायंकाल ७ बजे हम सब सम्मिलित प्रार्थना करते हैं। यह क्रम कई बरसों से जारी है। गीता और अन्य सर्वमान्य धार्मिक पुस्तकों के श्लोकों का और साथ में संतों की वाणियों का, कभी संगीत के साथ, कभी उसके बिना ही पाठ होता है। वैयक्तिक प्रार्थना का शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता। यह तो सतत और अनजाने भी जारी रहती है। कोई ऐसा क्षण नहीं जाता जबकि मैं अपने ऊपर एक ऐसे परम 'साक्षी' की सत्ता अनुभव न कर सकता होऊँ जो सब कुछ देखता है और जिसके साथ मैं लवलीन होने का यत्न तक करता होऊँ। मैं अपने ईसाई मित्रों की भाँति प्रार्थना नहीं करता।" (शायद गांधीजी का संकेत यहाँ पन्थ-प्रचलित प्रार्थना की ओर है) "इसलिए नहीं कि इसमें कहीं गलती है, पर इसलिए कि मुझे शब्द सूझते ही नहीं। मैं समझता हूँ यह अदालत की बात है।....भगवान् विना बोले हमारी व्यथा जानते हैं। उसे मेरी प्रार्थना की आवश्यकता नहीं है।....हाँ, मुझ अपूर्ण मनुष्य को उसके संरक्षण की वैसे ही आवश्यकता है जैसे कि पुत्र को पिता के संरक्षण की....भगवान् से मैंने कभी धोखा नहीं पाया। जब कभी क्षितिज पर गहरे से गहरा अँधेरा नजर आया, जेलों में मेरी अग्नि-परीक्षाओं में, जब कि मेरे दिन अच्छे नहीं गुजर रहे थे, मैंने सदा भगवान् को अपने समीप अनुभव किया।

"मुझे याद नहीं कि मेरे जीवन में एक भी ऐसा क्षण बीता हो जबकि मुझे ऐसा लगा हो कि भगवान् ने मुझे छोड़ दिया है।"

गांधीजी से मुलाकात करनेवाले इन ईसाई नेताओं की पूर्वकालिक प्रवृत्ति जाननेवाले कुछ हम मित्रों को उक्त संवाद बड़ा रुचिकर प्रतीत हुआ। इनमें से एक प्रसिद्ध नेता एक बार केम्ब्रिज पधारे। उस समय लेखक वहाँ पढ़ता था। इन्होंने इसी पीढ़ी में संसार के ईसाई हो जाने के संबंध में एक वाग्मितापूर्ण ओजस्वी भाषण दिया। इस महत्वपूर्ण भाषण में विश्वास और व्यवस्थित निश्चय की ध्वनि थी। हम प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयो (विशेषतः, हममें से प्रिसबिटेरियन) के पास सत्य तो था ही; अब केवल बात इतनी थी कि उस सत्य को संसार के एक दूसरे कोने में, पूर्वी देशों में ठीक समय में पहुँचाया जाय, जिससे वे देश सत्य के अभाव के कारण होनेवाले ध्वंस से बच जाँय।

फिर महायुद्ध आया। अब अवस्था कितनी बदल गई! हमने देखा कि एक वह पुरुष जो हिन्दू होने का गर्व करता है, हमारी अपेक्षा ईसामसीह के सत्य और क्रॉस के सत्य के अधिक समीप है। हमारे नेताओं का यह सही और बुद्धिमत्ता का ही कार्य था और है कि वे उनके चरणों में बैठकर ईसाइयत का अभिप्राय सीखने का प्रयत्न करें, क्योंकि यदि ईसाइयत का सार कुछ है तो वह, मसीह का क्रॉस ही है। क्रॉस यानी आत्म-यज्ञ, आहुति।

: २१ :

एक भारतीय राजनीतिज्ञ की श्रद्धांजलि

मिरजा एम. इस्माइल

महात्मा गांधी की ७१वीं जन्म-तिथि के अवसर पर उन्हें भेंट किये जानेवाले, उनके जीवन और कार्यों पर लिखे गए, लेखों व संस्मरणों के ग्रंथ मे कुछ लिख देने के सर एस० राधाकृष्णन् के अनुरोध का पालन करते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता हो रही है।

महात्मा गांधी का ७० वर्ष पूरे कर लेना उनके अनगिनत मित्रों व प्रशंसकों के लिए, जिनमें शामिल होने का मुझे भी गर्व है, खुशी के इजहार से कहीं ज्यादा महत्त्व रखता हैं। उनकी हरेक जयन्ती समस्त राष्ट्र को आनन्दित कर देने वाली एक घटना की तरह देखी जाती है। और उनकी ७१वीं जयन्ती भी,

इसमें मुझे कोई शक नहीं कि देश भर में जरूर अपूर्व उत्साह का संचार करेगी ।

मेरे अपने लिए इस अवसर पर उन परिस्थितियों का वर्णन करना खास दिलचस्पी की चीज है, जिनमें मुझे इस महापुरुष के, जो शिक्षक और नेता दोनों ही हैं, निकट-सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

१९२७ में या इसके लगभग, जब महात्मा गांधी का स्वास्थ्य गिर रहा था, वह बैंगलोर के आरोग्यवर्धक जल और नन्दी पहाड़ी की तरोताजा कर देनेवाली वायु का सेवन करने के लिए इधर आये । इस जलवायु-परिवर्तन की उन्हें बहुत जरूरत भी थी । इन्हीं दिनों मुझे उनके निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला । वह कुछ ही हफ्ते यहाँ ठहरे थे, लेकिन इसी अरसे में वह मैसूर-निवासियों के दिलों में कई सुखद स्मृतियाँ छोड़ गये । उन दिनों महात्माजी से जितनी बार मैं मिल सकता था मिला । उन्हें देखकर उनके प्रति मेरे हृदय में सम्मान, प्रेम और स्नेह के भाव पैदा हुए । ये ही भाव उस मित्रता के आधारभूत हैं, जो लगातार बढ़ती ही जाती है और जिसे मैं अपने लिए बहुत मूल्यवान समझता हूँ ।

भारतीय गोलमेज परिषद् के, और खासकर परिषद् की दूसरी बैठक के, दिनों में लन्दन में मैंने जो वहुत आनन्दप्रद समय बिताया था, उसे याद करके मुझे विशेष प्रसन्नता होती है । इस दूसरी बैठक में कांग्रेस ने भी भाग लिया था । महात्मा गांधी इसके एकमात्र प्रतिनिधि थे । इसमें कोई शक नहीं कि वह भारत आये हुए प्रतिनिधियों में सबसे अधिक प्रतिष्ठित और विशेष व्यक्ति थे । बैठक के दौरान में उन्होंने जो योग्यतापूर्ण भाषण दिये, उनसे हमें सचमुच बड़ी स्फूर्ति मिली इस परिषद् की दूसरी बैठक मेरे अपने लिए इस कारण और भी स्मरणीय हो गई कि महात्मा गांधी ने मेरी उस योजना का समर्थन (यद्यपि कुछ शर्त्तों के साथ) किया, जो मैंने फैडरल स्ट्रक्चर कमेटी में फैडरल कौंसिल (रईसी कौंसिल) के बनाने के बारे में रखी थी । मेरी योजना यह थी कि फैडरेशन में शामिल होनेवाले सब प्रान्तों या रियासतों के प्रतिनिधियों की एक फैडरल कौंसिल भी बनाई जाय । महात्माजी दूसरी रईसी कौंसिल के बनाने के सदा से विरोधी थे; लेकिन वह अपने रुख को इस शर्त्त पर बदलने और मेरी योजना का समर्थन करने को तैयार हो गए कि फैडरल कौंसिल का रूप एक सलाहकार संस्था का हो । दरअसल, जैसा कि मैं मैसूर-असेम्बली के एक भाषण में पहले भी स्वीकार कर चुका हूँ, "मैंने महात्मा गांधी को दूसरी गोलमेज परिषद् में अपने एक जोरदार समर्थक के रूप में पाया, जब कि

उन्होंने ह्वाइट पेपर के सबसे अधिक आलोचनीय विधान पर की गई उस आलोचना का समर्थन किया, जो मैंने रईसी कौंसिल के विधान के बारे में की थी।" इसके बाद का घटनाक्रम इतिहास का विषय है। लेकिन मैं इस घटना की इसलिए याद दिलाता हूँ कि यह इस बात का बहुत अच्छा उदाहरण है कि महात्मा गांधी भारत का एक अच्छा विधान बनाने के प्रत्येक प्रयत्न में सहायता देने के लिए बहुत उत्सुक हैं।

मुझे अपने निजी संस्मरणों को छोड़कर भारतमाता के इस महान् पुत्र के जीवन तथा कार्य के महत्त्व की भी चर्चा करनी चाहिए। उनके जीवन तथा कार्य का महत्त्व केवल भारत के लिए ही नहीं, वरन् समस्त संसार के लिए भी है। यह अक्सर कहा जाता है कि किसी व्यक्ति के जीवन-काल में उसकी अमरता की भविष्य-वाणी करना खतरनाक है, क्योंकि आनेवाली सन्तति आज के किसी व्यक्ति पर अपना निर्णय अपनी इच्छानुसार ही देगी। लेकिन महात्माजी के नाम के साथ अमरता की भविष्यवाणी करते हुए हमें कोई संकोच नहीं होता, क्योंकि उनकी अमरता की भविष्यवाणी को इतिहास कभी असत्य ठहरायेगा, इसकी सम्भावना बहुत कम है। आज तो सभी एक स्वर से यह मानते हैं कि उनके जैसा महान् भारतीय पैदा ही नहीं हुआ। वह निस्सन्देह आज के भारतीयों में सबसे महान् और प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। और, जैसा कि कुछ साल पहले मैंने एक सार्वजनिक भाषण में कहा था, यह कहा जा सकता है कि "वह भारत की आत्मा के सबसे सच्चे प्रतिनिधि हैं और किसी भी दूसरे से अधिक योग्यता के साथ भारत की भावनाओं को वाणी में प्रकट कर सकते हैं।" उन्होंने अपने देशवासियों के हृदयों को अपनी सार्वजनिक सहानुभूति और अपने ऊँचे आदर्शों के प्रति अटूट भक्ति के कारण जीत लिया है। सेवा-भाव की ओर खिचने-वाले सभी लोग उनकी इज्जत करते हैं। सचमुच संसार के असाधारण महान् व्यक्तियों में से वह एक हैं। वह भारत के राष्ट्रीय जीवन में एक अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन्होंने अपनी इस असाधारण स्थिति का उपयोग सदा मातृभूमि के हित के लिए किया है। महात्मा गांधी का अपने देशवासियों के हृदयों पर जितना महान् प्रभाव है, उसे देखते हुए उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के वर्तमान अत्यन्त शक्तिशाली महान् पुरुषों में गिना जा सकता है।

राजनीति बहुत गन्दा खेल है। इसमें प्रायः विषम परिस्थितियों से विवश होकर न्याय और धर्म के पथ से गिरना पड़ता है। यह कुछ बेढंगी-सी बात तो लगती है, लेकिन इसमें सचाई जरूर है। कहा जाता है कि राजनीति में अक्सर वही व्यक्ति सफल होता है, जो न्याय-अन्याय की दुविधाओं की बहुत परवा नहीं

करता । लेकिन महात्मा गांधी की बात निराली है । वह अत्यन्त न्याय-परायण, सतर्क तथा ऊँचे आदर्शों पर दृढ़ रहनेवाले हैं और फिर भी सबसे अधिक राजनीतिज्ञ हैं । वह भारत की एक सनातन पहेली हैं । दुर्लभ चारित्रिक उन्नति, निर्दोष व्यक्तिगत जीवन, स्फटिक की तरह साफ दीखनेवाली व्यवहार की शुद्धता व गम्भीरता और दृढ़ धार्मिक मनोवृत्ति—इन सब गुणों के अद्भुत समन्वय गांधीजी को देखकर हमें महान् आध्यात्मिक नेताओं और सन्तों की याद आ जाती है । दूसरी ओर भारतीयों में एक नई भावना, आत्म-सम्मान और अपनी संस्कृति के लिए अभिमान के भाव पैदा करने और पुनर्जीवित भारत का स्फूर्तिदायक नेता होने के कारण वह एक महज राजनीतिज्ञ से भी कहीं अधिक हैं । वह महान् और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ हैं । सचमुच जैसा कि रिचर्ड फ़्रिअंड ने 'स्पैक्टेटर' में लिखा है—"एक भारतीय राष्ट्र का अत्यन्त अधीरता के साथ उदय हो रहा है । अभी यह प्रयोगकाल में है, लेकिन उसकी बाह्यरूप-रेखा को हम देख सकते हैं । गांधीजी इसके निर्माता हैं ।"

महात्मा गांधी सन्त, राजनीतिज्ञ और नेता के एक अद्भुत समन्वय हैं । अंग्रेजों के लिए वह कठिन पहेली हैं और उनके भारतीय अनुयायी भले ही उन्हें समझ न सकें, उनका नेतृत्व तो अवश्य मानते हैं । महात्मा गांधी संसार के ऐसे महान् पुरुषों में से एक हैं, जिनकी प्रशंसा सब करते हैं, लेकिन समझ बहुत कम सकते हैं । उन्होंने राजनीति में धर्म और नैतिकता की प्रतिष्ठा की है और राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजनैतिक क्षेत्र में भौतिक शक्तियों के साथ युद्ध करने के लिए अद्भुत नैतिक हथियारों का आविष्कार किया है । जहाँ एक ओर उन्होंने राजनीति की प्रतिष्ठा करके उसे आध्यात्मिक बना डाला है, वहाँ दूसरी ओर धर्म में भी राजनीति का पुट देकर धर्म को अनेक ऐसे पहलुओं से लौकिक बना दिया है, जिन्हें पुराणप्रिय हिन्दू एकमात्र धार्मिक रूप देते थे । हरिजनों का उत्थान भी ऐसे अनेक प्रश्नों में से एक है, जिनपर उन्होंने रूढ़िप्रिय हिन्दुओं के विरुद्ध विवेकशील भारतीयों के विद्रोह का नेतृत्व किया है । लेकिन उनके साथ न्याय करने के लिए यह भी मुझे कहना चाहिए कि इस देश से 'अस्पृश्यता' का अभिशाप नष्ट करने की उनकी कोशिश को परोपकार तथा दया की सहज सच्ची भावना से उतनी ही प्रेरणा मिली है जितनी उनके सुधार के उत्साह और राजनैतिक अन्तर्दृष्टि से ।

महात्मा गांधी को अपने आप में अगाध विश्वास है—ऐसा विश्वास, जो अध्यात्म शक्ति पर अगम्य श्रद्धा के साथ बढ़ा है और जो कभी-कभी तो प्रेरणा की द ईश्वरीय प्रेरणा तक पहुँच जाता है । वह मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय और

वृद्धि की अपेक्षा आन्तरिक प्रेरणा से अधिक प्रभावित होते और करते हैं। बहुत दफा जब विचित्र परिस्थितियों में वह अपने अनुयायियों को परेशान कर देनेवाली सलाह देते हैं या स्वयं सर्वसाधारण के लिए कोई दुर्बोध कदम उठाते हैं तव अपना और उनका समाधान "मेरी अन्तरात्मा की आवाज" इन सीधे-सादे मगर अगम्य शब्दों से करते हैं। 'सादा जीवन और ऊँचे विचार' यह गांधीजी के जीवन का मूल आदर्श है। जिस सीमा तक उन्होंने अपने मनोभावों, अपनी, क्रियाओं और अपने जीवन को नियंत्रित किया है, दूसरे आदमी उसे देखकर 'वाह वाह' करने लगते हैं और उसके साथ हम इस सीमा तक नहीं पहुँच सकते, यह निराशा का भाव भी उनमें पैदा हो जाता है। "गांधीजी अनुभव करते हैं कि अगर तुम अपने पर काबू पा लो, तो राजनैतिक क्षेत्र पर तुम्हारा अधिकार स्वयं हो जायगा।" वह अपनी दुर्बलताओं के कारण अपने साथ कोई रियायत नहीं करते। वह अपने स्वभाव और रुचि में बहुत सरल और तपस्वी है। सत्य और अहिंसा ये दो ध्रुवतारे हैं, जिनके सहारे उन्होंने—सदा अपना मार्ग टटोला है और कांग्रेस तथा राष्ट्र के जहाज को भारतीय राजनीति के तूफानी समुद्र में खेने की कोशिश की है।

मुझसे अगर कोई यह पूछे कि भारत की जनता के दिल व दिमाग पर गांधीजी के इतने प्रभाव का क्या रहस्य है, तो मैं उनकी राजनीतिज्ञतापूर्ण योग्यता का—भले ही यह भी गांधीजी में चरम सीमा तक है—संकेत नहीं करूँगा और न उनकी उस महान् सफलता का निर्देश करूँगा, जिसे प्राप्त करने के लिए उन्होंने भारत की समस्याओं के हल के अपने तरीकों का इस्तेमाल किया है। भारतीय लोग स्वभावतः चरित्र के प्रति विशेष रूप से भावुक होते हैं और बौद्धिक नेतृत्व की अपेक्षा चारित्रिक नेतृत्व के प्रति वे अधिक आकृष्ट होते हैं। उद्देश्य की अत्यन्त गम्भीरता और हृदय की पवित्रता के साथ शानदार व्यक्तिगत चारित्र्य का सम्मिश्रण गांधीजी में एक ऐसी चीज है, जिसने न केवल उनके अपने राजनैतिक अनुयायियों, बल्कि कांग्रेस-संगठन से बाहर के उन लोगों का भी विश्वास और प्रेम जीत लिया है, जो न उनके सब विचारों से सहमत हैं न उनके राजनैतिक सिद्धांतों और तरीकों पर विश्वास करते हैं।

पाँच साल से कुछ ही ऊपर हुआ, मैंने मैसूर-असेम्बली में एक भाषण के सिलसिले में कहा था—"दूसरे सब लोगों से ऊँचा एक मनुष्य है, जो हमारी दिक्कतों को सुलझाने और स्वशासन के आधारभूत नवीन चरित्र के निर्माण में हमारी सहायता कर सकता है। मैं उन लोगों में से नहीं हूं, जो यह चाहते हैं कि महात्मा गांधी राजनीति

से अलग हो जावें। अबसे पहले इतना बुरा समय कभी नहीं आया था, जब कि हमें सच्चे वास्तविक नेतृत्व की इतनी अधिक जरूरत पड़ी हो और गांधीजी में हम एक ऐसा नेता देखते हैं, जिसकी देश में असाधारण स्थिति है और जो न केवल सर्वमान्य शान्ति का इच्छुक तथा दृढ़ देश-भक्त है, वरन् अत्यन्त दूरदर्शी राजनेता भी है। मैं अनुभव करता हूँ कि देश में परस्पर संघर्ष करनेवाले विभिन्न दलों को एक साथ मिलाने और उन सबको स्वराज्य के मार्ग पर ले जाने की योग्यता उनसे अधिक किसी दूसरे नेता में नहीं है। सिर्फ उन्हींमें ग्रेट-ब्रिटेन और भारत में परस्पर अच्छे-से-अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का सामर्थ्य है। मुझे यह निश्चय है कि वह सरकार के एक शक्तिशाली मित्र और ग्रेट ब्रिटेन के सच्चे साथी हैं। यदि आज इस नाजुक हालत में वह राजनीति से अलग हो जाँय, तो इस बात के लक्षण दीख रहे हैं कि बहुत सम्भवतः भारत के राजनैतिक क्षेत्र पर बातूनी और कल्पना-क्षेत्र में उड़ने वाले लोग कब्जा कर लेंगे। उन्हे स्वयं कोई स्पष्ट मार्ग तो सूझता नहीं, निरर्थक चिह्नों व नारों का प्रयोग करते हुए वे देश को गलत रास्ते पर भटका देंगे।"

ऊपर लिखे ये शब्द जब मैंने कहे थे, उस समय से आज तक बहुत-सी घटनायें घट चुकी हैं। सभी प्रांतों में व्यवस्थापिका सभाओं के प्रति जिम्मेदार मंत्रियों की सरकारें कायम हो चुकी हैं। भारतीय संघ की समस्या आज विचार के लिए हमारे सामने प्रमुख रूप में आ गई है। गांधीजी के अपने शब्दों में वह "कांग्रेस में ही रहे, मगर वह कांग्रेस के आज भी हैं;" लेकिन अब तक एक भी ऐसी बात नहीं हुई कि मुझे अपने उक्त वक्तव्य को वापस लेने या उसमें कुछ तब्दीली करने की जरूरत महसूस हो। देश में महात्मा गांधी के सिवा, जो आज भी देश में सबसे प्रभावशाली हैं—मैं कहूंगा उतने ही प्रभावशाली जितना पहले कोई नहीं हुआ—एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं, जिस पर हम नेतृत्व के लिए पूरी तरह निर्भर हो सकें। राजनीति में संयम, बुद्धि और व्यावहारिकता, इन सबका समन्वय करने वाली एक खास शक्ति महात्मा गांधी में है। आज जब तक हम आगे देख सकते हैं, उस समय तक भारत का गांधी के बिना गुजारा नहीं हो सकता।

यदि महात्मा गांधी भारत में हमारे लिए इतने अधिक उपयोगी और मूल्यवान् हैं, तो यह भी कुछ कम नहीं है कि उनके जीवन और कार्य बाहरी दुनिया के लिए भी, जो आज युद्धों व युद्ध की धमकियों के कारण इतनी अधिक व्याकुल हो उठी है, कम महत्व के नहीं है। उनके राजनीति-शास्त्र का मुख्य आधार शान्ति है, और राजनैतिक व्यवहार की फिलासफी का आधार प्रेम, सत्य और अहिंसा की चरम-

सीमा है। उनकी ये दो चीजें—राजनैतिक प्रणाली और राजनैतिक व्यवहार का दर्शनशास्त्र उन राष्ट्रों के लिए काफी विचार-सामग्री दे सकती है, जिनके आपसी सम्बन्ध आजकल कूटनीति, घृणा और युद्ध द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

अन्त में मैं महात्मा गांधी को उनकी ७१वीं जयन्ती पर हार्दिक बधाई देता हूँ और मंगलमय भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि वह स्वस्थ और प्रसन्न रहते हुए बरसों. विशेषत: भारत की तथा सामान्यत: तमाम दुनिया की, सेवा करने में समर्थ हों।

: २२ :

अनासक्ति और नैतिक बल की प्रभुता

सी० ई० एम० जोड

मानव जाति की सबसे बड़ी विशेषता क्या है ? कुछ लोग कहेंगे नैतिक गुण; कुछ कहेंगे ईश्वरभक्ति; कुछ साहस और आत्म-बलिदान को मानव-प्राणी की विशेषता बतायेंगे। अरस्तू ने बुद्धि को मनुष्य की विशेषता बताया है। उसका कहना था कि इसी बुद्धि की विशेषता के कारण हम पशुओं से पृथक् हैं। मेरा खयाल है कि अरस्तू के उत्तर में सचाई का एक ही अंश है, पूर्ण नहीं। तर्क-बुद्धि वस्तुत: बहिर्मुखी तथा अनासक्त होती है।

अरुचिकर स्वरूप से बचने के लिए, भले लोग जो यथार्थ पर आवरण चढ़ा देते हैं, उन्हें भेदकर बुद्धि शुद्ध नग्न यथार्थ को देख लेगी, यह उसका गर्व है। एक शब्द में, बुद्धिवादी निडर होता है। वह वस्तुओं के यथार्थ रूप के ज्ञान से डरता नहीं है। वह हर पदार्थ को यथार्थ रूप में देखने का प्रयत्न करता है। उसे जबर्दस्ती अपने अनुकूल देखने की कोशिश नहीं करता। अपनी इच्छा को सर्वोपरि निर्णायक नहीं मानता और न अपनी आशाओं को ही वह झूठा जज बनाता है।

इसलिए विद्वान् मनुष्य अनासक्त रहता है, अर्थात् उसकी बुद्धि जिस वस्तु का आलोचन करती है, उसमें आसक्त नहीं होती।

लेकिन क्या विद्वान् और बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं अपने से भी तटस्थ होता है ? मेरा ख्याल है कि नहीं। मैं ऐसे अनेक मनुष्यों को जानता हूं जिनकी बौद्धिक योग्यता

बहुत ऊँचे दरजे की है, लेकिन जो जूते का तस्मा टूट जाने पर या गाड़ी चूक जाने पर आपे से वाहर हो जाते हैं। बड़े-बड़े गणितज्ञ और वैज्ञानिक अपने मन की धीरोदात्तता के लिए कभी प्रसिद्ध नहीं होते और दार्शनिक जिन्हें समबुद्धि होना चाहिए बड़े तुनकमिजाज होते है। दार्शनिक तो छोटी-छोटी बातों पर अपने उत्तेजित होने वाले स्वभाव के लिए प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए मेरा ख्याल है कि अरस्तू का कथन सत्य की ओर सिर्फ निर्देश करता है, पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करता। सचाई तो यह है कि मानवजाति की विशेषता अपने आत्मा के विस्तार मे अपने मानसिक आवेशों, प्रलोभनों, आशाओं व इच्छाओं में उस तटस्थ अनासक्त वृत्ति का प्रवेश करना है, जिसकी कि तार्किक अपने बुद्धिग्राह्य प्रतिपाद्यविषय पर प्रयुक्त किया करता है। अपने प्रति अनासक्ति रखकर कुछ सत्यों के प्रति तीव्र भक्ति-भाव रख सकता है और कुछ सिद्धान्तों के विषय में अनासक्त आग्रह रख पाना—यही मेरे मन से उस गुण को जाग्रत करना है, जो मानव की विशेषता है। वह है नैतिक शक्ति।

अपने आप से भी अनासक्त होने का यह गुण ही मेरे ख्याल में गांधीजी की शक्ति और प्रभाव का मूल-स्रोत है। उनकी अनासक्ति का एक मोटा सा चिह्न है अपने शरीर पर उनका अपना नियंत्रण। अनासक्त मनुष्य का शरीर उसके काबू में रहता है, क्योंकि वह इसे अपनी आत्मा से पृथक् अनुभव करता है और आत्मा के काम के लिए बतौर एक औजार के इसका इस्तेमाल कर सकता है। इसलिए गांधीजी के लिए यह कोई असाधारण और अस्वाभाविक बात नही है कि वह बिना एक क्षण की सूचना के एकदम इच्छानुकूल समय तक गहरी नीद में सो जाते है या भोजन में विना कोई परिवर्तन किए जान-बूझकर अपना वजन घटा या बढ़ा लेते है।

अनासक्ति के उपर्युक्त गुण का दूसरा चिह्न यह है कि वे साधनों को यथासम्भव अधिक-से-अधिक व्यवहारिक बनाते हुए उद्देश्य पर कट्टर निश्चय के साथ उनका सम्बन्ध कायम रखते है। अनासक्त मनुष्य मोही और हठी नही होता। वह कभी अपने मार्ग के मोह मे इतना नहीं डूब जाता कि उसे छोड़ ही न सके, या उसकी जगह कोई दूसरा रास्ता न पकड़ सके। जब तक उसके सामने ध्येय स्पष्ट रहता है, वह हरेक ऐसे रास्ते में पहुँचने की कोशिश करेगा, जो घटनाओं या परिस्थितियों से बन गया हो। यही कारण है कि गांधीजी राजनीतिज्ञ और सन्त दोनों एक साथ हैं इसे देखकर बहुत-से लोग परेशान हो जाते हैं। राजनीतिज्ञता और सन्तपन के अलावा संधिचर्चा में निपुणता, बच्चों की-सी सरलता जो फिर पीछे अत्यन्त गहन

राजनीति-पटुता के रूप में दीखती है, एकदम समझौते के लिए उद्यत हो जाना आदि उनकी स्वभावगत विशेषतायें है। वह अपने ध्येय के सम्बन्ध में तो दृढ़ निश्चयी है, लेकिन उस उद्देश्य तक पहुँचने के किसी मार्ग से उन्हें मोह नही है। इस कारण हम देखते है कि राजनैतिक हथियार के तौर पर सविनय अवज्ञा के प्रेरक गांधीजी जब देखते है कि इससे सफलता की सम्भावना नही है तो उसे बन्द करने में जरा भी नही हिचकिचाते। इसी तरह सन्त गांधीजी आत्मशुद्धि के लिए उपवास करते हुये भी अपने उपवास को सौदे का सवाल बनाकर इस्तेमाल करने और जब उपवास का राजनैतिक उद्देश्य पूरा होजाता है, तो फिर अन्न ग्रहण करने के लिए सदा तैयार रहते है। नये शाशन-विधान के कट्टर विरोधी गांधीजी आज उस विधान को,जिसकी उन्होंने घोर निन्दा की थी, अमल में लाने के लिए सिर्फ एक शर्त पर सहयोग देने को तैयार हैं, और वह यह कि रियासतों के प्रतिनिधि भी प्रजा द्वारा निर्वाचित हों न कि राजाओं द्वारा नामजद, जैसा कि विधान में लिखा है। और अन्त मे हम देखते है कि जीवनभर अँग्रेजों के प्रतिपक्षी गांधीजी आज भारत में अँग्रेजों के सर्वोत्तम मित्र—ऐसे मित्र जिनका प्रभाव न केवल सविनय अवज्ञा को फिर शुरू नहीं होने देता, बल्कि आतंकवाद के मशहूर आन्दोलन पर भी नियंत्रण करता है—माने जाते है। क्या अंग्रेज बहुत अधिक देर हो जाने से पहले ही थोड़ी-सी रिआयतें जो वह आज माँगते है, दे देंगे? क्या अंग्रेज अपनी इच्छा और शोभा के साथ रिआयतें खुद दे सकेंगे? या कि फिर उन रिआयतों को, जिनसे आम भारत सन्तुष्ट हो सकता है देने से इन्कार करके देश का सख्त विरोधी होकर आयर्लैंड बन जाना पसन्द करेंगे?

हम फिर अनासक्ति के तत्व पर आयें। अनासक्ति का एक बहुत प्रभावशाली अंग है, जिसे हम आसानी से पहचान सकते है, पर जिसकी व्याख्या करना बहुत कठिन है। यह शक्ति नैतिक बल है। और सब जीवधारी प्राणियों में मनुष्य ही उसका अधिकारी होता है।

भौतिक बल की न तो कोई समस्यायें है, न इससे कोई नये सवाल ही उठते है। यदि एक आदमी शारीरिक बल में आपसे ज्यादा ताकतवर है और आप उसकी इच्छा को ठुकराते हैं, तो वह प्रत्यक्षतः अपनी प्रबल शारीरिक-शक्ति के द्वारा बाध्य करके या अप्रत्यक्ष दण्ड का भय दिखाकर आपसे निबट ही लेगा। प्रत्यक्ष पशुबल के प्रयोग का फल यह होता है कि आप उठाकर पटक दिये जाते हैं, और परोक्ष बल का फल यह है कि उस बल के परोक्ष-दबाव के भय से आदमी इस जीवन से मुंह मोड़कर ईश्वर को प्रसन्न करना चाहता है जिससे अगले जन्म में इस सदा की मुसीबत से बच सके।

इस प्रकार पशुवल को ऐसी शक्ति कह सकते हैं, जिसकी मदद से आप दूसरे को इस डर से अपनी मर्जी के मुताविक काम करा लेते हैं कि यदि न करोगे तो भुगतना पड़ेगा ।

लेकिन नैतिक-वल में ऐसे किसी दण्ड का भय नहीं है। यदि मैं नैतिक बल का मुकाबला भी करता हूँ, तो उससे मुझे कोई नुकसान नहीं होता। तब मैं नैतिक बल वाले की बात क्यों मानता हूँ ? यह कहना कठिन है। मैं उसके प्रभाव और शक्ति को स्वीकार कर लेता हूँ। उसका मुकाबला करने के बावजूद भी मैं जानता हूँ कि वह सही रास्ते पर है और मैं गलत रास्ते पर हूँ। मैं ये सब बातें इसलिए मानता और जानता हूँ कि मैं स्वयं भी एक आत्मा हूँ। आत्मा हूँ, इससे उच्चतर आत्म-धर्म जहाँ देखता हूँ, वहीं उसे पहचानता और स्वीकार करता हूँ। इस तरह नैतिक बल में दबाव नहीं, प्रभाव है। एक मनुष्य दूसरे मानव-प्राणी के मन और क्रिया पर एक विशेष प्रभाव पैदा करता है, दण्ड के भय या पुरस्कार के लालच से यह प्रभाव पैदा नहीं होता, बल्कि दूसरे व्यक्ति की वास्तविक उच्चता को अन्तःकरण स्वयं स्वीकार कर लेता है और इस तरह नैतिक बल वाले का प्रभाव पैदा होता है।

यह नैतिक बल ही था, जिससे गांधीजी ने हजारों भारतीयों को जेलों में कैद हो जाने के लिए प्रेरित किया। यह नैतिक बल ही था कि गांधीजी ने हजारों को इस बात के लिए तैयार कर लिया कि उन पर चाहे कितना ही भीषण लाठी-प्रहार हो, वह आत्मरक्षा में एक अंगुली तक न उठावें।

नैतिक बल से प्रेरित सविनय अवज्ञा आज की पश्चिमी दुनिया के लिये बहुत महत्व की वस्तु है। आज तो राष्ट्र की सारी बचत ही नर-संहार के साधनों को जुटाने पर क्या खर्च नहीं हो रही है ? क्या ये सब नर-संहार के साधन प्रजा की इच्छानुसार प्रयुक्त होते हैं ? जब एक सरकार किसी दूसरे राज्य की प्रजा का संहार वांछनीय समझती है तब क्या वहाँ के लोग जीवित रहने की आशा कर सकते हैं ? क्या युद्ध में पड़े हुए राष्ट्र के पास विरोधी राष्ट्र की प्रजा की अधिकाधिक संख्या में हत्या करने के सिवा अपने प्रयोजन की श्रेष्ठता सिद्ध करने का कोई मार्ग नहीं है? ये कुछ सवाल हैं, जिनका जवाब पश्चिमी संसार को जरूर देना चाहिए। और जब तक अतीतकाल में इन प्रश्नों के दिये गए उत्तर के सिवा कोई दूसरा उत्तर नहीं दिया जायगा, तबतक पश्चिम की सभ्यता विनष्ट होने से बच नहीं सकती।

गाँधीजी को इस बात का बहुत अधिक श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने इन सवालों का दूसरा उत्तर बताया है और उस पर आचरण करने का साहस भी दिखाया है।

उन्होंने ठीक ही कहा है कि ईसामसीह और बुद्ध प्रयोगतः सही रास्ते पर थे । लड़ाई झगड़े के लिए दो का होना जरूरी है और यदि आप दृढ़ता के साथ दूसरा बनने से इन्कार कर दें, तो आपसे लड़ेगा कौन ? तलवार के बल पर मुकाबिला करने से इन्कार कर दीजिए, उस समय न केवल आप अपने उद्देश्य को हिंसात्मक उपायों की अपेक्षा अधिक आसानी व प्रभावशाली तरीके से पा सकेंगे, बल्कि आप हिंसा की निरर्थकता दिखलाकर उसको पराजित कर देंगे । यह सिद्धान्ततः तो बहुत पुराना, जब से कि मनुष्य सोचने लगा है तब का तरीका है । पर गांधीजी ने मानवी समस्याओं के निदान और समाधान के लिए इसका नया प्रयोग किया है; इसके लिए सचमुच हमें उनका परम कृतज्ञ होना चाहिए । अपनी उच्चतम कल्पना को सत्य प्रदर्शित करने के मार्ग मे जितने खतरे आ सकते थे, उन सबको उठाने के लिए गांधीजी ने हमेशा आग्रह दिखाया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह जिस उपाय का प्रतिपादन कर रहे हैं, उसका समय अभी नही आया और इसलिए इसमें भी कोई सन्देह नही कि उनके विचार एकदम परेशान कर देने वाले और आजकल के प्रचलित विचारों से एकदम विपरीत दीखते है । इसमें कोई शक नही कि गांधीजी के विचार आज के स्थापित स्वार्थों को ललकारते है, लोगों के दिलो मे एक उथल-पुथल-सी मचा देते है, उनके नीति-चरित्र-सम्बन्धी विचारों को बदल देते है, तथा आज के शक्तिशाली स्थापित स्वार्थो की सुरक्षा की जड़ें ढीली करते है । इसलिए अन्य सब मौलिक प्रतिभाशालियों की भांति उन्हे भी दुर्विनीत, नास्तिक और पाखण्डी आदि गालियाँ दी जाती है । कला में किसी नये मार्ग पर चलने को हद दर्जे की सनक या मूर्खता कहा जाता है, लेकिन राजनीति या चरित्र में नये मार्ग पर चलने को 'प्रचारकों की शरारत' कहकर बदनाम किया जाता है कि जिसको बरदाश्त कर लिया गया तो वह समाज की वर्तमान नींव का ही हिला डालेगी । और प्रचलित समाज-नीति में जो भी प्रगति या नव-सुधार हो——और प्रगति का अर्थ ही है कि भिन्न मत या दिशा मे जा सकना——उसे विचार और नीति-क्षेत्र के स्थापित स्वार्थो का मुकाबला सहना ही पड़ेगा । क्योंकि वर्तमान विचारों को हटाकर ही उसमें क्रांति की जा सकती है । इसलिए जहाँ कला में नया मार्ग निकालने वाले प्रतिभा-शाली भूखों मरते है, वहाँ आचार-जगत में ये नवपंथी कानून के नाम पर जेल में डाले जाते हैं । इस दृष्टिकोण से यदि इतिहास के बड़े-बड़े कानूनी मुकद्दमों की परीक्षा की जाय, तो बहुत मजेदार बातें मालूम होंगी । सुकरात, जिओरडानो, ब्रूनो और सर्विटस, सभी पर मुकदमा चलाया गया और वे उस समय के अधिकारियों से भिन्न

मत रखने के कारण दोषी ठहराये गये, कि जिन मतों के लिए आज संसार उनका आदर करता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति का एक सर्वोत्तम लक्षण शेली के शब्दों में यह है कि वह वर्तमान में ही भविष्य का दर्शन कर लेता है और उसके विचार गुजरे हुए जमाने के फूल और फल के बीज-रूप होते हैं; जीवन-विज्ञान की परिभाषा में कहें, तो एक प्रतिभाशाली मानसिक और आध्यात्मिक क्षेत्र पर विकास-धारा की एक 'लहर' (Sport) जिसका उद्देश्य जीवन के भीतर के अव्यक्त को व्यक्त चेतन रूप देना होता है। इसलिए यह प्रतिभाशाली जीवन के लिए एक नई आवश्यकता का प्रतिनिधित्व करता है और विचार और नीति-संबंधी वर्तमान धरातल को नष्ट कर उसकी जगह दूसरा नया ऊँचा धरातल तैयार कर देता है। इसके बाद सारे समाज के विचारों का धरातल भी शीघ्र प्रतिभाशाली के नये संदेश तक उठ चलता है। इतिहास में यह स्पष्ट है कि एक समय जिस विचार को नया एवं समय के प्रतिकूल कहकर नापसन्द किया गया, कुछ समय बाद वही जनता का प्रिय और प्रचलित विचार बन गया।

इन्हीं अर्थों में गांधीजी एक नैतिक-क्षेत्र की प्रतिभा हैं। उन्होंने झगड़ों के निबटारे के लिए एक नया मार्ग बताया हैं। यह मार्ग बल-प्रयोग के उपाय की जगह ले लेगा। इसे संभव ही नहीं मानना हैं, बल्कि जब मनुष्य-संहार की कला में अधिकाधिक दक्ष और शक्तिशाली बनते जा रहे हैं, तब यदि मानव-सभ्यता की रक्षा करनी हो तो हमें देखना होगा कि वह जगह ले लेता है या नहीं। गांधीजी का ही एकमात्र ऐसा मार्ग है, जिस पर, दूसरे सब मार्गों को छोड़कर चलना पड़ेगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि आज गांधीजी का उपाय सफल नहीं हुआ। इसमें कोई शक नहीं कि जितनी भी उम्मीद उन्होंने रक्खी और दिलाई है वह सब कर नहीं सके हैं। लेकिन यदि मनुष्य जितना कर सकते हैं, उससे अधिक की आशा न रक्खें और न दें, तो यह संसार और दरिद्रतर हो जाय क्योंकि प्राप्त-सुधार अप्राप्य आदर्श का अंश ही तो हैं। गांधीजी श्रद्धावान् हैं, इसलिए लोगों को उनमें श्रद्धा है। और उनका प्रभुत्व, कोई सत्ता पास न होते हुए भी दुनिया में किसी भी जीवित पुरुष से अधिक हैं।

: २३ :

महात्मा गांधी और आत्मबल

रूसफ एम. जोन्स

जिस किसी को महात्मा गांधी और उनके सावरमती आश्रम में भ्रातृ-भाव से रहनेवाले साथियों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वह जरूर उनकी ७१वीं जयन्ती के उपलक्ष में निकलनेवाले अभिनन्दन-ग्रंथ में लेख लिखने के अवसर का स्वागत करेगा। मुझे भी उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और मैं इस ग्रंथ में लेख लिखने के अवसर का प्रसन्नता के साथ स्वागत करता हूँ। मेरे जीवन की विचार-दिशा और जीवन-क्रम पर उनका गहरा प्रभाव है। मैं सार्वजनिक रूप से इस अद्‌भुत पुरुष के प्रति अपने ऋणी होने की घोषणा करता हूँ। यह मेरा सौभाग्य है कि मैं भी उनके जीवनकाल में रहता हूँ।

मैंने सबसे पहले १९०५ में असीसी के सन्त फ्रांसिस का जीवन पढ़ा था और तभी से मैं उनके जीवन को एक ऊँचा आदर्श मानता हूँ, जिन लोगों को मैं जानता हूँ गांधीजी उनमें फ्रांसिस से ही सबसे अधिक मिलते हुए मालूम पड़ते हैं। १९२६ में जब मैं गांधीजी से मिला, मुझें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि गांधीजी असीसी के उस "दीन-हीन आदमी" के बारे में बहुत कम जानते हैं। मैं उनके पास बैठ गया और 'दी लिटिल फ्लावर्स आव सेंट फ्रांसिस' से उन्हें कई कहानियाँ सुनाई। सबसे पहले मैंने उन्हें 'परमानन्द' वाली सबसे सुन्दर कहानी सुनाई। फिर मैंने उन्हें वह कहानी भी सुनाई जिसमें बताया है कि किस तरह बन्धु गाइल्स और फ्रांस के राजा सन्त लुई गले मिले, एक दूसरे को चुम्बन किया, अनन्तर काफी देर दोनों चुप, प्रणाम की अवस्था में धरती पर झुके बैठे रहे और फिर बिना एक शब्द बोले दोनों अलग हुए। कुछ भी कहना दोनों को अनावश्यक प्रतीत हुआ। जैसा कि बन्धु गाइल्स ने पीछे लिखा—"हम एक-दूसरे के हृदयों को सीधे जैसे पढ़ सके, मुँह से बोलकर वैसा नहीं कर सकते थे।" बिना शब्दों के हृदयों को समझने का जो अनुभव गाइल्स को हुआ था, वैसा ही अनुभव मुझे भी तब हुआ, जब मैं आधुनिक काल के सन्त के साथ जमीन पर बैठा हुआ था। यह ठीक है कि इस सन्त के पास वैसी शाही पोशाक नहीं थी, जैसी कि नवम लुई प्रायः पहनता था।

मुझे यह भी मालूम हुआ कि गांधीजी जॉन वुलमैन के बारे में भी जिसमें वह बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं, बहुत कम जानते हैं। जॉन वुलमैन १८वीं सदी के क्वेकरों में अत्यन्त असाधारण और महान सन्त हो गए हैं। आत्मबल की वह जीती जागती प्रतिमा थे। वुलमैन ने एक दिन सुना कि सुसकिहाना के रैडइण्डियन पश्चिम की बस्तियों में बसने वालों से लड़ रहे हैं और उन्हें मार रहे हैं। उनके हृदय में इन इण्डियनों को देखने के लिए 'विशुद्ध प्रेम की धारा' बहने लगी। उनकी इच्छा हुई कि "वह उनके जीवन और मनोभावों को समझने की कोशिश करें और यदि संभव हो तो उनके साथ रहें।" वह लिखते हैं कि "मैं उनसे, संभव है, कुछ शिक्षा ले सकूं या उन्हे सत्य की शिक्षा देकर उनकी थोड़ी-बहुत सहायता कर सकूं।"

उन्होंने देखा कि रैड-इण्डियन लड़ाई की पोशाक पहने हुए हैं और मार्च कर रहे हैं। वह उनकी एक सभा में गए, जहाँ वे गम्भीर और शान्त बैठे थे तब वुलमैन ने शान्त और मीठी वाणी में उन्हें अपने आने का प्रयोजन बतलाया। इसके बाद उन्होंने फिर ईश्वर की स्तुति-वन्दना की। जब सभा खत्म हो गई, तब एक रैड इण्डियन अपनी बोली में बोल पड़ा कि, "जहां से ये शब्द आते हैं उसे अनुभव करना मुझे अच्छा लगता है।" उसकी भाषा पराई थी, पर वह मन को मन से समझ गया था। गांधीजी की कार्य-पद्धति भी ठीक इसी तरह की है। उनकी उपस्थिति ही लोगों के हृदय को उनकी वाणी या लेखों की अपेक्षा अधिक स्पर्श करती है, क्योंकि "लोग उनके हृदय की गहराई को जिससे वह बोलते हैं, अनुभव करते हैं।"

हम प्रायः उनके जीवन-सिद्धान्त——सत्याग्रह--की अहिंसा के रूप में चर्चा करते हैं। लेकिन यह तो उसकी निर्गुण व्याख्या है जब कि उनके जीवन सिद्धान्त की व्याख्या सगुण है और गौरवपूर्ण है। गांधीजी ने कहा कि "मैं क्वेमर माइकेल कोट्स का बहुत ऋणी हूँ। जब मै दक्षिण अफ्रीका में रहता था वह मेरे घनिष्ट मित्र थे। उन्हों ने मुझे ईसा के 'गिरि-प्रवचन' से परिचित कराया। उन्होंने ईसा की शिक्षा, उनके जीवन-क्रम और प्रेम के संदेश आदि के प्रति मेरी सहानुभूति और श्रद्धा पैदा की। इस शिक्षा से मेरी अन्तरदृष्टि और भी गहरी हो गई और अदृश्य शक्ति में मेरी आस्था और भी बढ़ गई। अनेक महान आत्माओं ने मेरे जीवन और विचार-दिशा को बनाने में बहुत भाग लिया है। टाल्स्टाय, रस्किन, थॉरो और एडवर्ड कारपेण्टर मेरे ऐसे अभिन्न मार्गदर्शक हैं, जिनसे मैंने बहुत-कुछ सीखा है।"

"सत्याग्रह" से गांधीजी का मतलब उस शक्ति के प्रकाश से है जो डाईनेमो से फूटकर काम करनेवाली चमत्कारी स्थूल शक्ति से किसी कदर कम नहीं है। डाईनेमो कोई नई शक्ति पैदा नहीं करता। यह शक्ति को अपने द्वारा छोड़ता है, यही कुछ उस व्यक्ति के विषय में है जो उस आत्मशक्ति को मुक्त करता है, जो उसके सीमित क्षुद्र व्यक्तित्व की नहीं, बल्कि गहन गम्भीर जीवन स्रोत का अंग है। व्यक्ति की आत्मा अपने गूढ़ान्तर में चित् और शक्ति के अगाध सागर के प्रति मानो खुल जाती है। वहाँ तो प्रेम और सत्य और ज्ञान का अबाध प्रवाह है। योगयुक्त होने पर वह प्रवाह व्यक्ति के माध्यम से फूट निकलता है। उपनिषदों में पुरुष के असीम रूपों का कथन आता है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा की सत्ता बतलाई गई है।

जो व्यक्ति यह जान लेता है कि इन सूक्ष्म और गहरी जीवन-शक्तियों को किस तरह जाग्रत किया जाय, वह न केवल शान्ति और निर्मलता का अधिकारी होता है, बल्कि साथ-ही-साथ वीरतापूर्ण प्रेम, साहस और उत्पादनशील-क्रिया-शक्ति का भी केन्द्र बन जाता है। गांधीजी आत्मबल का जो अर्थ समझते हैं, वह भी कुछ इसी तरह का है। उनका जीवन आत्मबल का अनुपम प्रदर्शन है। यह वीरता पूर्ण शान्ति या निष्क्रियता ही नहीं है, उसमे बहुत अधिक है।

एक दफा मैंने उनसे पूछा कि कठिन संसार की सब कठिनाइयों और निराशाओं के बावजूद भी क्या आप 'आत्म-बल' में विश्वास करते हैं? उन्होंने कहा—"हाँ, प्रेम और सत्य की विजय करनेवाली शक्ति में मैं सदा अपने अन्तरतम से विश्वास करता हूँ। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो इस शक्ति पर से मेरा विश्वास विचलित करदे।" जब ये शब्द उनके मुंह से निकल रहे थे उनकी अँगुलियां अपनी निकली हुई हड्डियों और पसलियों पर घूम रहीं थीं। दरअसल वह अपने छोटे-से पतले और कमजोर शरीर की बात नहीं सोच रहे थे। वह तो प्रेम और सत्य के अनगिनती स्रोतों के भंडार सूक्ष्म आत्मशरीर की शक्तियों का चिन्तन कर रहे थे।

वीरतापूर्ण प्रेम का यह संदेश और हिंसा से बहुत ऊँचा यह जीवन-क्रम कुछ ऐसे लोगों में भी था जिन्हें गांधीजी नहीं जानते, लेकिन वे भी क्षमा और नम्रता के इसी पथके पथिक थे। मैं इनका संक्षिप्त परिचय देकर वीरतापूर्ण और इस जीवन-क्रम के कुछ और उदाहरण देना चाहता हूँ। सबसे पहले मैं १७वीं सदी के क्वेकर जेम्स नेलर का नाम लूंगा। इन पर नास्तिकता का अपराध लगाकर इन्हें क्रूरता पूर्वक दंड दिया गया था। लोहे की एक गरम लाल सलाख से उनकी जीभ छेदी गई थी। उन्हें दण्ड देने के निमित्त बने सख्त लकड़ी के साँचे में दो घंटे तक रक्खा गया।

छकड़े के पीछे बांधकर, पीठपर जल्लाद के हाथों चाबुक की मार सहते उन्हें लन्दन की गलियों में घसीटा गया था। उनके माथे पर गरम लोहे से दाग दिया गया था। यह भी हुक्म उन्हें हुआ था कि वह ब्रिस्टल में घोड़े की पीठ पर उल्टा मुंह करके सवार हों, सरे बाजार उन्हें चाबुक लगाये जाँय और फिर ब्राइडवैल के जेल के एक तह खाने में कैद कर दिया जाय, जहां उन्हें कलम-दावात कुछ भी न दी जाय। अन्त में बहुत समय बाद पार्लमेण्ट ने एक कानून बनाकर उन्हें छोड़ा।

इस मनुष्य ने मनुष्य की अमानुषिकता का शिकार होकर अपने साथ अन्याय करनेवाले संसार को यह शिक्षा दी "मुझमें एक ऐसी आत्मा है, जो कोई बुराई न करके किसी अन्याय का बदला न लेकर आनंदित होती है। वह तो सब कुछ सहन करने में ही प्रसन्न होती है।। उसे यह आशा है कि अन्त में सब भला ही होगा। वह क्रोध, सब झगड़ों, निर्दयताओं और अपनी प्रकृति से विरुद्ध सब दुर्गुणों पर विजय पा लेगी। यह आत्मा संसार के सब प्रलोभनों को पार कर दूर की चीज देखती है। इसमें स्वयं कोई बुराई नहीं है, इसलिए यह और भी किसी की बुराई नहीं सोच सकती। यदि कोई इसके साथ धोका-धड़ी करे, तो यह सहन कर लेती है, क्योंकि परमात्मा की दया और क्षमा इसका आधार और मूलस्रोत है। इसका चरम विकास नम्रता है, इसका जीवन स्थायी और अकृत्रिम प्रेम है। यह अपना राज्य लड़-झगड़ कर लेने की अपेक्षा अनुनय-विनय से बढ़ाती है और उसकी रक्षा भी हृदय की विनम्रता से करती है। इसे केवल परमात्मा के सान्निध्य में ही आनन्द आता है। यह निर्विकार और निर्लेप है। दुःखमें इसका बीजनारोपण होता है और जन्मने पर यह किसी से दया की अपेक्षा नहीं रखती। कष्ट या सांसारिक विपत्ति में यह कभी विचलित नहीं होती। यह विपता में ही आनन्द मनाती, और सांसारिक सुखसंभोग में अपनी मृत्यु मानती है। मैंने उसे उपेक्षित एकाकी अवस्था में पाया। झोंपड़ों और उजाड़ स्थानों पर रहनेवाले ऐसे दरिद्र लोगों से मेरी मित्रता है जो मृत्यु पाकर ही पुनर्जन्म और अनन्त पवित्र जीवन पाते हैं।"[१] आत्म-बल का यह एक सुन्दर उदाहरण है।

विलियम लॉ १८वीं सदी के प्रमुख रहस्यवादी अंग्रेज थे। उन्होंने नेलर जितने कष्ट तो नहीं सहे, लेकिन फिर भी उन्हें काफी कष्टों की चक्की में पिसना पड़ा

---

१ 'लिटिल बुक आँव सिलेक्शन्स फ्रॉम दी चिल्ड्रन आँव दी लाइट' लेखक रूफस एम् जोन्स, पृष्ठ ४८–४९

उन्होंने भी बहुत सुन्दर और सतत स्मरणीय शब्दों में आत्मबल का यही संदेश दिया है। उनकी एक व्याख्या निम्नलिखित है :-

"प्रेम अपने पुरस्कार की अपेक्षा नहीं रखता, और न सम्मान या इज्जत की इच्छा करता है। उसकी तो केवल एक ही इच्छा रहती है कि वह उत्पन्न होकर अपने इच्छुक प्रत्येक प्राणी का हित-सम्पादन करे। इसलिये यह क्रोध, घृणा, बुराई आदि प्रत्येक विरोधी दुर्गुणसे उसी उद्देश्य से मिलता है, जिससे कि प्रकाश अन्धकार से मिलता है। दोनों का उद्देश्य उसपर आशीर्वाद की वृष्टि करके उसपर काबू पाना है। यदि आप किसी व्यक्ति के क्रोध या दुर्भावना से बचना चाहते हैं या किन्हीं लोगों का प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं, तो आपका उद्देश्य कभी पूरा नहीं होगा। लेकिन अगर आप के अन्दर सर्वभूतहित के सिवा और कोई कामना है ही नहीं तो आपको जिस किसी स्थिति में भी गुजरना पड़े, वही स्थिति आपके लिए निश्चित रूपसे सहायक सिद्ध होगी। चाहे शत्रु का क्रोध हो, मित्रका विश्वासघात हो या कोई और बुराई हो, सभी प्रेम की भावना को और भी विजयी होकर अपना जीवन बिताने तथा उसके उदात्त आशीर्वादों को पाने में सहायक सिद्ध होते हैं। आप पूर्णता या प्रसन्नता, जिस किसी का भी विचार करें, वह सब प्रेम की भावना के अन्तर्गत आ जाते हैं और आना भी चाहिए, क्योंकि पूर्ण और आनन्दमय परमात्मा प्रेम और भूतहित की अपरिवर्तनीय इच्छा के सिवा और कुछ नहीं। इसलिये यदि सर्वभूतहित की इच्छा के सिवा किसी और इच्छा से कोई काम करता है, तो वह कभी प्रसन्न और सुखी नहीं हो सकता। यही प्रेम भावना का आधारा, प्रकृति और पूर्णता है।"[१]

---

१. "सलैक्टेड मिस्टिकल टाइटिल्स आँव विलियम लॉ"—स्टीफन हॉबहाउस द्वारा सम्पादित, पृष्ठ १४०–१४१

: २४ :

शान्तिवादी ईसाई के लिए गांधी का महत्व

स्टीफेन हॉबहाउस

हमारा धर्म अथवा दर्शन कितना ही बहिर्मुखी क्यों न प्रतीत हो, किन्तु हममें से जिस किसी में भी विचार और आकांक्षा की क्षमता है, उसे एक अपनी ही दुनिया का निर्माण उन वस्तुओं में से करना पड़ा है, जो कि इसके चारों ओर की गूढ़ और अज्ञात परिस्थिति द्वारा उसे उपलब्ध हुई है। हमारे इस चैतन्य-ब्रह्मांड में कुछ ऐसी वस्तुयें हैं—शक्ति, गुण, आदर्श अथवा व्यक्ति कह कर उन्हें पुकारते हैं—जो एक अद्भुत और प्रभावकारी आकर्षण द्वारा हमारे स्वभाव, हमारे हृदय और हमारी बुद्धिके केन्द्रीय तन्तुओं में हलचल कर देती हैं। और तब अपनी स्वस्थतर घड़ियों में एक निरन्तर चाहना हममें जग आती है, कि उन्हें हम जानें, उन्हें प्रेम करें उनमें अधिकाधिक रूप में तादात्म्य कर लें। और हम बराबर इस कोशिश में रहते हैं कि जो कुछ भी तुच्छ, अनावश्यक, असुन्दर और अपवित्र दीखता है उसमें मुक्ति पा लें।

वे लोग, जिनका अन्तःकरण भिन्न है, इस केन्द्रीय आकर्षण को बहुत कुछ मानव-कला की कृतियों में या वैज्ञानिक प्रक्रिया की सूक्ष्म संगतियों में पायेंगे। मैं उन अनेकों में से एक हूँ, जिन्हें उनका दर्शन व्यक्तित्व की अनिर्वचनीय विस्मय कारिता और सौन्दर्य में होता है, कि जिनकी कल्पना उनकी जीवनगत संपूर्णता में उन श्रेष्ठ और सुन्दरतम नर-नारियों द्वारा होती है जो कि देह-रूप में अथवा पुस्तकों में हमारी दृष्टि की राह से गुजरते हैं और या उसी व्यक्तिरूप विस्मय और सौन्दर्य की एक अकथनीय भावना द्वारा, जोकि हममें आकाश, धरती और चेतन जगत में प्रत्यक्ष प्रकृति से उस समय भर जाती है जब कि उस प्रकृति की ओर हमारी मनोभावनाओं में एक शांतिप्रद समन्वय हो जाता है। और अपने उच्चतम अनुभव के इन दो केन्द्रों से मैं अनिवार्यतः उस आस्था में खिंच आता हूँ, जिसे हम परमात्मा कहते हैं, यानी एक उस अनन्त इन्द्रियातीत और फिर भी एकदम इन्द्रियान्तर्गत और सर्वोच्च कल्याणकारी सत् की परीक्षा और खोज के प्रयोग में, जोकि जीवन और सौन्दर्य के उन समस्त पृथक् जीवन-केन्द्रों का एक साथ आदि और अन्त है जो कि मेरे भीतर और मेरे चारों ओर मुक्ति और अभिव्यक्ति की चेष्टा में रत है।

साथ ही, दुःख है कि विकृति और विभेद के वे तमोमय और नाशकारी तत्त्व मुझे उतने ही अवगत रहते हैं जो कि अपनी दुष्क्रिया से स्वस्थ जीवन के विकास में बाधक बना करते हैं। कुछेक हद तक ये विकारी शक्तियाँ बाह्य-प्रकृति में मौजूद रहती मालूम होती हैं; किन्तु जिस हद तक भी मानव की साहसी आत्मा प्रकृति की विपरीतता पर काबू पाने और उसे व्यर्थ करने में आश्चर्यकारी क्षमता से युक्त हैं, वे (विकारी शक्तियाँ) आज मनुष्यों के हृदयों में, और खासतौर से मेरे हृदय में, कहीं अधिक खतरनाक हैं। बिना सहारे में भी अत्यधिक बार आस्था खो बैठता हूँ और इन दुष्प्रवृत्तियों की आसुरी शक्ति के आगे निस्सहाय होते-होते बचता हूँ। और तब सहायता और रक्षा के लिए किसी दूसरे व्यक्तित्व से, वह मानवी हो अथवा दैवी आत्मा का निकटतर संग पाने को प्रवृत्त होना पड़ता है।

सौभाग्य से मैं उस सम्प्रदाय में पैदा हुआ और पला हूं जहां भूत और वर्त्तमान दोनों ने मिलकर ईसा मसीह की ऐतिहासिक मूर्त्ति को मुझे उस अगाध चित्-सत्ता के सर्वोच्च अवतार-रूप में साक्षात् कराया, जो कि शिव और सुन्दर मात्र के हृदय में विराजती दीखती है। चिनन ने, प्रार्थना ने, और एक और भी शक्तिमयी उस परम्परा के प्रभावों ने, जो कि पुरातन की विवेकशीलता से पवित्र हुई, और अब, जैसा कि शायद पहले कभी भी नहीं, विपरीत जमा हुई मलिनताओं से विशुद्ध हुई है—मुझे विश्वस्त कर दिया है कि यह इतिहास-गण्य व्यक्ति विश्व और विश्व-पति के हृदय में वह स्थान ग्रहण किये हुए है जो कि अन्य किसी भी मानव-मूर्त्ति या दैवी अवतार की पहुंच के बाहर है। उसी आत्मा का अन्य मानव-प्राणियों में भी कुछ कम किन्तु फिर भी गौरवमय-गरिमासहित अधिवास है। अनेक उनमें वे हैं, जिनकी स्मृति का पीछे अब कोई भी उल्लेख नहीं रह गया है और कुछ उनमें ऐसी आत्मायें हैं कि जिनकी यादगार को अपने जातीय इतिहास के उज्ज्वल जग-मगाते रत्नों के रूप में सुरक्षित रखा गया है। उनके आभामण्डल पर एक थोड़े से काले चिह्न भले ही मिल जाँय, लेकिन इनसे उनकी कल्याणमयता धुंधली नहीं हो पाती। मैं इन सबको शाश्वत ईसा के दूतों या पैगम्बरों के रूप में देखता हूँ। भले ही उनमें से कुछ ने ईसा को अपना प्रभु और परमात्मा न माना हो या न मान पाये हों।

इतिहास के इन महान् पथ-प्रदर्शकों में, मेरे विचार में मोहनदास करमचंद गांधी एक ऐसे हैं जो सभी युगों के सर्वश्रेष्ठों में गिने जा सकते हैं और जो अहिंसा-

सत्याग्रह का पैगाम लेकर आये हैं। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि वे हमारे युग के सबसे बड़े व्यक्ति हैं। यद्यपि इस युग में अनेक नई और सुन्दर बातों की खोज हो चुकी है, परन्तु फिर भी, प्राचीन विश्वास और सदाचार के ह्रास से, मशीन के अत्याचार से, तथा पूंजीवाद और सैन्यवाद द्वारा विज्ञान के दुरुपयोग से, आज ऐसा संकट उपस्थित हो गया है, जैसा संसार में और कभी नहीं हुआ। इतना ही नहीं, आज तो यह भी प्रतीत होता है कि अनीति और स्वार्थ से सनी हुई मानव-इच्छायें तथा वासनायें युद्ध के द्वारा जिस विश्वव्यापी अव्यवस्था और संहार की सृष्टि कर रही है, उससे सारी मानव-सभ्यता अथवा (क्योंकि यह शब्द कुछ अस्पष्ट है) व्यवस्था, करुणा और विद्या से युक्त सारी मानव-जाति ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी।

मैंने इस लेख में यह समझाने की कोशिश की है कि गांधी के महान् और अत्यन्त सम्बद्ध अहिंसा और सत्याग्रह के आदर्श ही केवल वे उपाय जान पड़ते है जिनसे हमारी छिन्न-विच्छिन्न और रुग्ण अवस्था को मुक्ति तथा स्वस्थ और सच्चा जीवन प्राप्त हो सकता है। और ऐसा करते समय, साथ-ही-साथ मुझे यूरोपीय विचार-शृंखला के गत इतिहास में आये इन आदर्शों के उल्लेखों पर भी नजर डालते जाना है, क्योंकि अधिकतर आँखों से ओझल और प्रायः ईसाई संस्कृति के नेताओं द्वारा तिरस्कृत और उपेक्षित रहकर भी वे अभी कायम हैं। (भारत और चीन में अहिसा का जो इतिहास रहा, उसके बारे में लिखने का मैं अधिकारी नहीं हूँ।)

उस यूरोप के मध्य में, जो आज ध्वंस और विनाश के लिए तलवारों से भी कही अधिक भयंकर असंख्य साधन जुटाने में तेजी के साथ संलग्न है, जर्मन प्रदेश सीलीसिया है। वहाँ गौरलिज नामक एक प्राचीन नगर है, जो अब आधुनिक साज-सज्जा से सज्जित है। यहाँ एक प्रमुख सड़क पर जहाँ कि मोटरों की आवाज से वायु गूंजा करती है, एक महान् किन्तु अल्पख्याति ईसाई जेकब बोहमे के सम्मान में एक प्रस्तर-मूर्ति कोई पन्द्रह वर्ष हुए स्थापित की गई थी। इस मूर्ति के निचले भाग में स्वयं उस ईसाई सत्पुरुष के आस्था और चेतावनी भरे शब्द खुदे हुए हैं—"प्रेम और विनय ही हमारी तलवार है"; "जिसके द्वारा ईसा के काँटों के ताज की छाया में हम लड़ सकते है।" इन शब्दों से उस उद्धरण की पूर्ति हो जाती है जिसे कि उस वृद्ध रहस्यवादी संत ने वहाँ अंकित किया है। और बोहमे वह संत थे जिन्होंने ईश्वर-सत्ता के प्रति अपनी आस्था के अर्थ अनेक विपदायें सहीं। इस आस्था ही के द्वारा

मानव का उद्धार हो सकता है, यह घोषणा करने के अपराध में वह घर से निकाल दिये गये थे। यूरोपीय इतिहास, निश्चय ही अन्य अनेक विनयी, प्रेमी और निर्भीक नर-नारियों की कथाओं से भरा है जिन्होंने कि उसी, यानी अहिंसा के, सन्देश को अपने जीवन में निभाया है और देश की सामाजिक और राष्ट्रीय प्रवृत्तियों में अधिकांश को अहिंसा के विपरीत जाते देखा है। लेकिन वास्तव में बहुत ही कम उस बल, साहस और प्रेरणा का संचय कर पाये जिससे मौजूदा व्यवस्था के निर्वाण और समाज के पुर्ननिमाण के लिये वे अपने देशवासियों को विश्व-प्रेम का उपदेश प्रभु-सन्देश के रूप में खोलकर सुना सकते। अब तक परलोकवाद के अतिरंजन की परम्परा होने के कारण, ऐसे आत्म-ज्ञानी व्यक्ति लगभग हमेशा यह समझ कर खामोश हो जाते रहे कि दुनिया की व्यवस्था का विनाश तो विधि द्वारा ही निश्चित है, और इसलिए वे दोनों सुधार के बस की बातें नहीं हैं।

आखिर अब, जब कि यूरोप, जिसका कुछ भाग फिर भी ईसाई होने का दावा कर रहा है, अन्य समस्त 'सभ्य' जातियों के साथ एक साथ एक आत्मघातक युद्ध की ओर भी जी-जान से बढ़ रहा है, साम्प्रदायिक और धार्मिक झगड़ों से बुरी तरह छिन्न-विछिन्न भारत मे एक छोटे से पतले-दुबले हिन्दू का उदय हुआ है। वह पहले वकील भी रह चुका है। अब वह हजारों स्त्री पुरुषों को सत्य और न्याय के नाम पर एक बिल्कुल नये किस्म की लड़ाई के लिये भरती होने को प्रेरित कर सकता है। यह एक ऐसी लड़ाई है, जिसके सैनिक विनाशकारी यंत्रों के गंदे स्पर्श से एकदम अलग बचे रहने की कोशिश करते हैं। यह एक लड़ाई है जिसके लड़ने के लिए है निर्दोश आत्म-शक्ति और अहिंसा, निर्दय शत्रुओं के भी साथ दिखाई गई सद्वृत्ति, और ईश्वर के समक्ष निष्ठापूर्ण विनय। हां मै कहूँगा, यह लड़ाई है, जो खुशी-खुशी ईसा का काँटों का ताज और उसकी सूली का दर्द अपनाकर इस दृढ़ आस्था से लड़ी जाती है कि यह वह सूली और काँटों का ताज है जिससे पीड़ित और पीड़ा देनेवाले दोनों सुधरकर ईश्वर तक पहुँच सकेंगे। भारतीय पाठक मुझे क्षमा करेंगे कि मैं स्वभाव वश ईसाईधर्म की भाषा पर उतर आता हूँ। लेकिन मैं हिन्दू-धर्म की हृदय से प्रसंशा करता हूँ कि जिसने अहिंसा के पैगम्बर को जन्म दिया है।

जहाँ आज इस दुनिया में चारों ओर भय और अन्धकार छाया हुआ है, वह एक स्वप्न है, इतना सुन्दर कि वह सच हो आया होगा। पर यदि विश्वसनीय साथियों की बातों पर विश्वास करें, और विश्वास कर सकते हैं तो आश्वासन की

सूचना है कि एक जीवन और स्फूर्ति देनेवाले जिन-आन्दोलन के प्रथम प्रयोग आरम्भ हो गये हैं—अब तक उसमें असफलतायें और भूल-चूक (नेता और उसके अनुयायियों द्वारा) हुई हैं, यह जुदा बात है। पिछले कुछ महीनों में महात्मा (आमतौर से इसी पद से भारत में उन्हें विभूषित किया जाता है और वह स्वयं इसे ग्रहण करने मे इनकार करते हैं) ने स्वयं एक बार फिर पिछली असफलता और निराशा की अनुभूति को निःसंकोच स्वीकार किया है, लेकिन फिर भी भविष्य में अपना अडिग विश्वास प्रगट किया है। "ईश्वर ने मुझे", वह लिखते हैं, "इस कार्य के लिए चुना है कि मैं भारत को उसकी अपनी अनेक विकृतियों से निवृति पाने के लिए अहिंसा का अस्त्र भेंट करूँ।....अहिंसा में मेरी निष्ठा अब भी उतनी ही दृढ़ है जितनी कभी थी। मुझे पक्का विश्वास है कि इससे न सिर्फ हमारे अपने देश ही की सब समस्यायें हल होंगी, बल्कि इससे, यदि उपयोग ठीक हुआ, तो वह रक्तपात भी रुक जायगा जो कि भारत के बाहर हो रहा है और पाश्चात्य जगत् को उलट देना चाहता है।"

जरा खयाल तो कीजिये एक उस लोकव्यापी और देशभक्ति से ओतप्रोत आन्दोलन का, उन लोगों में, जो कि आक्रांत विदेशी लोगों के शासनाधीन हैं और जहाँ मालूम होता है सहस्त्रों ने आनन्द-मग्न और विश्वस्त-भाव से नीचे लिखे वचनों को अपने कर्म का आधार-सूत्र स्वीकार किया है। ये वचन उनके उस महान् नेता की लेखनी अथवा मुख से निकले लिये गए हैं।[1]

"अहिंसा का अर्थ अधिक-से-अधिक प्रेम है। अहिंसा ही परम धर्म है; केवल उसी के बल पर मानव-जाति की रक्षा हो सकती है।"

"वह जो अहिंसा में विश्वास रखता है, जीवन-रूप परमात्मा में विश्वास करता है।"

"अहिंसा शब्दों द्वारा नहीं सिखाई जा सकती। हृदय से प्रार्थना करने पर ही वह प्रभु की कृपा से अन्तःकरण में जगती है।"

"अहिंसा जो सबसे वीर हैं, और बलिष्ठ हैं, उनका शस्त्र है। ईश्वर के सच्चे जन में तलवार चलाने की शक्ति होती है, लेकिन वह चलायेगा नहीं, क्योंकि वह जानता है कि हरेक आदमी ईश्वर का प्रतिरूप है।"

---

१. कुछेक स्थानों में मैंने गांधीजी के अलग-अलग वचनों को, जैसे कि वे गांधीजी द्वारा स्वयं अथवा भिन्न लेखकों द्वारा प्राप्त हुए थे, संक्षिप्त कर दिया है या जोड़ दिया है।

"यदि रक्त बहाया जाय, तो वह हमारा रक्त हो। बिना मारे चुपचाप मरने का साहस जुटाना है।"

"प्रेम दूसरों को नहीं जलाता है, वह स्वयं जलता है, खुशी-खुशी कष्ट सहते मृत्यु तक का आलिंगन करता है। किसी एक अंग्रेज की भी देह को वह मन, वचन, या कर्म से, जान-बूझकर क्षति नहीं पहुँचायेगा।"

"भारत को अपने विजेताओं पर प्रेम से विजय पानी होगी। हमारे लिए देशभक्ति और मानव-प्रेम एक ही चीज है। भारत की सेवा के प्रयोजन से मैं इंग्लैंड या जर्मनी को नुकसान न पहुँचाऊँगा।"

"अहिंसा और सत्य अभिन्न है। एक का ध्यान करो तो दूसरा पहले ही आ जाता है।"

"सत्य से परे और कोई ईश्वर नहीं है। सत्य ही सर्वप्रथम खोजने की वस्तु है।"

"स्वयं ईश्वर द्वारा संचालित हमारे पवित्र युद्ध में कोई ऐसे भेद नहीं हैं जिन्हें गुप्त रखने की चेष्टा की जाय, चालाकी की कोई गुंजाइश नहीं है, असत्य को कोई स्थान नहीं है। सब कुछ शत्रु के सामने खुलेआम किया जाता है।"

"सत्याग्रह के लिए आवश्यकता है कि शुद्धि के लिए प्रार्थना करके ऐन्द्रिक और अहंगत समस्त वासनाओं पर काबू पाया जाय।"

"एक-एक पग पर सत्याग्रही अपने विरोधी की आवश्यकताओं का खयाल करने के लिए बाध्य है। वह उसके साथ सदा विनम्र और शिष्ट रहेगा यद्यपि सत्य के विरुद्ध जानेवाली उसकी बात या हुक्म को वह नहीं मानेगा।"

"सत्याग्रही न्याय के रास्ते से नहीं डिगेगा। पर वह सदैव शांति के लिए उत्सुक रहता है। दूसरों में उसको अत्यन्त निष्ठा है, अत्यन्त धैर्य है और अमित आशा है।"

"मानव-प्रकृति तत्त्वतः एक है और इसलिए अन्यायकारी (अन्त में) प्रेम के प्रभाव से अछूता रह नहीं सकता।"

"धरती पर कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो शान्ति-प्रिय क्रत-संकल्प और ईश्वर-भीरु जनों के आगे ठहर सके। संसार के समस्त शस्त्र-भंडारों के मुकाबले भी अहिंसा अधिक शक्तिशाली है।"

"जो ईश्वर से डरता है, उसे मृत्यु से कोई भय नहीं।"

"रण-क्षेत्रवाली वीरता तो हमारे लिए संभव नहीं। लेकिन निर्भीकता बिलकुल

जरूरी है। शरीर के चोट खाने का डर, रोग या मृत्यु का डर, धनसंपदा परिवार अथवा ख्याति से वंचित होने का डर, आदि सब डर छोड़ देने होंगे। कोई वस्तु दुनिया में हमारी नहीं है।"

"अहिंसा के लिए सच्ची विनम्रता चाहिए, क्योंकि 'अहं' पर नहीं, केवल ईश्वर पर निर्भर होने का नाम अहिंसा है।"

असल में, जिस हद तक दुनिया की सम्पदा का अनुचित हिस्सा बटोर कर आराम मे बैठे हुए हैं, या अपने साथी जनों को शोषित करने या उनपर शासन चलाने में सन्तोष का अनुभव करते हैं, वहाँ तक भले ही हमें ऊपर के जैसे सिद्धान्तों को अपने नित्य-जीवन में लाने में डर लगता हो; लेकिन सद्‌भावना-भरे उन सब स्त्री-पुरुषों को, जो मानव और ईश्वर में और आत्मानन्द के जगत की वास्तविकता में निष्ठा रखकर जीवन बिताने की चेष्टा करते है, अवश्य ही एक ऐसे आन्दोलन में आह्लाद मिलना चाहिए, जिसने, बावजूद अपनी सब भूल-चूकों के, मानव-इतिहास मे पहले-पहल अपनी पताकाओं पर विशुद्ध जीवन-स्फूर्ति देनेवाले ऐसे उपदेश-वचन अंकित किये हैं।

खासतौर से ध्यान देने योग्य बात यह है कि कम-से-कम दो ऐसे अवसरों पर, जहाँ कि सविनय-अवज्ञा के रूप में सत्याग्रह-आन्दोलन ने एक अपर्याप्त रूप से शिक्षित जनता में भयावह उत्तेजना का ऐसा वातावरण पैदा कर दिया था, जिससे नौबत हिंसात्मक कार्यो तक पहुँच गई थी, भारत के इस नेता ने एक नितान्त असाधारण साहस का परिचय दिया। अपनी 'हिमालय-जैसी भूल' को उसने कबूल किया और आन्दोलन को एकदम बन्द कर दिया, यद्यपि उसके बहुत-से अनुगामियों को बुरा लगा और उन्हे रोष भी हुआ। इसके अतिरिक्त हिंसा और अत्याचार की बुराई का प्रतिरोध करने के लिए गाँधीजी का जो कार्यक्रम है, उसीसे अभिन्न रूप में जुड़े हुए और विविध कार्यक्रम है जिनमे प्रगट होता है कि "जो सबसे दीन हैं, नीचे गिरे हैं, कहीं के नहीं रहे हैं", और खासतौर से जो भारत के 'अछूत' बने दर-दर मिलते हैं उन सबमे सत्याग्रही किस बैचैनी के साथ मिल कर एक हो जाने को उत्सुक रहता है।

पिछली कुछ शताब्दियों में पश्चिम के तौर-तरीके और विचार-संस्कारों ने फैल कर पृथ्वी के अधिकांश भाग को आच्छादित कर लिया है। पर उस समाज में ईसा के सुन्दर आदर्शो का बहुत-से-बहुत उपयोग है तो वह अंशमात्र। यह सच है कि उस संस्कृति के प्रभाव से जीवन को स्फूर्ति मिली है, अभागों और पीड़ित

जनों को न्याय, दया और सहायता का कुछ-कुछ भाग प्राप्त हुआ है, सचाई और ईमानदारी को बल भी मिला है, और एक बहुत बड़ी संख्या को भोग-प्रधान जड़वाद के दलदलों से उबरने का मौका भी मिल सका है। लेकिन इन क्षेत्रों में भी उस पद्धति की सफलता अत्यन्त सीमित हो कर रह गई है। उधर ईसाई आदर्श तो, जैसा कि हम जानते हैं, बेकारी, व्यावसायिक प्रतियोगिता, और युद्ध की मुसीबतों को दूर करने में अकृतकार्य ही हुआ है। वजह यह है कि लगभग सब ईसाई, यहाँ तक कि अतिशय धार्मिक जन भी 'सुरक्षितता' के मोह में रहे हैं और उन्होंने अपना विश्वास अनात्म में और जड़ता में और संचित सम्पदा में अटका लिया है। शान्तिरक्षा के निमित्त ध्वंसकारी शस्त्रों में उनका विश्वास है, ईश्वर में और ईश्वरदत्त और आत्म-शक्ति में आस्था उन्हें नहीं रही है। हम ईश्वर और लक्ष्मी दोनों की साधना करना चाहते हैं। हम अपने को बेशुमार ऐसे सामान से घिरा रखते हैं जो प्रायः अज्ञान और अनिच्छुक मजूरों और आत्मा का हनन करने वाली मशीनों द्वारा बना होता है। हम अपने नौजवानों को मार-काट और ध्वंस की शिक्षा पाने की प्रेरणा देते हैं, और यह सब इसलिए कि अपराधियों और भूखों के हमलों से हम बचे रहें। पर हमारे लालच और स्वार्थ से भग्गा और भूखा रहने को लाचार होकर अन्त में अपराधी हो उतरता है।

ईसा ने अपनी महान उपदेश-वाणी में, और इससे भी अधिक स्वयं अपने जीवन और मृत्यु के दृष्टान्त द्वारा, हमेशा के लिए इस झूठी सभ्यता की चिकित्सा बतादी है। वह स्त्री और पुरुषों का आह्वान करते हैं कि वे सीखें कि किस प्रकार जीवन की सादगी और स्वस्थ-कर दीनता से (पतनकारी लाचार दीनता से नहीं) संतुष्ट रहना चाहिए, और किस प्रकार अन्य सभी से ऊपर परमात्मा, आत्मानन्द, और जीवन-मोक्ष को महत्व देना चाहिए। वह कहते हैं कि सब मानव-प्राणियों से एकता प्राप्त करो। और एक दूषित आत्मा का मुकाबिला अजेय धैर्य और प्रेम से करो। इस विश्वास से विचलित न होओ कि अन्यायी भी न्यायी बन सकता है। और निष्ठा प्राप्त करो कि बलपूर्वक किसी का हिंसात्मक प्रतिरोध करने के बजाय स्वयं कष्ट सहोगे और इसमें जाने देने को तैयार रहोगे। बुरों को भलों में बदल देने की यही परमात्मा की रीति है।

आदि से, ईसा के कुछ थोड़े ही अनुयायियों ने बुराई का मुकाबला करने का यह तरीका पूरे तौर पर समझा मालूम होता है। यह हमारा दुर्भाग्य है। और तो

और, बाइबिल में भी जहां इसकी व्याख्या है, वहां पुरानी दण्डभावना का भी आवरण चढ़ गया है। कम-से-कम कुछ लेखकों ने तो उस पवित्र पुस्तक में विचारों की कल्पना की है कि कोप और दण्ड की तलवार चलाना ईश्वर का और राज्य का—यानी नास्तिक राज्य का—अधिकार-सिद्ध कर्म है; हा व्यक्ति-रूप मे एक ईसाई को बुराई का जवाब बुराई से नही देना चाहिए। कुछ अस्वाभाविक नहीं था कि ईसाई धर्म-शासन (चर्च) ने भी इस धारणा को अपनाया। और फिर उस जहर को ईसाई लोक-शासन में भी प्रविष्ट कर दिया। खासतौर से यह मूल धारणा कि, ईश्वर के पुत्र मसीह ने एक नित्यवर्ती नरक की सत्ता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, ईसाई विचार पर कलंक की तरह विद्यमान है। ऐसे विश्वास को लेकर 'क्रॉस' (आत्म-यज्ञ) के अर्थ के पूरे महत्व को पाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

सम्पूर्ण मानव के रूप में मसीह के व्यक्तित्व के प्रति आत्यंतिक भक्ति (और भक्ति उचित है यदि, और मै मानता हूँ कि अवश्य, ईसा लोकोत्तर पुरुष थे) यहां तक कि गूढ़ आराधना और प्रेमरूप ईश्वर के प्रति तन्मयता भी ईसाई मत के सन्तों को मानव-समाज के प्रति उस ईश्वर के यथार्थ आदेश को प्रकट करने में असफल रही। निस्सन्देह, उनमें अनेक ने सच्ची अहिंसा का आचरण किया। लेकिन ईसाइयत के किसी बड़े नेता ने मनुष्य-जाति के उद्धार के लिए अहिंसा को अकेला एक कारगर उपाय नही बताया। पीछे सन्तजन हुए जिन्होंने प्रयत्न किये कि ईसाइयत सामाजिक हिंसा से छूटे। पर जान पड़ता है कि ये भी ऐसे ईश्वर के रूप मे श्रद्धा रखते रहे जिसमें क्रोध और दण्ड की भावना को स्थान है। उनका विश्वास ऐसे ईश्वर में मालूम होता है कि जो हमारे युद्धों का पुरस्कर्ता है और जिसने जीवन-काल में प्रायश्चित्त न हो सकने वाले पाप-भोग के लिए अनन्त नरक-यातना का विधान किया है। जहाँ तहाँ विचारक और साधु-सन्त लोग यदि हुए भी है तो उनकी आवाज अरण्य-रोदन की तरह अनसुनी रह गई है। उनपर ध्यान नही दिया और उन्हें गलत समझा गया है। आखिर मानवता की परम आवश्यकता की घड़ी में लियो टाल्स्टॉय का उदय हुआ। युवावस्था में उन्हीं से मैने प्रकाश पाया है और उनकी कथाकार की धन्य-शक्ति का मै कृतज्ञ हूं। उनके लेखों से लोगों में अपने सम्बन्ध में तर्क-वितर्क पैदा होता है। वही फिर फल लाता है। टाल्स्टॉय के पश्चात् महात्मा गांधी हमारे समक्ष है। उन्होने, ईसामसीह के शिक्षा-स्रोत से टाल्स्टॉय ने जो उन शिक्षाओं का स्पष्टीकरण किया, उससे तथा पवित्र हिन्दू-शास्त्रों से प्रेरित होकर

अहिंसा का सन्देश ग्रहण किया और जीवन के हर विभाग में उसका उपयोग किया है और उसको ऐसे तर्क-सिद्ध आकर्षक रूप में सामने रक्खा है कि हजारों पिपासु-आत्माओं की तृप्ति होती है। उस सन्देश में हृदय पर अधिकार करने का बड़ा बल है और वह विज्ञान-युक्त भी है।[1]

ईसाई-साधु-सन्तों के सदृश गांधीजी को भी ईश्वर निश्चय-पूर्वक नीतिवान और व्यक्तिवत् रूप में प्रतीत होता है। यह तो है ही कि ईश्वर अपौरुषेय है। यहाँ दोनों की मान्यताओं में मैं कोई भेद नहीं देखता। न तो पुनर्जन्म का हिन्दू-विश्वास उनके व्यावहारिक उपदेश पर कोई ऐसा प्रभाव डालता दीखता है, जिस पर किसी भी तरह एक ईसाई को आपत्ति हो सके। और गांधीजी के लेखों में कहीं इस प्रकार का संकेत मुझे नहीं मिला कि ईश्वर में, पुरुष-रूप, वह क्रोध की किसी भावना या दण्ड के किसी कार्य की गुंजाइश देखते हों। यह तो धन-तृष्णा है, मनुष्य का अहंकार और स्वार्थ है जिसका, दण्ड मनुष्य स्वयं भोगता है और नष्ट होता है। गांधीजी कहते हैं, "ईश्वर प्रेम है।" वह तो सहिष्णुता का अवतार है।" उसका तन्त्र ऐसा सम्पूर्ण प्रजातन्त्र है कि उसकी दुनिया में समानता नहीं हो सकती।" पाप-फल और कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या में गांधीजी निर्गुण-निराकार ईश्वर के तत्त्व को मानते मालूम होते हैं। बोहेम और लॉ और कुछ अन्य आधुनिक विचारकों ने कर्म में ही फल-शान्ति मानी है। वह शायद संत पॉल की मान्यता थी। गांधीजी भी उसके बिल्कुल समीप है। गांधीजी के आदेश में जो एक अगम्य निष्ठा है उससे

---

१. यहाँ स्मरण दिलाना अच्छा होगा कि दक्षिण अफ्रीका की अपनी पहली सार्वजनिक अहिंसक प्रवृत्ति के आरम्भ में गांधीजी अपने को टाल्स्टॉय का शिष्य मानते थे। अपनी सब प्रवृत्तियों का विवरण लिखकर गांधीजी ने टाल्स्टॉय को भेजा था। सन् १९०३ में (अपनी मृत्यु से कोई सात वर्ष पहले) टॉल्स्टॉय ने जवाब में एक लम्बा पत्र दिया। वह पत्र बड़े काम का है। उसके अन्त में जो वाक्य थे, वे भविष्य-वाणी जैसे लगते हैं। लिखा था "दुनिया के इस दूसरे छोर पर रहने वाले हमलावरों को मालूम होता है कि वहाँ ट्रान्सवाल में जो काम कर रहे हैं वह बहुत ही आवश्यक काम है। दुनिया में जितने काम किये जा रहे हैं, उन सबमें महत्वपूर्ण आपका काम है। उसमें ईसाई देश ही नहीं, बल्कि दुनियाके सब देश भाग लिये बिना बच नहीं सकेंगे।"

पापीमात्र के निरन्तर और अनिवार्य उदार के तत्त्व का और ईश्वर के साथ मनुष्य जाति की वास्तविक एकता के तत्त्व का भी प्रतिपादन होता है। "आत्मा सब की एक है. . . . मैं इस तरह पापी-से-पापी के कर्म से अपने आपको अलग नहीं करता. . . . मेरे प्रयोग (अर्थात् सत्याग्रह) में इसलिए तमाम मनुष्य-जाति का सवाल आ जाता है।"[1]

पर दूसरी ओर यह कोई अचरज की बात न होगी यदि मेरे समान एक पश्चिम देश के ईसाई को गांधीजी के समूचे कार्यक्रम में सहमति न हो सके। उदाहरण के लिए, विवाह के सम्बन्ध में उनके विचार अहिंसा से संगत न मालूम होकर आत्यन्तिक काया-दमन के लगते है। उनकी स्वदेशी की धारणा और शुद्ध हिन्दू राष्ट्रीयता भी यथार्थ सनातनी अथवा ईसाई अहिंसा-सत्याग्रह की प्रकृति से असंगत और विभिन्न या विपरीत भी जान पड़ती है। पर दिन-पर-दिन यह हममें से अधिकाधिक पर प्रकट होता जाता है, जैसे कि एक भारतीय मिशनरी ने कहा है, "सत्याग्रह जैसा कि गांधीजी बतलाते और आचरण में लाते हैं, अथवा उनके सच्चे अनुयायी जीवन में जिसे उतारते हैं, वह ईसाई-धर्म की मूल शिक्षा से एकदम अभिन्न है। वह बुराई को प्रेम से जीतने और स्वेच्छा से स्वीकार की गई और प्रीति के साथ बरदाश्त की गई वेदना के बल से पाप को धर्म में परिवर्तित कर देनेवाले शाश्वत सिद्धान्त 'क्रॉस' यानी आत्म-आहुति और आत्म-यज्ञ का दूसरा रूप है।"

ईसाइयों को इस बात का तो सामना करना ही होगा कि जाहिरा तौर पर उनके सम्प्रदाय का न होकर वह एक सनातनी (कट्टर) हिन्दू है। टाल्स्टॉय की ऐसी ही भिन्न स्थिति की भी कल्पना कीजिए जिसने कि क्रॉस के आहुति धर्म के सार को पाया है और समाज के लिए उसके परम महत्व को समझा है। वह है जो असलियत में ईसामसीह की दूसरों के पापों का प्रायश्चित करनेवाली और जीवनदायिनी मृत्यु के रहस्य को धारण कर सका है, और वह है कि उस सन्देश के प्रति अपनी तत्पर लगन और निष्ठा से हजारों आदमियों में वैसी ही त्याग की स्फूर्ति भर सका है। वह धन-तृष्णा को परास्त करता आया है और काया के विकारों में कभी फँस नहीं गया। मुझे विश्वास है कि जन्म और स्वभावगत हिन्दू-संस्कारों की बाधा न होती, तो ईसामसीह की शिक्षा का ऋण ही नहीं, बल्कि स्वयं ईसामसीह के जीवन के सर्वोच्च

---

१. सन् १९२४ में दिल्ली में उपवास के समय के गांधीजी के वचन।

आदर्श और उसका प्रेरक आत्मा को आज गांधी अपने सत्याग्रह के मूल में स्वीकार करते ।

जब सोचता हूँ कि मनुष्य-जाति के इतिहास पर सत्याग्रह का क्या प्रभाव पड़ेगा, क्या परिणाम इस सम्पर्क का होगा, तो कल्पना कुछ इस तरह की सम्भावनायें प्रस्तुत करती है। अधिनायक तंत्रवाले राष्ट्रों की रीति-नीतियाँ कैसी भी बुरी हों, लेकिन धार्मिक बुद्धि के लिए तो परिस्थिति के दो पहलू विचारणीय हैं। एक तरफ प्रजातन्त्र कहे जानेवाले पश्चिम के राष्ट्र हैं। सभ्यता, संस्कृति या धर्म के विषय में यही देश अगुआ हैं। पर ये दुनिया की जो बहुत-सी जमीन, माल और साधन अपनाये बैठे हैं, उसमें और मुल्कों के साथ बराबरी का बॅंटवारा करने को वे तैयार नहीं हैं। उधर खुलकर जोर की आवाज के साथ यही देश ऐलान करते हैं कि उनके पास जो कुछ भी धन-जन-साधन उपलब्ध हैं, उन सबको लड़ाई में झोंक देने को वे तैयार हैं। आधुनिक लड़ाई का रूप कल्पना में न लाया जाय तो ही अच्छा है। उसके ध्वंस की तुलना नहीं हो सकती। और यह युद्ध होगा किसलिए? इसलिए कि आसपास के जो भूखे देश लूट में अपना भी हिस्सा माँगते है उन्हे दूर ठिकाने ही रक्खा जाय। धन-दौलत और अधिकार के पीछे बेतहाशा आपाधापी और होड़ाहोड़ लगी है। तिसपर उस वृत्ति में आ मिली है बुद्धि की चतुरता। आदमी का दिमाग बेहद बढ़ गया है। प्रकृति की शक्ति और मनुष्यों के संगठनको काबू में करके अब वह बहुत कुछ कर सकता है। नतीजा यह हुआ है कि भारी शक्ति बटोरकर लोग उन आसुरी वृत्तियों को पोस रहे हैं। ऐसे क्या होगा? होगा यही कि सारी दुनिया में डिक्टेटरशाहियों या कि अन्य तन्त्र-शाहियों के गुट्ट लोक-तृष्णा और शक्ति-संचय की प्यास में आपस में घमासान मचायेंगे और प्रजातन्त्र नामवाले देश भी उन अन्य तन्त्र-शाहियों की ताकत का मुकाबला ताकत से करेंगे। इस तरह मुसीबत और बढ़ेगी ही। त्रास बढ़ेगा, दैन्य बढ़ेगा। लोभ और आतंक का दौर-दौरा होगा। क्योंकि आज की-सी लड़ाई की भीषणता के बीच या' तो यह है कि प्रजातन्त्र राष्ट्र दुश्मनों की ज्यादा मजबूत हिंसा-शक्ति के आगे हारकर नष्ट हों या फिर अपने ही अन्दर सैनिक वर्ग और वृत्ति-प्रधानता बढ़ते जाने के कारण, आवश्यकता के बोझ से स्वयं अपने में ही डिक्टेटरशाही उपजाकर उसके हाथ पड़कर नष्ट हों।"

उसके बाद फिर तो विश्वव्यापी पैमाने पर पुराने रोम-शाही के खुले दौर का समय होगा ही। दया और धर्म की पूछ तब नहीं होगी। पर जैसा कि सशस्त्र

विरोध के मिटने के बाद, रोम-राज्य भी धीरे-धीरे उदार और निष्पक्ष होने लगा था, वैसे ही दुनिया की यह एकच्छत्रता, स्वेच्छाचारी और जड़वादी रहते हुए किसी कदर कम सख्ती की ओर एवं एक निरंकुश की बुजुर्गगाही की ओर झुकेगी।

पर फिर भी हजारों लाखों स्त्री-पुरुष होंगे जो निरंकुशता के हाथों बिकेंगे नहीं न उसके मूक साधन बनेंगे। उनका इन्कार दृढ़ रहकर बढ़ता और फैलता ही जायगा कष्टों से पवित्र, शनैः-शनैः ऐसे बहुत संख्या में समुदाय होते जायंगे। ईसाई उसमें होंगे, बौद्ध, हिन्दू, मुसलमान या अन्य धार्मिक वर्ग होंगे। ये समूह आपस में पास खिचेंगे और इकट्ठे बनते जायंगे। वे सहिष्णु होंगे और रह-रहकर उनपर अत्याचार टूटेगा। (ईसाई होने के नाते यह विश्वास मुझे है कि अन्त में जाकर ईसा के सच्चे अपरिग्रह-धर्म के ही किसी स्वरूप की विश्वव्यापी विजय होगी, चाहे फिर उसमें सदियाँ ही क्यों न लग जांय।) ये सब समुदाय सरकारी अत्याचार या जनता के अनाचार के प्रतिकार का जो उपाय करेंगे, वह अहिंसा-सत्याग्रह ही होगा अधिक संगठित, अधिक व्यापक, अधिक अनुशासित, तेजोमय और विमल। पर भविष्य का वह प्रौढ़ आन्दोलन होगा इसी शिशु समर्थरूप में, जिसे हमारे इस युग में गांधीजी ने जन्म दिया है। और आगामी संतति के लोग गांधीजी की तरफ और उसमें भी पीछे टाल्सटॉय की तरफ इस नवयुग के स्रष्टा के रूप में देखेंगे। कुछ काल तो अवश्य निरंकुश विश्व के नियंता अधिनायकजन, अपना बाह्य शत्रु न देखकर लोकमत का, खासतौर पर नई पीढ़ी को अपनी ही तरह की शिक्षा से छा देंगे और सदा के लिए अजेय दिखाई देने लगेंगे। लेकिन आदमी के अन्दर की दिव्यात्मा को इसप्रकार दफनाकर कबतक रक्खा जा सकता है। अन्ततः शासक-वर्ग की शक्ति अंदर से धीमे, पर निश्चित रूप में क्षीण और खोखली होती जायगी। बुराई में, अव्वल तो, स्वयं ही अनिवार्य नाश का बीज होता है, जो बढ़ता रहता है। और यदि सद्भावना वाले लोग पथ-भ्रांत और अधीर हिंसा का आश्रय लेकर उसे न छेड़ें तो वह नाश और भी शीघ्र आजाय। यानी उस शासन-शक्ति के प्रतिस्पर्द्धी दलों में फूट पैदा होने लग जायगी। दल बढ़ते जायंगे और घरेलू युद्ध-कलह मच जायगा। इन लड़ाइयों में असहयोगवाली सत्याग्रह-भावना के व्यापक प्रचार के कारण लड़ानेवालों को बरसों गुजर जानेपर उनकी लड़ाई लड़ने के लिए इस दुनिया से कम-से-कम लोग हथियार बनकर मरने को राजी मिलेंगे आखिर इस धर्तीपर लाखों की संख्या में ऐसे स्त्री-पुरुष तैयार हो जायंगे, जो सब

कुछ सह लेंगे, पर हिंसा, अन्याय और धन-तृष्णा के हाथों अनुचित अस्त्र बनने को राजी न होंगे।

साथ ही, यह विश्वास और आशा करने के लिए मजबूत कारण है कि सद्भावना का प्रभाव सत्याग्रहियों के संघों मे फूट-फूट कर शनैः-शनैः शासकों और उनके अनुयाइयों की छावनियों में छाता जायगा। यह प्रभाव कोरी निषेधात्मक भावना का नहीं होगा, बल्कि सूक्ष्म प्रेम का बल उसमें होगा। उस ईश्वर की निष्ठा का उसे बल होगा, जो ईसा में मूर्तिमान हुआ, या कहो, बुद्ध अथवा कृष्ण में मूर्तिमान हुआ; वही ईश्वर स्वयं उनका नेता और त्राता होगा। वास्तव में वही सत्य होगा। वही प्रेम होगा। वह प्रेम का अधिष्ठाता प्रभु होगा और सब के हृदय में स्वर्ग का राज होगा। इस प्रकार शासक लोग भी उन्नति करते-करते इस विषम संघर्ष के परिणामस्वरूप अधिकाधिक मनुष्योचित व्यवहार के योग्य बनेंगे और शासन शांति के भले के लिए सत्याग्रहियों की उपयोगिता पहचानकर उन्हें स्वराज्य और स्वकर्म की अधिकाधिक स्वतंत्रता देंगे। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में इस स्वतंत्रता का अभिप्राय होगा कि धर्म-संघ स्वावलम्बी होंगे और मशीन के विकारी प्रभाव से बचे रहेंगे। वही मशीनें रक्खी जायंगी और रह पायेंगी जो मनुष्य के सम्पूर्ण विकास और पशु अथवा जन्तु-जगत् के भी सौन्दर्य और सुख के विरुद्ध न होंगी। सत्याग्रही-धर्म-संघों में अधिक-से-अधिक संख्या में लोग खिचकर आयेंगे, यहाँ तक कि संसार के अंगभूत बड़े-बड़े साम्राज्यों के अन्दर ऐसे सत्याग्रहियों का बहुमत होता चलेगा। वे सत्याग्रह की शक्ति में इतना पर्याप्त विश्वास रक्खेंगे कि कहें कि शासन-सत्ता का मूलाधार वही सिद्धांत हो सकता है। उसके बाद तो छुट-पुट सनकी या झक्की-से ही लोगों के दल शेष रह जायंगे। उनके हाथों अधिकार भी कुछ न होगा। पर वे भी फिर स्वयं ही इन्द्रियसुख या तृष्णागत कर्म के चक्कर से ऊब चलेंगे। क्योंकि सब ओर उन्हें ऐसे लोगों का समाज मिलेगा जो बिना धैर्य खोये, न किसी प्रकार का आवेश लाये, सब सह लेंगे और किसी तरह का बदला लेने से इन्कार कर देंगे। वह समय होगा कि देवदूत ईसा के ये वचन पूरे होंगे कि "धन्य हैं वे जो नम्र (शांत, अथवा अहिंसक) है; क्योंकि वे धरती पर राज करेंगे।" राज्य!—नरलोक, सुरलोक, दोनों का राज्य!

बस, यहां आकर कल्पना हार बैठती है। आप कह सकते हैं कि यह तो आदर्श की बात हुई। पास से चित्र देखने से निराशा होती है, दूर रखकर देखने से ही आशा होती है। पर बुरी-से-बुरी सम्भावना और भली-से-भली आशा का सामना करने

की आदत रखना उपयोगी होता है। हो सकता है कि विधाता की ओर से कोई अभूतपूर्व, संकट आ पहुँचे जिसमें मानव-जाति ही का ध्वंस हो जाय कौन जानता है ! पर यदि ऐसा नहीं है, और इस धरती पर यदि एक दिन शांति और न्याय का साम्राज्य स्थापित होना ही है, तब तो निश्चय ही रास्ते में कुछ विघ्न-बाधाओं के मिलने की हमें आशा रखनी ही चाहिये। ईश्वर का काम अचूक है, पर वह जल्दी का नहीं होता। और मनुष्य के भीतर का विकार भी नष्ट होने में शीघ्रता नहीं करता दीखता। पर यदि, और जब, इस धरती पर राम-राज आयेगा तथा आदमी और आदमी के (गांधीजी तो कहेंगे कि आदमी और पशु के भी) बीच द्वेष और कलह की, कम-से-कम बाहरी, सम्भावना तो मिट ही जायगी, उस समय यह आशंका कृपाकर कोई न करे कि जिन्दगी यह वीरान और सुनसान जंगल की तरह हो जायगी; दिलचस्पी की बात कोई न रहेगी और सब ऊबने जैसा हो जायगा। नही, हम विश्वास रख सकते है कि चैतन्य की असीम सृजन-शक्ति चुप नहीं बैठा करती और उसकी गति और प्रवृत्ति के लिए सदा असीम अवकाश रहा ही चला जायगा। ईश्वर की रचना में तो अतोल भेद और अनन्त रहस्य भरा पड़ा है। आदमी की चेष्टा उसके अनुसंधान में बढ़ती ही जा सकती हैं। और यही होगा। पर तब प्रेरणा प्रीति की होगी और कर्म यज्ञार्थ होगा। वही प्रेरणा और वैसा ही कर्म है, चाहे वह स्वल्प और अविकसित रूप में ही क्यों न हो, जो हिन्दुस्तान की जनता को इस समय उभार दे रहा है।

आनेवाले साल संकट और अन्धकार से भरे हो सकते हैं। पर वे ही प्रकाश और आनन्द से भी भरे होंगे। इन पंक्तियों का लेखक कृतज्ञता के साथ यहां स्मरण करना चाहता है कि कैसे चालीस बरस पहले लियो टॉल्सटाय के स्फूर्तिमय वचनों को पढ़कर उसने युद्ध-प्रतिकार और स्वेच्छा से वरण किये हुए दैन्य-दारिद्रय के आदर्श में हिचकिचाहट के साथ कुछ प्रयोग शुरू किये थे। फलस्वरूप काफी दिन जेल की कोठरी का भी उसे अनुभव हुआ। भला होता यदि उसके प्रयत्न बाद में भी उस दिशा में जारी रहे होते। आज तो वह इच्छा-ही-इच्छा है। तो भी उस भारतीय महापुरुष के प्रति, जिसे उस रूसी महर्षि का आज स्थानापन्न कहना चाहिए, श्रद्धांजलि भेंट करने के अवसर के लिए यह लेखक परम कृतज्ञ है।

हाल ही में स्वर्गवासी हुए कवि यीट्स ने कहा है कि "मेरी कवि-वाणी चिर-नवीन है।" यीट्स का कहना सच ही था। पर यह और भी सच है कि श्रम जर्जर, आयु-जीर्ण, मोहनदास गांधी के होठों से प्रस्फुटित हुआ आत्म-शक्ति का सन्देश

सदा अजर-अमर है। वह नित-नवीन है --पेंतालीस वर्ष पहले जब वह अध्यात्म-पुरुष पहले-पहले सत्य के साहसपूर्ण प्रयोग कर रहा था, उस समय से भी आज वह नवीन है। क्योंकि क्या आयु के वर्षो के साथ-साथ वह पुरुष भी क्रम-क्रम से अजर-यौवन और दिव्य-नम्र उस सत्-शक्ति के स्रोत ईश्वर मे अभिन्न ही नही होता जा रहा है ? उस चिदानन्द चैतन्य के साथ उत्तरोत्तर एकाकारता क्या उसे नही प्राप्त हो रही है, जहां मृत्यु द्वारा जीवन का वरण किया जाता है ? हो सकता है कि ईसाई होने के कारण या समाज-दर्शन की ओर से वस्तु-विचार करने की आदत की वजह से हम पश्चिमी ईसाई उनकी दृष्टि की स्पष्टता पर मर्यादायें भी देख पाते हों ! पर यह तो असंदिग्ध है कि गांधी हमारे युग के महात्मा है। वह मुक्त मानवता के अवतार है, नवजाग्रत समाज के और विश्व के भविष्य के वह अग्रदूत है। और भावी विश्व का वह रूप अब और इस समय भी हमारे बीच जन्म-काल में है। बस, यदि हम ही अपना कर्तव्य निभाना जान लेते !

अस्तु, हम जो ईसामसीह की छाया के नीचे खड़े हैं, भक्ति-भाव से उस पुरुष-श्रेष्ठ को प्रणाम करते है। उसके सत्याग्रह-संघ के सच्चे सदस्यों को भी हमारा प्रणाम हो ! उन्हीं की भांति हम भी ईश्वर की अमरपुरी के, अपनी स्वप्नपुरी के, नम्र नागरिक है।

: २५ :

ब्रिटिश कामनवेल्थ को गांधीजी की देन

ए० बेरीडेल कीथ

हममें से कुछ के लिए महात्मा गांधी के जीवन की विशेषता इसीमें है कि वह ऐसे संसार में जो अपने व्यवहारिक कार्य में आदर्श पर अमल करने का विरोधी है आदर्शवाद के पथ पर चलते हुए अनिवार्यरूप से सामने असंख्य कठिनाइयों के होते हुए भी आदर्श की प्राप्ति के लिए किये गये दृढ़ तथा निरन्तर प्रयत्नों का द्योतक है। दक्षिण अफ्रीका में मानवीय व्यक्तित्व का मूल्य मनवाने के लिए उन्होंने जो सेवायें की है, उनको ब्रिटिश कामनवेल्थ के इतिहास में अवश्य ही प्रमुख स्थान मिलेगा। दक्षिण अफ्रीका के अफ्रीकन भाषा-भाषी लोगों का सिद्धान्त ही यह था

कि क्या धर्म और क्या राजनीति, दोनों में गैर-यूरोपियनों के साथ समानता का बर्ताव नहीं किया जा सकता। वहाँ भी गांधीने इस सिद्धान्त पर आग्रह किया कि मनुष्य-मनुष्य समान हैं और जाति या वर्ण के आधार पर किया गया कृत्रिम भेद युक्ति-विरुद्ध और अनैतिक है। उन्होंने वहां भारतीयों की स्थिति में भारी सुधार किया और दक्षिण अफ्रीका में उनकी स्थिति को समस्या को एक नई रोशनी में रखा। इस काम में जिन विरोधी शक्तियों का उन्हें सामना करना पड़ा, उनके बल की ठीक कल्पना होने पर ही हम समझ सकते हैं कि उनका उक्त काम उनकी सफलताओं में सर्वोपरि था। यह बड़े दुःख की बात है कि उनके वहांसे चले आने के बाद वह संकीर्णतासूचक वर्ण-भेद फिर से वहां हो गया है। लेकिन जब से महात्माजी ने भारतीयों में आत्मसम्मान की भावना भरी और इस बिचार का निषेध किया कि अपने बड़प्पन के लिए एक मनुष्य या मनुष्य-समाज द्वारा दूसरों का शोषण करने में बुराई नहीं, तबसे वहांके भारतीयों की विरोध करने की शक्ति बहुत बढ़ गई है। कुछ समय के लिए यह आदर्श दबा रह सकता है; पर यह खयाल नहीं किया जा सकता कि वह बिलकुल ही मिट जायगा। केनिया और जंजीबार में भी उनके सिद्धान्तों का अच्छा परिणाम हुआ और उनकी वजह से वहाँ के अंग्रेजों ने इंग्लैण्ड में अपने प्रभाव से भारतीय हितों का उचित ध्यान रक्खे बिना इन स्थानों का शासन खुद हथिया लेने का जो प्रयत्न किया था, उसका असर कम हो गया। महात्माजी के प्रयत्न भारतीय हितों तक ही सीमित नहीं रहे। जिन सिद्धान्तों का उन्होंने प्रचार किया, वे अफ्रीकन लोगों के भविष्य पर भी मानव रूप से लागू होते हैं। उन्होंने कभी इस बात का समर्थन नहीं किया कि भारतीयों को अपनी ऐतिहासिक संस्कृति और सभ्यता के आधार पर केवल अपने समानाधिकार का दावा करके सन्तुष्ट हो जाना चाहिए और अफ्रीका के मूल निवासियों को कमीना समझने और दास-वृत्ति के योग्य मानने में यूरोपियनों का साथ देना चाहिये।

भारत में उन्होंने इसी सिद्धान्त की शिक्षा दी कि भारतीय भी मनुष्य-मनुष्य सब समान हैं। इसको किसी यूरोपीय से घटकर न माने। इस प्रकार उन्होंने अपने उन भारतीय साथियों के लिए कुछ धर्म-संकट जरूर पैदा कर दिया, जिनके धर्म-ग्रन्थों में—अन्य सब देशों के पुराने धर्म-ग्रन्थों के समान ही—मनुष्य-मनुष्य में असमानता पर ईश्वरीय स्वीकृति की छाप लगा दी गई है। परन्तु उन्होंने भारतीयों का आत्म-शासन का अधिकार स्वीकार करने में युक्तिरूप से जो सबसे बड़ी अड़चन पेश की जाती थी उसका अन्त कर दिया। यह अड़चन यह थी कि नीची

श्रेणी के समझे जानेवाले लोगों का हित इस बात में नहीं है कि उनका भाग्य उन लोगों के हाथों सौंपा जाय जिनके लिए ऐतरेय ब्राह्मण में कुछ लोगों को शेष मनुष्य-समाज का सेवक होने और आवश्यकता पड़ने पर घरों से बाहर कर दिये जाने और मार डाले जाने तक का विधान किया गया है। महात्माजी ने अछूतों का जो पक्ष लिया और उससे हिन्दू-धर्म के सबसे अच्छे सिद्धान्तों को बढ़ावा देने में जो सफलता मिली, ये सब बातें उनके चरित्र की विशेषतायें हैं और कालान्तर में उनके चरित्र का सबसे प्रमुख अंग रहेंगी। ऐतिहासिक विकास के महत्वपूर्ण क्षणों का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को इन बातों से शुद्ध सन्तोष मिलेगा।

सरकार के साथ अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्त का इतिहास तो बड़ा विवाद-ग्रस्त है। साधारण मनुष्य की प्रकृति से जो आशा की जा सकती है, इस सिद्धान्त पर अमल के लिए उससे कुछ अधिक योग्यता की आवश्यकता है, क्योंकि मनुष्य तो स्वभाव से ही लड़ाका है: और जिन लोगों ने अहिंसा के सिद्धान्त के प्रचार का बीड़ा उठाया, वे खुद अपनी आदि भावनाओं के शिकार हो गए। फिर भी इतिहास बतलाता है, और इससे कोई इनकार नहीं कर सकता कि न जाने किस अगम्य मनोवैज्ञानिक कारण से ब्रिटिश सरकार जिन मांगों की निरे युक्ति-बल द्वारा पेश किये जाने पर उपेक्षा करती रही, उन्हींको उसने तब झट स्वीकार कर लिया जब उन्हें मनवाने के लिए उसके शासन में अड़चन खड़ी कर दी गई। अतः यदि महात्माजी ने ऐसी नीति अपनाई जिसमें हिंसात्मक कार्यों का खतरा था और जिनको अमल में लाने पर वास्तव में ऐसा हुआ भी, तो भी यह मानना पड़ेगा कि वह उन ध्येयों को केवल इसी प्रकार प्राप्त कर सकते थे जिन्हें वह भारत के लिए प्राणप्रद समझते थे। भारत के प्रान्तों में प्रान्तीय स्वराज्य पर जो अमल हो रहा है, वह ब्रिटिश कामनवेल्थ के इतिहास की अत्यन्त विशिष्ट घटनाओं में से एक है। और यद्यपि जीवित और दिवंगत महापुरुषों में से और कइयों को भी इसका श्रेय है, पर महात्माजी के समान किसी दूसरे को नहीं। यह वस्तुतः उनका एक स्थायी स्मारक है। संस्कृत-साहित्य की यह अद्वितीय विशेषता है कि वह ऐसे अर्थपूर्ण श्लोकों से भरा पड़ा है, जिन्हें इस देव-भाषा को पढ़नेवाला प्रत्येक विद्यार्थी बचपन में ही याद कर लेता है। मालूम होता है कि ऐसा ही एक श्लोक बालक गांधी के मन पर अंकित हो गया था, क्योंकि यह श्लोक उस आदर्श को प्रकट करता है, जिसे पूरा करने के लिए उन्होंने अपना सारा जीवन निछावर कर दिया श्लोक यहहै :—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

(यह हमारा है और वह पराया, ऐसा खयाल तो छोटे दिल के लोग किया करते हैं; उदार-चरित व्यक्ति तो सारी दुनिया को ही अपना कुटुम्ब मानते हैं ।)

: २६ :

विश्व-इतिहास में गाधीजी का स्थान

काउण्ट हरमन काइज़रलिंग

हम ऐसे बड़े जबर्दस्त और चक्करदार संघर्षों के युग में रह रहे हैं जो मानव-इतिहास में शायद ही पहले कभी हुए हों। काल और दूरी पर विजय पा लेने से अब एक-दूसरे से अलग होने का विचार ही भ्रमपूर्ण जान पड़ता है। गत महायुद्ध से पूर्व संसार के सभी देशों में सचमुच अल्पसंख्यकों का, चाहे उन्होंने किसी सिद्धान्त का दावा क्यों न किया हो, राज्य था। परन्तु आज इसके विपरीत जनता जागी है, अथवा यों कहें कि सभी जगह बहुसंख्यकों के हाथ राजनैतिक और सामाजिक शक्ति आई है, जिससे वह जबर्दस्त शक्ति बन गई है; बल्कि बहुसंख्यक आज के युग का एक खास गुण बन गया है। जिस प्रकार विद्युत-शक्ति विद्युत की दो विरोधी धाराओं (पॉजिटिव और निगेटिव) की आवश्यक सहचारिता द्वारा व्यक्त होती है (जहाँ कि एक ध्रुव को प्रेरित ही नहीं, बल्कि पैदा भी करता है) उसी प्रकार जीवन भी उन परस्पर-विरोधी और संघर्षशील शक्तियों का सतत-अस्थिर सन्तुलन है, जिनमें से बहुत-सी ध्रुवत्व गुणवाली हैं। इसलिए ऊपर जिन परिवर्तनों की रूपरेखा बनाई गई है, उन्होंने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जहाँ मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक धरातल पर अश्रुतपूर्व शक्तियों वाली धारायें एक-दूसरे के साथ मिलकर काम करती हैं। जितनी अधिक-से-अधिक शक्तिशाली विद्युद्धाराओं की हम कल्पना कर सकते हों उनसे इन धाराओं की तुलना की जा सकती है। संसार के खास-खास आन्दोलनों के साथ जो निश्चित विचार जोड़े गए हैं, उनका तो कुछ महत्व ही नहीं है और वे हमेशा भ्रम में डालनेवाले होते हैं। इसकी वजह पहली तो यह है कि उनमें से हरेक को बनाने वाले उपादान इतने अधिक

होते हैं कि वे सब उस नाम के अन्तर्गत नहीं आते। दूसरे जैसा कि समस्त इतिहास बतलाता है, एक आन्दोलन के 'नाम और रूप' के पीछे जो वास्तविक शक्ति रहती है वह कालान्तर में इतनी बदल जाती है कि वह उस नाम-रूप से बिल्कुल भिन्न हो जाती है। बहुधा देखा गया है कि एक आन्दोलन खास उद्देश्य को लेकर चला। वह कालान्तर में जैसे जीवन प्रगति करता गया, किसी दूसरे रूप में ही बदल गया। इसलिए आज जितने संसार-व्यापी आन्दोलन चल रहे हैं और उनके लिए जो नाम रक्खे गए हैं, मैं उनको ठीक नहीं मानता। संसार का कोई राष्ट्र जो प्रजातंत्र या समाजवाद स्वतंत्रता या अनीश्वरता के नाम पर लड़ाई छेड़ता है, उस समय जो कुछ वह कहता है उसका वही मतलब नहीं होता जिसका कि वह दावा करता है। वास्तव में तो सब-के-सब अंधेरे में उस उद्देश्य के लिए जो उन्हे अभी तक मालूम नहीं हैं, भटकते फिर रहें हैं। उस उद्देश्य की आखिरी रूप-रेखा उसी समय मालूम होगी जब कि वे न केवल गर्भावस्था (जिसमें कि हरेक इस समय है) से बाहर ही जांय, बल्कि उसके बाद काफी बढ़ भी जाँय । आज मनुष्य जिन उद्देश्यों और ध्येयों के लिए लड़ रहे हैं, उनमें से कोई भी अन्तिम विजय प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि संसार इस समय संघर्ष के विशाल क्षेत्रों में, भयंकर शक्ति के केन्द्रों में बैठा हुआ है। संघर्ष के विस्फोट के अनन्तर जो कुछ बचे उसका एकानुरूप समन्वय ही अधिक स्थिर सन्तुलन पैदा कर सकता है। परन्तु यह समन्वय बड़ी दूर की बात है और उस तक पहुंचना बड़ा कठिन है।

इसके साथ ही एक कठिनाई और भी है, जिस पर विचार करना है, और वह यह कि यह बात आसानी से नहीं कही जा सकती कि इस समय जो बड़ी-बड़ी शक्तियाँ काम कर रही हैं उनमें से कौन सी देर तक टिकी रहेगी और कौन सी शक्ति, जिसका इस समय अस्तित्व भी नहीं है, संसारव्यापी शक्ति बन उठेगी लेकिन अगर हम यहां पर दो सिद्धान्तों को समझ लें, जिनकी महत्ता को अभीतक शायद ही समझा गया है तो वे हमें एक अधिक सच्ची भविष्य वाणी करने में सहायक हो सकेंगे। इनमें से पहला सिद्धान्त तो प्राचीन चीन की देन है। इसके अनुसार प्रत्येक ऐतिहासिक घटना स्थूल व प्रत्यक्ष रूप में घटित होने के पच्चीस वर्ष पूर्व ही घटित हो जाती है। कल्पना यह है कि आज के बच्चे, न कि आज के वयस्क पुरुष, पच्चीस साल में दुनिया पर राज्य करेंगे, अतः उस भविष्य के रूप का अनुमान बच्चों के जीवन और भावना का ठीक अन्दाजा लगाकर कर सकते हैं। दूसरा

सिद्धान्त है ध्रुव-नियम का सिद्धान्त (लॉ ऑव पोलेरिटी)।[१] इसके अनुसार प्रत्येक क्रियाशील शक्ति (यदि हम इसे ज्योतिष की भाषा कहें तो) ध्रुवत्व गुणवाली विरोधी शक्ति के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। इसी प्रकार एक दृढ़ सिद्धान्त, अपनी दृढ़ता व शक्ति के कारण, एक विरोधी सिद्धान्त पैदा करता और उसे बल देता है।

एक आन्दोलन एक ही दिशा में जितने जोरों से चलेगा, उतनी ही तेजी से उसकी विरोधी दिशा में आन्दोलन होने की सम्भावनायें हैं। मेरे विचार में केवल इसी दृष्टि से संभावना के साथ महात्मा गांधी की ऐतिहासिक महत्ता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस विशाल दृष्टि से तो उनकी महत्ता वास्तव में बहुत बड़ी मालूम होती है। पहले कोई भी युग हिंसा से इतना ओत-प्रोत नहीं था जितना कि आज का हमारा युग है। क्योंकि आज सभी गोरी जातियोंवाले देशों के बहुसंख्यक जन किसी-न-किसी प्रकार हिंसा के पक्ष में हैं। इसी प्रकार काली जातियोंवाले देशों के बहुसंख्यक भी इसके पक्ष में हैं। इस सबको देखते हुए यह निश्चित ही है कि बल-प्रयोग से क्रांति करनेवाला यह आंदोलन उस समय तक समाप्त नहीं होगा जब तक कि वह इस संबंध में इन सभी अवसरों व सम्भावित उपायों का प्रयोग न कर लें। पृथ्वी के किसी-न-किसी भाग में अनेकों शताब्दियों तक लम्बी-लम्बी लड़ाइयाँ होंगी, संघर्ष-ही-संघर्ष होंगे। और क्योंकि ऐसा हो रहा है और होगा, इसीलिए अहिंसा के जाहिरा निषेधात्मक विचार द्वारा प्रेरित किया हुआ आन्दोलन प्राण-सदृश एवं ऐतिहासिक महत्ता प्राप्त कर सकता है, जो कि उसे इससे भिन्न परिस्थितियों में न तो मिलती और न अभी तक कभी मिली ही है। ऐसा इसलिए भी होगा, क्योंकि अहिंसा के आदर्श और उसके विरोधी आदर्श में जो ध्रुव-संघर्ष है, वह एक ओर ध्रुवत्व (Polarity) अथवा ध्रुव-संघर्ष का द्योतक है। वह है साध्य बनाम साध्य की अपेक्षा साधन की प्रमुखता। और मेरे विचार से यही दूसरा ध्रुवत्व महात्माजी को एक प्रतीक के रूप में अमर बनाता है, फिर चाहे वस्तु-स्थिति के धरातल पर उनके द्वारा आरम्भ किये गये आन्दोलन की सफलता कैसी ही क्यों न हो।

---

१. यह सिद्धान्त यह है कि एक भौतिक पदार्थ में दो विरोधी गुण होते हैं। जैसे कि चुम्बक लोहे में एक ओर को खींचने का गुण और दूसरे लोहे को पीछे धकेलने का गुण। अगर एक प्रकार के गुणवाले दो ध्रुव एक-दूसरे के पास लाये जांयगे तो वे एक-दूसरे को पीछे धकेलेंगे।

जेसुइट लोगों का सिद्धान्त है कि 'लक्ष्य पवित्र हो तो साधन सब उचित हैं।' (धर्माभिमानी पाश्चात्यों ने सचमुच ही 'रेड इण्डियनों' के साथ व्यवहार करने में इसी सिद्धान्त पर अमल किया था।) परन्तु जब तक यह सिद्धान्त चलता रहेगा उस समय तक संसार की स्थिति में वास्तविक एवं स्थाई रूप से सुधार होना दूर की बात है। विनाशकारी साधनों का प्रयोग बदलेमें प्रति-विनाशकारी साधनों को पैदा करेगा और इस तरह सिलसिले का अन्त न होगा। बुद्ध ने कहा ही है कि, "अगर द्वेष का जवाब द्वेष से ही दिया जाता रहेगा तो द्वेष का अन्त फिर कहाँ है?"

संसार में आज बल-प्रयोग और आक्रमण के द्वारा अपना प्रसार करने का ढंग चल रहा है। आज सभी शक्तिशाली जातियों ने उसी ढंग को अपना रक्खा है। और जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, अधिकाधिक जातियाँ उस ढंग में पड़ेंगी। महात्मा गांधी ही इसके विपरीत ध्रुव (counter-pole) अथवा विरोधी-धारा के जीवित प्रतीक हैं। जिस प्रकार शान्तीवादी चीन को आत्मरक्षा के लिए आक्रामक बनना पड़ा है उसी प्रकार भारत में भी, जहाँ कि और जातियों के साथ बहुत-सी लड़ाका और वीर जातियाँ भी रहती हैं, बहुत करके ऐसी ही घटनायें घटने की सम्भावना है। परन्तु महात्माजी तो पूर्वोक्त विरोधीध्रुव (अर्थात् अहिंसा) के सबसे स्पष्ट, महान्, विशुद्ध हृदय अव्यभिचारी प्रतीक रहेंगे। वास्तव में उस दिशा में भी अभीतक वह अकेले ही एक विशाल जन-आन्दोलन के प्रतिनिधि हैं। अहिंसा वास्तव में हिन्दुओं के सबसे प्राणभूत आदर्शों से मिलती-जुलती है; प्राणभूत इसलिए कि भारत के हृदय में इनकी गहरी जड़ जमी हुई है। व्यक्तिगत रूप से मेरी यह पक्की धारणा है कि महात्माजी एक दूसरे कारण से भी एक बड़े ऐतिहासिक महा-पुरुष होंगे। वह दो विभिन्न युगों के संधि-द्वार पर खड़े हैं। एक ओर तो वह भारतीय ऋषियों के पुराने आदर्श प्रतीक हैं और दूसरी ओर वह बिल्कुल आधुनिक जननायकों की श्रेणी में भी गणनीय हैं। इस सीमा तक तो उनका ऐतिहासिक महत्व जॉन बेपटिस्ट के समान ही है। एकांगी ऋषि का तो मेरी कल्पना में भावी मानव-समाज में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की संज्ञा देता हूँ। वैसा कोई विशेष भाग अब न हो सकेगा जैसा भूतकाल में था।[१] भविष्य का लक्षण होगा : धर्म का और तेज का समन्वय। शौर्य का नम्रता के साथ वरण।

---

१. लेखक की पुस्तक World in the making का दूसरा अध्याय देखिए।

मानव-समाज के भविष्य के उस पुरुष में पूर्णता होगी, आध्यात्मिक और भौतिक शक्तियों का उसमें समन्वित संतुलन होगा। और यदि कोई जीवित है जिसका भाग उस भविष्यत् के पूर्ण पुरुष के निर्माण और आह्वान में सबसे अधिक गिना जायगा तो वह महाव्यक्ति है, युग-संधि का अधिवासी गांधी।

: २७ :

जन्मोत्सव पर बधाई

जर्ज लेन्स री

संसार के प्रत्येक भाग के उन करोड़ों मनुष्यों का साथ देने में मुझे प्रसन्नता होती है, जो अक्तूबर १९३९ में महात्मा गांधी के मंगलमय जन्म-दिन के बारम्बार पुनरागमन की कामना कर रहे है।

उन्होंने एक बड़े आदर्श की तत्परता से सेवा के लिए अपना महान जीवन लगा दिया है। और अपने और भारत तथा संसार में अपने करोड़ों समर्थकों और मित्रों के जीवन द्वारा दिखला दिया है कि हरेक प्रकार की बुराई और पाप के विरुद्ध निष्क्रिय अहिंसात्मक प्रतिरोध में कितनी महती शक्ति है। जिस युग में उनका जन्म हुआ है उसमें उनसे अधिक लगन और निरन्तरता के साथ 'सत्य' का समर्थन करने वाला दूसरा कोई नही हुआ। हमारी यही कामना है कि वह पूर्व का ही नहीं, बल्कि संसार के हरेक भाग के स्त्री-पुरुषों का विश्व-शान्ति, विश्व-प्रेम सहयोग और सेवा की दिशा में नेतृत्व करते रहने के लिए युग-युग जीते रहें।

: २८ :

गाँधीजी की श्रद्धा और उनका प्रभाव

जान मैकमरे

पिछली सदी में एक अंग्रेज कवि ने यह तक लिखना उचित समझा कि—
"पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम; इन दोनों का मिलन कहां ?"

जिस समय ये पंक्तियाँ लिखी गई थीं उस समय ये ऐसा मत प्रकट करती थीं जिसपर गंभीरतापूर्वक चर्चा भी की जा सकती थी। आज तो यह मत निश्चितरूप से इतना अर्थ और तर्क-हीन है कि यह पद एक खासा मजाक बन गया है। मानव जाति के द्रुत-गति से एक इकट्ठे होते जाने में बहुत-कुछ वजह तो यातायात के साधनों का विकास है। इसके कारण इतनी सुगमता हो गई है कि एक देश के पुरुष को सब देशों के लोग आसानी से जान लेते हैं और वह सहज ही अंतर्राष्ट्रीय ख्याति का बन जाता है। स्वभावतः प्रश्न और विस्मय होता है कि इन आधुनिक ख्यातियों में कितनी समय की कसौटी पर ठहरेंगी और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त महापुरुषों में से कितने भावी पीढ़ी के मन और हृदय पर ऐतिहासिक महापुरुषों के रूप में अंकित रहेंगे ? शायद ही किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह बात निश्चित तौर पर कही जा सके। पर एक व्यक्ति ऐसा है जिसके बारे में इस सम्बन्ध में जरा-सी भी शंका करनी असम्भव है। वह व्यक्ति है महात्मा गांधी।

मनुष्य की महानता की दिशायें और दशायें अनेक हैं। पर बड़प्पन का स्थायित्व गहराई में है। इतिहास के महापुरुष वे व्यक्ति हैं जिनका संसार के लिए महत्व मानवीय व्यक्तित्व की गहराई से उत्पन्न होता है। ऐसे आदमी की एक खासियत यह मालूम होती है कि लोग उसका भिन्न-भिन्न और आपस में एक-दूसरे से मेल न खानेवाला अर्थ लगाते हैं। उदाहरण के लिए सुकरात की महत्ता इस बात से प्रकट होती है कि उसके मरने के एक सदी बाद यूनान में बहुत से दार्शनिक संप्रदाय पैदा हो गए, जिनमें आपस में एक-दूसरे से होड़ रहती थी और प्रत्येक सुकरात की सच्ची शिक्षाओं का यथावत् प्रचार करने का दावा करता था। ये महापुरुष, ध्यान देने की बात है, न तो पुस्तकों के लेखक होते हैं और न शब्द के साधारण अर्थ में, बड़े कामकाजी और कर्मठ ही होते हैं। पर इन दोनों क्षेत्रों में दूसरों के द्वारा इनका व्यक्तीकरण हुआ करता है। दूसरों से उनके व्यक्तित्व का जो संस्पर्श होता है वह स्वयं एक विधायक शक्ति होती है। उनका इस संसार में होना भर ही इस संसार को ऐसा बदल देता है कि वह फिर कभी लौटकर वैसा ही नहीं हो सकता। गांधीजी इसी प्रकार के व्यक्ति हैं। उनका प्रभाव लगभग सब उनके अपने व्यक्तित्व की परिपूर्णता पर अवलम्बित है। उसका प्रकाश दूसरों पर पड़नेवाले उनके असर में प्रकट होता हैं। वह प्रभाव दूसरे के दृष्टिकोण को बदल देता है। और उसकी अंतरंग मानवता, उसकी क्षमता और संभावना को गंभीर बनाता है। एक औलिया, एक राजनीतिज्ञ, एक शांतिवादी, एक प्रजातंत्रवादी, एक सामाजिक क्रांतिकारी,

तथा एक बड़े प्रतिक्रियावादी के से स्थितिपालक—चाहे जिस रूप में उन्हें देखा जा सकता है। उनके जीवन-कर्म के महत्व को अमुक पहलू से लेकर वही उन्हें कह देने में असमीचीन कुछ नहीं है। परन्तु इनमें कोई एक उनके प्रभाव के रहस्य को छूता हो, सो बात नहीं। उनका एक दूसरे से भिन्न होना ही यह सिद्ध करता है कि उनके प्रभाव की महत्ता उस धरातल से, जिसतक कि इस प्रकार का वर्गीकरण पहुंच सकता है, परे है।

महात्मा गांधी के लिए मेरे हृदय में जो आदर व सम्मान है वह उनके विचारों या नीति से सहमत या असहमत होने के कारण नहीं है। मेरे हृदय का आदर-सम्मान तो, बल्कि इस लिए है कि वह ऐसे व्यक्ति हैं कि सिद्धान्त अथवा कार्यक्रम-सम्बन्धी सहमति या असहमति के प्रश्न ही उनके सामने होकर बिल्कुल असंगत पड़ जाते हैं। संसार में वही एक पुरुष हैं जिन्होंने एक बार फिर साधुता और नीतिपरक सत्य-निष्ठा की शक्ति की विधायकता को एक बड़े पैमाने पर, संसार को खुली आँखों दिखा दिया है। उस युग में जब कि पश्चिमी सभ्यता भौतिक शक्ति में अपने विश्वास के कारण टुकड़े-टुकड़े हो रही है, उस युग में जिसमें कि मानवी एकता की भावना को लोग एक ऐसा आदर्श समझते हैं जो भौतिक शक्तियों के सामने शक्ति-हीन है, महात्माजी ने धन और शस्त्रों की संगठित शक्ति को हराने के लिए नैतिक शक्ति की टेक थाम ली है। अभी उनकी सफलता या असफलता का अनुमान लगाने का समय ही नहीं आया है। पर इस समय भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उन्होंने (नैतिक सिद्धान्तों में) अपने इसी विश्वास के बल पर छिन्न-भिन्न भारत को संगठित कर दिया; उस समय जबकि भारत के भाग्य का निर्णय करने का दावा करनेवाली सभ्यता के प्रतिनिधि उसके इसी विश्वास पर से अपनी श्रद्धा हट जाने के कारण छिन्न-भिन्न हो रहे थे। रूसो के आदर्श शासक के समान जो 'सत्ता न रखते हुए भी सत्तावान् हैं' उन्होंने जन-संकल्प को जाग्रत किया और भारत को राष्ट्र बनाया है। अपनी नैतिक साहस की सहज प्रतिभा द्वारा अपने देशवासियों के जनसामान्य में आत्म-सम्मान का भाव भर दिया है। उनमें अपनी मनुष्यता में विश्वास जगाया है। यह करके उन्होंने इतिहास की धारा को ही बदल दिया और मानव-जाति के एक बड़े भाग के भविष्य को निर्धारित कर दिया है।

: २९ :

योग-युक्त जीवन की आवश्यकता

डान साल्वेडोर डी० मेड्रियागा

मानव-जाति किसी दिन हमारे युग को ऐसे युग के रूप में देखेगी, जिसमें मानव-कलाओं में सबसे कठिन कला अर्थात् शासनकला (और मनुष्य द्वारा प्रतिपादित यह अन्तिम कला होगी) बर्बरता से ऊंची उठनी शुरू हुई। हमारी आँखों के सामने और हमारे पीछे राज्य-शासन की कला बर्बरता से परिपूर्ण है। अगर मुझे विरोधाभास की भाषा का प्रयोग करने दिया जाय तो मैं कहूँगा कि अभी तो लोगों में राज्य-शासन की कला का विचार ही नही बना है। शासनकला का उद्देश्य तो यह है कि समाज और व्यक्ति के जीवन की धाराओं में सन्तुलन और समत्व हो। शासन-कला का जो विचार इस समय लोगों के मन मे है वह एक अपूर्ण व अपरिपक्व विचार है।

आदि-जातियों की परम्परायें एवं प्रथायें, उनके मुखियाओं के अत्याचारी कार्य, एशिया के पुराने सामन्तों का गौरव, रोम के सम्राटों की नील-लोहित (अर्थात् कालिमा लिये हुए) प्रतिभा और रक्तमय आतंक, रोम के पोपों का वर देनेवाला और साथ ही छीन लेनेवाला हाथ, मध्ययुग के वीरतापूर्ण और जघन्य युद्ध, साम्राज्य-निर्माताओं और विजेताओं के साहस-पूर्ण और जघन्य साहसिक कार्य, आदेश से अनुमति और अनुमति से विवेक तक कानून का क्रमागत विकास, उद्योग-धन्धों के गृह-युद्ध और उनके हड़ताल और तालाबन्दी के उग्र और तैयार साधन जिनसे समाज के एक कोने में एक छोटे-से संघर्ष को हल करने में सारा समाज क्रियाहीन हो जाता है, राष्ट्रसंघ का उत्थान एवं प्रथम (पर अन्तिम नहीं) पतन, मार्क्सवाद का उत्थान एवं प्रथम (पर अन्तिम नहीं) पतन, यंत्र-रूप अत्याचार के प्रतीक फासिज्म एवं नाजीवाद का उद्भव—भविष्य की दृष्टि से देखने पर ये सब संघर्ष तथा अन्य अनेक जिन्हें दिमाग पकड़ नहीं सका है, मनुष्य-समाज की उसी चिर-समस्या को सुलझाने के लिए प्रस्तुत किये गए अस्थायी और जल्दी मिट जानेवाले स्वरूप हैं, जो काल (समय) और स्थान (विभिन्न देशों) की परिस्थितियों और निकट आवश्यकताओं के अनुसार बनाये गये हैं। वह समस्या है, मानव-समाज व मनुष्य की जीवन-धाराओं में सन्तुलन पैदा करने की।

मनुष्य अपनी त्वचा को अपने शरीर की सीमा समझ अपने को स्वशासित ही नहीं, बल्कि स्वतन्त्र प्राणी भी समझता है। पूर्वी देशों के निवासियों की अपेक्षा हम यूरोपियन इस भ्रम में ज्यादा पड़े हुए हैं। परन्तु सभी व्यक्ति कम या अधिक मात्रा में एवं किसी-न-किसी रूप में अपने को स्वतन्त्र घटक समझते हैं। परन्तु थोड़ा भी विचार यह बताने के लिए पर्याप्त है कि केवल शरीर-शास्त्र की दृष्टि से भी मनुष्य घूमने-फिरने या गमन करनेवाली प्रवृत्तियोंवाला वृक्ष[1] है, जिसने अपनी जड़ें और मिट्टी समेटकर अपने पेट में रख ली है ताकि वह चल फिर सके।

जिस प्रकार मूंगे की द्वीप-माला से अथवा मधु-मक्षिका की मक्खी के झुंड से पृथक् कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार शरीर-शास्त्र के दृष्टिकोण के अतिरिक्त अन्य किसी दृष्टिकोण से व्यक्ति की मनुष्य से (अधिक स्पष्ट शब्दों में मनुष्य की मानव-समाज से) अलग कल्पना ही नहीं की जा सकती। वास्तव में मनुष्य समाज या समूह का एक घटक (Unit) है।

परन्तु मुख्य प्रश्न (समस्या) तो यह है कि इस समाज या समूह के दुहेरे उद्देश्य या ध्येय हैं। (एक तो अपने ध्येय की प्राप्ति और साधना, दूसरा समाज के ध्येय व लक्ष्य की प्राप्ति और साधना) मधुमक्खियों में तो मधुमक्खियों का व्यक्तिगत ध्येय तथा उस कार्य में प्रवृत्त करनेवाली प्रेरक भावना मधुमक्खी के झुंड के ध्येय से पृथक् नहीं है; परन्तु हमारा विश्वास है (फिर चाहे वह ठीक हो या गलत, यह अलग और महत्त्वहीन बात है) कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत चरम ध्येय होता है। इसी कारण मनुष्य का जीवन सचमुच एक विराट समस्या बन जाता है। यदि हमें केवल समाज या समूह के हितों का विचार करना पड़े तो उसका हल यद्यपि कठिन अवश्य होगी, परन्तु वह समस्या, यों कहें कि, एकमुखी होगी। किन्तु जब समूह के हितों और ध्येयों के साथ हमें व्यक्ति के हितों और ध्येयों का भी ध्यान रखना पड़ता है तब तो हमारी कठिनाई वर्गाकार बढ़ जाती है।

संक्षेप में सामूहिक जीवन की समस्या की दो धारायें हैं—

व्यक्ति की धारा, जिसको वर्षों में बनायें तो वह ७० वर्ष की होगी।

---

१. कुछ पश्चिमी दार्शनिकों का मत है कि मनुष्य वास्तव में वृक्ष है। भेद केवल इतना ही है कि वृक्ष एक जगह स्थिर रहता है और चल-फिर नहीं सकता; परन्तु मनुष्य चल-फिर सकता है।

—अनुवादक

समाज या समूह की धारा जिसे शताब्दियों द्वारा ही मापा जा सकता है।

इसके साथ ही चरमध्येय ध्रुव भी दो हैं--

पहला तो व्यक्ति का जो अपने को ही अपना अन्तिम ध्येय समझता है; और है भी।

दूसरा समूह या समाज का, जो अपने में अपना अन्तिमध्येय मानता है।

इस व्यवस्था की उलझनें यहीं समाप्त नहीं हो जातीं क्योंकि इनके अतिरिक्त कुछ समूह और भी हैं जिनमें मनुष्य अंग हैं। इनमे से एक (यानी राष्ट्र) आज तो इतना जवर्दस्त हो गया है कि वह मनुष्य को कुचले डाल रहा है। राष्ट्र मानव-समुदाय का वह एकत्र रूप है जिसमें मनुष्यों को अधिक-से-अधिक प्राण-शक्ति मिली है। उसकी जीवन-धारा शताब्दियों में मापी जा सकती है। मानव समुदाय के जितने रूप हैं उनमें यह रूप (राष्ट्र) सबसे ज्यादा देर तक जीनेवाला (चिरायु) हो, सो नहीं है। चिरायु तो वस्तुतः मानव-जाति--इस पृथ्वी पर बसनेवाले सभी मनुष्यों का समाज--ही है। और क्योंकि यह (मानव जाति, सभी काल और सभी स्थानों में व्याप्त है,) अतः यही मनुष्य-समाज का सबसे सुस्पष्ट रूप है। इस प्रकार जीवन-धाराओं और चरम-ध्येयों की हमारी सरणी इस प्रकार बनती है:--

धारायें	चरम ध्येय
मनुष्य	मनुष्य
राष्ट्र-विशेष	राष्ट्र-विशेष
मानव-जाति	मानव-जाति

सारा इतिहास सन्तुलन के लिए इन दोनों का संघर्ष ही है। स्वतंत्रता की पताका के नीचे जितने गृह-युद्ध और क्रांतियां हुई वे मनुष्य की धारा या गति और उसके चरम-ध्येय में सन्तुलन प्राप्त करने के लिए हुई; तानाशाही (डिक्टेटरशिप) के झंडे के नीचे जो प्रतिक्रियायें और अत्याचार हो रहे हैं, वे राष्ट्र की गति और चरम-ध्येय में सन्तुलन के लिए, और अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध भी विभिन्न देशों के गति-प्रवाहों और ध्येयों में सन्तुलन के लिए ही हुये हैं। पर इन सब के साथ एक और संघर्ष निरन्तर और अनवरत चल रहा है। वह श्रेष्ठतर शान्ति प्राप्त करने और आध्यात्मिक अथवा भौतिक एकता अथवा दोनों को प्राप्त करने के लिए चल रहा है। यह मानव-समाज के गति-प्रवाह और ध्येय में सन्तुलन के लिए है।

अब प्रश्न यह है कि किसी भी युग की अपेक्षा आज यह संघर्ष ही सबसे विकट क्यों हो गया है ?

इसका उत्तर स्पष्टतः इस वस्तुस्थिति मे है कि यद्यपि हमारी सरणी की तीसरी वस्तु, यानी मानव-जाति इतिहास में पहले किसी भी समय की अपेक्षा आज के युग मे तीव्र गति से प्रमुख व महत्वपूर्ण स्थान पा गई है, पर (इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए) वह आध्यात्मिक मार्ग की अपेक्षा भौतिक मार्ग पर ही ज्यादा वेग से अग्रसर हुई है।

मानव-जाति ने पहले एकता और अपनी प्रगति के लिए आध्यात्मिक या धर्म का मार्ग ग्रहण किया; परन्तु उसका परिणाम भयंकर और विनाशकारी हुआ। धर्म के अत्यन्त पवित्र मन्त्रों (सिद्धान्तों) के विपर्यास से प्रत्येक स्थान मे धर्म के कारण संघर्ष, कलह, फूट और रक्तपात हुआ। तब मानव-जाति ने स्वतन्त्र विचार और विवेक-बुद्धि द्वारा प्रत्येक प्रश्न का निर्णय कर लेने की पद्धति से, जिसे उन्नीसवी शताब्दी मे विज्ञान का धर्म भी कहा जाता था, अपने उद्देश्य तक पहुंचने का प्रयत्न किया। इस बार उसे पूरी सफलता मिली, परन्तु वह भी उतनी ही विनाशकारी थी।

पूरी सफलता इसलिए कि मानव-जाति ने प्रकृति की शक्तियों पर आश्चर्य-जनक विजय प्राप्त करने और वैज्ञानिक सत्य की रक्षा के लिए एकता के अन्य सब आदर्शो का (यहाँ धार्मिक आदर्शो की ओर निर्देश है) परित्याग करके मानव-जाति की एकता प्राप्त की। मानव-जाति इतनी सर्वव्यापक पहले कभी नही थी, जितनी कि वह आज है। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम भाग में वैज्ञानिक आविष्कारों की लहर के साथ उसकी संख्या अंकगणित के परिणाम से बढ़ी; पर आजकल तो वह वस्तुतः ही बढ़ गई है; क्योंकि आवागमन की इतनी अधिक शक्ति उसे प्राप्त है कि वह अपने को सर्वव्यापक अनुभव कर सकती है। संख्या और गमन-गति में वृद्धि से घनता भी बढ़ी है। आज मानव-समाज का शरीर बहुत विस्तृत हो गया है; साथ ही उसमे एकता की भावना और चेतनता भी बढ़ी है पर उतनी मात्रा में नहीं।

और यह उन्नति विनाशकारी इसलिए हुई कि उक्त शृंखला के दूसरे दो अंगों, मनुष्य और राष्ट्र, ने इस परिवर्तन को स्वीकार नही किया। वे व्यक्ति और राष्ट्र अपने ही-अपने में चरम-ध्येय हैं, इसीकी चेतन अथवा अर्द्ध-चेतन भावना में वे बद्ध रहे, मानो उनका बृहद् मानव-जाति से कोई सम्बन्ध ही नहीं था।

यही कारण है कि मानव-जीवन के व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और सार्वलौकिक तीन रूपों में समन्वय सन्तुलन आज इतना कठिन हो रहा है। पर मानव-समाज के इतिहास में तो यह चिर समस्या है। जब कभी समाज में सन्तुलन के भंग होने की आशंका पैदा होती है, जिससे कि समाज के उपादानभूत एक या अन्य ध्येय खतरे में पड़ जांय, तब समाज में उस सन्तुलन को बनाये रखने के लिए बल-प्रयोग की प्रणाली चलती है। इस प्रकार अपने नैतिक आदर्श से भटककर मनुष्य ने जबर्दस्त समाज को, स्वस्थ समाज अथवा अधिक स्पष्ट शब्दों में, दमन करने, कुचलने तथा एकाधिकार जमानेवाले समाजको जबर्दस्त समाज समझने की भूल की। परन्तु यह स्पष्ट ही है कि समाज की उन्नति बल-प्रयोग के क्रमशः ह्रास में होती है। समाज पूर्णता की ओर उतना ही विकसित होता जाता है जितना उसके सुचारु संचालन में बल-प्रयोग और दबाव की मात्रा कम होती है।

अतः समाज के प्रति शल्य-प्रयोग मनुष्य-शरीर के प्रति शल्य-प्रयोग के समान एक कृत्रिम साधन है, जो तत्काल के लिए वह काम कर देता है जिसे रुग्णकाय की जीवनशक्ति स्वयं अन्दर से करने में असमर्थ है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह समस्या संतुलन के आधार पर ही हल की जा सकती है। और क्योंकि मनुष्य, राष्ट्र और मानव-समाज का परस्पर समन्वय-संतुलन ही निश्चित ध्येय है, अतः न तो उदारतावाद, न सत्तावाद (चाहे सत्ता साम्यवादी हो या फासिस्ट, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता) और न कोई विश्व-वाद ही अपने में इस समस्या को हल कर सकते हैं। मानव-जाति अपनी वर्तमान बर्बर-अवस्था से उस समय तक मुक्त न होगी जब तक कि संसार के अधिकांश देशों में अधिकांश व्यक्ति इस बात को अनुभव न कर लें कि हमारे उदारतावाद, हमारे साम्य-फासिस्ट-सत्तावाद और विश्ववाद, सबको एक उस विराट कल्पना में लीन हो जाना है जिसका मूल समस्त मानव-जाति के सजीव ऐक्य में होगा।

अतः आज की हमारी समस्या का सार और समाधान करने में कम और होने में अधिक है। प्रवृत्ति की न होकर वह सत् की है। कुछ-का-कुछ करें, यह जरूरी नहीं है। स्वयं हम कुछ-के-कुछ हो जावें, जरूरी यह है। यदि हमें संसार को बदलना है---और यह बदलेगा अवश्य, अन्यथा यह और इसके साथ हम भी समाप्त हो जायंगे---तो हमें इसी प्रकार से स्वयं विकास आरम्भ करना होगा।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक तो यह कि मनुष्य-समाज के प्रमुख पुरुषों के मन में इस विकास की धारा स्पष्ट हो और उन्हें इसका

ज्ञान हो। दूसरे, इसकी भावना मनुष्य-जीवन के विस्तृत क्षेत्रों में व्यापक बनें। पहली क्रिया प्रमुखत: धीमी पर कोरी बौद्धिक नहीं है। सम्पूर्ण सभ्य संसार में, जिसमें एकतन्त्री (टोटेलिटेरियन) देश भी शामिल है, हम यह परिवर्तन देख रहे हैं। दूसरी क्रिया अधिक कठिन है, क्योंकि एक जीवत संदेश जीवन द्वारा ही फैलाया जा सकता है। अंतर्यामी ऐक्य के साथ योग जिसने साधा है, वही जीवन लोगों मे अन्तर्गत ऐक्य की निष्ठा जगा सकता है। ऐसा पुरुष है गांधी। जीवन उसका योग युक्त है। यही कारण है कि शायद सबसे सम्पूर्ण भाव में वह आज के युग के लिए काल-पुरुष है। क्योंकि वह कर्म अथवा विचार का उतना नहीं, जितना जीवन का साधक है।

: ३० :

अहिंसा की शक्ति

ईथेल मैनिन

महात्मा गांधी को मैं यह छोटी-सी श्रद्धांजलि बड़ी नम्रता से भेंट कर रही हूँ। मुझे उनसे मिलने का सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं हुआ, पर मैं शान्तिवादिनी हूँ। और मुझे विश्वास है कि उनका अहिंसात्मक प्रतिरोध का सिद्धान्त ही संसार की शान्ति और युद्ध की समस्या का एकमात्र व्यावहारिक हल और सामाजिक संघर्ष के समाधान का एकमात्र युक्ति-युक्त उपाय है। १९३० में सविनय-भंग आन्दोलन द्वारा उन्होंने संसार के सामने अहिंसा की शक्ति प्रत्यक्ष कर दिखाई। यह उस संसार के सामने एक महान् उदाहरण था, जो तलवार की शक्ति के सिवा और किसी शक्ति को मानता ही नहीं, और प्रत्यक्षत: यह बात स्वीकार करने मे असमर्थ है कि हिंसा से हिंसा की समाप्ति नहीं, बल्कि वृद्धि होती है।

मैं यह बखूबी जानती हूँ कि अहिंसा का सिद्धान्त महात्माजी ने नया नहीं निकाला। वह तो एक धार्मिक मन्तव्य के रूप में भारत में सदियों से मौजूद था। लेकिन जैसा कि श्री ब्रेल्सफोर्ड ने कहा है, उन्होने 'पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा और आचरण की लहर के विरोध में' उसकी पुन: स्थापना की और इस प्रकार अपने देशवासियों के नेता के रूप में उनकी नैतिक शक्ति अत्यन्त प्रभावशाली हो

उठी। १९३० के राष्ट्रीय आन्दोलनों मे उन्होंने अपने लाखों-करोड़ों अनुयायियों को एक राजनैतिक विधि ही नही, बल्कि एक गहरी धार्मिक श्रद्धा भी दी, जैसी कि ईसामसीह ने पहले के उन ईसाइयों को दी थी, जो 'सत्य' की अपनी ईश्वर-प्राप्त व्याख्या की खातिर शहीद हो गये।

उन्होंने भारत की जनता को बन्दूकों और मशीनगनों की शक्ति नही दी जिसका प्रयोग उसके दमनकारी करते थे; बल्कि वह शक्ति दी जो जनता के व्यक्ति-व्यक्ति मे अन्तर्निहित है, जो युद्धों मे पीडित इस संसार को अभी प्राप्त करनी है और जिसका यदि पूर्णता के साथ उपयोग किया जाय तो वह युद्धों को असम्भव बना सकती है। राजनीतिज्ञ और युद्ध-प्रेमी लोग, अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए हिंसात्मक साधनों का प्रचार करते समय एक बात को भूल जाते है और वह यह कि मनुष्य का स्वतन्त्रता मे से विश्वास उठ नहीं सकता। सक्षेप में, बन्दूक और मशीनगनें मनुष्य की या राष्ट्र की आत्मा को नष्ट नहीं कर सकतीं। किसी राष्ट्र को कुचल कर गुलाम बनाया जा सकता है, परन्तु 'शक्ति' के बूटों की ठोकरें स्वतन्त्रता की जीवित भावना को निर्मूल नही कर सकती। वे कुछ समय के लिए उसे आँखों से ओझल कर सकती है, जमीन-तले छिपा कर रख सकती है, पर वह अंधेरे मे भी चुपचाप बढ़ती रहती और पुनः शक्ति प्राप्त कर लेती है। और एक दिन आता है जब वह प्रज्ज्वलित हो उठती और मानव-जाति के लिए पथ-प्रदर्शक ज्योति बन जाती है।

जिस मनुष्य का अपनी आत्मा पर अधिकार है, उसे गुलाम नहीं बनाया जा सकता। उसका शरीर नष्ट हो जाने से तो उसकी आत्मा अधिकाधिक शक्तिशाली होती जाती है। सूली पर चढ़ा हुआ ईसामसीह उस ईसामसीह की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली था जिसके विजयोत्सवों के जुलूसों के मार्ग में लोग ताड़ के पत्ते बिछा देते और आकाश-मण्डल को जय-जयकार के स्वर से गूँजा देते थे।

हिंसा का जवाब हिंसा से देना तो उस अत्याचारी के निम्न धरातल पर उतर आना है, जो शक्ति की नाप केवल मृत्यु और विनाश द्वारा करता है। अहिंसात्मक उपायों की शक्ति जीवन की, उस आत्मा की शक्ति है, जिसकी पिपासा कभी शान्त नहीं होती। हम कह सकते है कि अपनी शिक्षा से गांधीजी ने भारत की 'आत्मा' को मुक्त कर दिया है। नीच और नगण्य दासों से भारतवासी फिर मनुष्य हो गए है। वे अपना मस्तक ऊँचा उठा कर अपनी आँखों मे आशा और विश्वास की ज्योति लिये हुए, अपने दमनकारियों द्वारा अपनाये हुए नीच साधनों की उपेक्षा करके अपनी अन्तिम मुक्ति की ओर कूच करने मे समर्थ एक राष्ट्र बन गये है। महिलाओं

ने अपनी दासता का प्रतीक परदा उतार फेंका और उन्होंने भी स्वतन्त्रता के लिए इस रक्तहीन संग्राम में पुरुषों से कंधे-से-कंधा भिड़ा कर काम किया। उनमें गर्व के साथ नम्रता थी, नम्रता के साथ गर्व था। आत्म-सम्मान की भावना उनमें फिर से भर गई थी और क्योंकि उनके हृदय में स्वतंत्रता की पवित्र ज्योति जगमगा रही थी, अतः वे मुक्त थीं। सभी अवस्थाओं के स्त्री-पुरुषों ने अनभव किया कि जीवन वस्तुतः एक 'पवित्र ज्योति' है, और अपने अभ्यन्तर में स्थित एक अदृश्य सूर्य के प्रकाश से ही हम अपने जीवन पथ पर चलते हे और इस अनभृति के प्रकाश में पराजय का नाम भी नहीं है।

सन् १९३० में राष्ट्रवादी भारत नें अहिंसा की शक्ति को एक व्यावहारिक राजनैतिक अस्त्र के रूप में सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिखाया। वह मनुष्य की आत्मा की महान् विजय का भी प्रदर्शन था। हजारों-लाखों आदमी जेलों में ठूस दिए गए, उनपर पाशविक अत्याचार किये गए; परन्तु यह सब भारतीय जनता की उस महान् नैतिक जाग्रति के ज्वार-भाटे को रोक न सका।

यह समझने के लिए, कि अहिंसा का मूल्य एक राजनैतिक अस्त्र से बढ़कर है, यह जान लेना आवश्यक है कि महात्माजी तप और त्याग पर इतना जोर क्यों देते हैं। यह बात भी साफ तौर पर समझने की है कि 'अहिंसा' प्रेम के तत्वज्ञान और सत्य की साधना के सिद्धान्त के साथ इस प्रकार जुड़ी हुई है कि उसे अलग नहीं किया जा सकता। वस्तुतः विश्व-प्रेम का नाम ही अहिंसा है। इन्द्रियों के दमन और आत्मा के विकास का सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नहीं है। यह तो ईसा-मसीह की शिक्षा का भी एक अंग था। पर महात्मा गांधी ने आज के जीवन में इसे घटित करके दिखा दिया है और इससे उनकी गणना सन्तों, महापुरुषों और प्रभावशाली नेताओं में हुई है।

महात्मा गांधी की शिक्षाओं का यह एक मुख्य भाग है कि मनुष्य किसी बुराई को मिटाने या किसी झगड़े को निपटाने के लिए जितना ही अधिक हिंसा से काम लेगा उतना ही वह सत्य से परे हटता जायगा। वह कहते हैं कि वह बाहरी शत्रु पर आक्रमण करके भीतर के शत्रु की उपेक्षा कर देते हैं। "हम चोरों को इस लिए दंड देते हैं कि वे हमें तंग करते है। कुछ समय के लिए वे हमें छोड़ देते हैं, पर होता यह है कि अपना ध्यान हम पर से हटा कर दूसरे शिकार पर केन्द्रित कर देते हैं। यह दूसरा शिकार दूसरे रूप में हम ही हैं। इस प्रकार हम एक चंडाल चक्र में फँस जाते हैं।.....कुछ समय बाद हम यह अनुभव करने लगते हैं कि चोरों

को सह लेना उन्हें दण्ड देने से अच्छा है। अगर हम उनको दरगुजर करते जायंगे तो आशा है कि उनकी बुद्धि आप ही ठिकाने आ जायगी। जब हम उन्हें सहन करते हैं तब हम आप ही यह अनुभव करने लगते हैं कि चोर हमसे भिन्न नहीं, बल्कि हमारे ही सगे-सम्बन्धी और मित्र हैं और उन्हें दण्ड नहीं दिया जा सकता।"

नैतिक दृष्टि से उनके अहिंसा के तत्वज्ञान का यही सार है और इसी रूप में हम उसे युद्ध या स्वतंत्रता के लिए सामाजिक संग्राम में भी लागू कर सकते हैं। गांधीजी दैनिक जीवन की तथा संसार की समस्याओं के हल के लिए अहिंसा के उपयोग में भेद नहीं करते। वह स्वीकार करते हैं कि अहिंसा के मार्ग में निरन्तर कष्ट सहन और अनन्त धैर्य की आवश्यकता हो सकती है। लेकिन वह बतलाते हैं कि इसके फल-स्वरूप मन की शांति और साहस की अधिकाधिक वृद्धि होती है। हम यह भेद करना सीख लेते हैं कि कौन सी वस्तु मूल्यवान् और स्थायी है और कौन सी नहीं। दैनिक जीवन को नियन्त्रित करने वाला यह साधुओं का-सा तप, पश्चिमी सभ्यता के लिए उतना ही दुर्बोध है, जितनी कि ईसाइयत। ध्यान रहे, मैंने ईसाइयत का जिक्र किया है, "पालो-एनिटी" (सन्त पॉल द्वारा चलाया हुआ धर्म) का नहीं। तो भी पीड़ित मानव-जाति को घृणा की जगह विश्वप्रेम को अपनाने और हिंसा का सर्वथा परित्याग करने से ही शान्ति की प्राप्ति हो सकती है और उस शान्ति का अर्थ केवल युद्ध का अभाव नहीं, बल्कि मानव-सुख के लिए आवश्यक आन्तरिक शान्ति है।

महात्मा गांधी का बीसवीं शताब्दि के उस अद्वितीय सन्त के रूप में अभिवादन करना चाहिए जो अपनी शिक्षा और अपने उदाहरण द्वारा उस संसार में शान्ति का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं, जो अगर उसकी शिक्षाओं पर ध्यान न देगा तो नष्ट हो जायगा। यद्यपि उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा भारत की महान् सेवायें की हैं और उनके उपवासों का राजनीति पर बहुत प्रभाव पड़ा है, तो भी उन्हें एक राज-नैतिक नेता नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक नेता और शिक्षक मानना चाहिए। उनके तथा कथित राजनैतिक कार्य उनके नीतिशास्त्र और दार्शनिक मन्तव्यों का एक स्वाभाविक परिणाम है।

किसी सन्त का आदर और स्तवन करने के लिए आवश्यक नहीं कि हम उसके आचार-विषयक सिद्धान्तों का समर्थन ही करे। महात्माजी ने अहिंसा की जो व्याख्या की है उसमें अगर विरोधी भौतिकवाद के अनुयायियों को जीवन-विहीनता की गंध आये, तो भी यह मानना पड़ेगा कि आध्यात्मिक धरातल पर, जिस पर कि

महात्माजी का आग्रह है, स्थिति इससे ठीक विपरीत होती है। महात्माजी ने स्वयं कहा है कि प्रत्येक धर्म ने महान् स्त्री-पुरुष उत्पन्न किये हैं। आज के संसार में तो महात्मा गांधी हमारे बीच अहिंसा की शक्ति के जीवित उपासक के रूप में एक प्रखर ज्योति के समान जगमगा रहे हैं। "दूसरों का तो दोष-दर्शन हुआ है, किन्तु तू इससे परे है । ......तेरा ज्ञान सर्वोच्च है।"

गांधीजी का ज्ञान सब मनुष्यों, और सब काल के लिए है।

: ३१ :

गांधीजी और बालक

मेरिया मॉन्टीसरी

महात्मा गांधी के निकट रहनेवाले उन्हें जिस रूप में देखते है, उससे बिलकुल भिन्न रूप में हम यूरोपियन उन्हें देखते है। हम जब रात को एक तारा देखते हैं तो वह हमें एक छोटी-सी चमकदार टिमटिमाती हुई-सी चीज मालूम देती है, लेकिन अगर किसी तरह हम उसके पास जा सकें तो वह छोटी या ठोस चीज मालूम न होगी बल्कि भौतिक पदार्थ से हीन रंग और ज्योति का एक पुंज दिखाई देगा।

हम यूरोपियनों को भी गांधी एक मनुष्य-सा ही—बहुत छोटा मनुष्य जो सिर्फ एक लंगोटी लगाये रहता है—लगता है। यूरोप के कोने-कोने में एक-एक बच्चा उसे जानता है। जब भी कोई आदमी चित्र देख लेता है, वह फौरन अपनी भाषा में चिल्ला उठता है—"यह गांधी है।"

पर हम यूरोपियन, जो उससे बिलकुल भिन्न एक सभ्यता में रहते हैं, उसके बारे में क्या खयाल करते हैं? यूरोपियन उसे शान्ति का उपदेश देने वाले एक मनुष्य के रूप में जानते हैं। परन्तु वह यूरोप के शान्तिवादियों से भिन्न है। हमारे यूरोपियन शान्तिवादी बहस करते और इधर-उधर हड़बड़ाये हुए भागते फिरते हे। उन्हें बहुत-सी सभाओं में भाग लेना होता है और पत्रों में लेख लिखने होते हैं। परन्तु गांधीजी कभी उतावले नहीं हो जाते। कभी-कभी वह जेल में रहते हैं, 'जहां कि वह बहुत कम बोलते और बहुत कम खाते हैं। लेकिन फिर भी भारत के लाखों-

करोड़ों आदमी उनके पीछे-पीछे चलते हैं। क्योंकि वे उनके अन्तःकरण को पहचानते हैं।

उनकी आत्मा उस महान् शक्ति के समान है, जिसमें मनुष्यों का एकीकरण करने की शक्ति है, क्योंकि वह तो उनकी आन्तरिक अनुभूतियों पर अपना असर डालती है और उन्हें एक दूसरे के निकट खींचती है। यह रहस्यमय और चमत्कारिक शक्ति 'प्रेम' कहलाती है। प्रेम ही वह शक्ति है, जो मनुष्यमात्र को वास्तव में एक कर सकती है। बाहरी परिस्थितियों और भौतिक हितों से बाध्य होकर मनुष्य परस्पर संगठित होते हैं, पर उनमें प्रेम का संगठन स्थिर नहीं रहता और खतरे की ओर जाता है। मनुष्यों को दोनों प्रकार से संगठित होना चाहिए—एक तो आध्यात्मिक शक्ति से, जो एक दूसरे की आत्मा को अपनी ओर खींचे और दूसरे भौतिक संगठन द्वारा।

कुछ साल पहले जब गांधीजी यूरोप गये थे तब भारत लौटते समय कुछ दिनों के लिए रोम ठहरे थे। इसका मेरे हृदय पर बड़ा गहरा असर हुआ। मैंने देखा कि गांधीजी में से एक अगम्य शक्ति प्रस्फुटित होती थी। जब वह लन्दन में थे, मेरे स्कूल के बालकों ने उनका स्वागत किया था। जब वह फर्श पर बैठे हुए तकली कात रहे थे, सब बच्चे उनके चारों ओर बड़ी शान्ति के साथ बैठे रहे। वयस्क पुरुष भी इस स्वागत के समय, जिसे हम कभी नहीं भूल सकते, चुपचाप और स्थिर बैठे हुए थे। हम सब एक साथ थे। यही हमारे लिए काफी था। नाचने, गाने या भाषण देने की जरूरत ही नही थी।

लेकिन मुझ पर तो उस समय बहुत प्रभाव पड़ा जब मैंने कुछ कुलीन महिलाओं को सबेरे साढ़े चार बजे महात्माजी को प्रार्थना करते देखने और उनके साथ प्रार्थना करने के लिए जाते देखा। एक दूसरी महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि रोम-प्रवास के दिनों में वह एक गांव के एकान्त मकान में ठहरे हुए थे। एक दिन सबेरे एक युवती पैदल चलकर वहाँ आई। वह गांधीजी से एकान्त में बातचीत करना चाहती थी। वह थी इटली के सम्राट् की सबसे छोटी पुत्री राजकुमारी मेरिया!

हमें इस आध्यात्मिक आकर्षण के विषय में अवश्य विचार करना चाहिए। यही शक्ति है, जो मानवता की रक्षा कर सकती है। केवल भौतिक हितों के बन्द रहने के बजाय हमें परस्पर इस आकर्षण का अनुभव करना सीखना चाहिए। पर यह हम सीखें कैसे?

जिस तरह सारे संसार में प्रकाश की सर्वव्यापी किरणें मौजूद हैं, उसी तरह हमारे

हमारे चारों ओर ये आत्मिक शक्तियां भी विद्यमान रहती हैं। लेकिन ये सर्वव्यापी किरणें खास-खास यन्त्रों द्वारा ही, जिनके द्वारा कि हम उन्हें देख सकते हैं, केन्द्रित की जा सकती हैं। पर ये यन्त्र इतने दुर्लभ नहीं हैं, जैसा कि हम खयाल करते हैं। ये यन्त्र बच्चे हैं! जिस प्रकार हम आकाश में गरमी और प्रकाश के पुंज के तारे को एक छोटे-से चमकदार बिन्दु के रूप में ही देखते है; ठीक उसी प्रकार अगर हमारी आत्मा बच्चे से बहुत दूर है तो हम उसका छोटा-सा शरीर मात्र ही देख सकते हैं। अगर हम उसके चारों ओर चक्कर लगानेवाली रहस्यमयी शक्ति को अनुभव करना चाहते हैं तो हमें उसके अधिक नजदीक पहुँचना चाहिए।

बच्चों के, जिनसे कि हम वास्तव में बहुत दूर है, आध्यात्मिक रूप से निकट पहुँचने की कला में एक ऐसा रहस्य है जो संसार में विश्व-भ्रातृत्व पैदा कर सकता है। यह एक ईश्वरीय कला है, जो मानवजाति को शान्ति देगी। बच्चे तो बहुत-से हैं। वे असंख्य हैं। वे एक तारा नहीं है। वे तो आकाशगंगा के समान हैं—उस तारिका-पुंज के समान हैं, जो आकाश में एक ओर से दूसरी ओर को घूमते हैं।

गांधीजी के जन्म-दिन पर मैं उनसे एक ही प्रार्थना करूंगी कि वह भारत में और संसार में बच्चे का मान करें और अपने अनुयायियों को, जो उनकी शक्ति और उनकी शिक्षा में विश्वास रखते है, बच्चे में विश्वास करने के लिए प्रेरित करें

: ३२ :

महात्मा गांधी का विकास

आर्थर मूर

सत्तर वर्ष की आयु में भी महात्माजी चालीस वर्ष की आयु के बहुत-से आदमियों से उत्साह में अधिक युवा हैं। वह अब भी एक विद्यार्थी और परीक्षार्थ प्रयोग करने वाले हैं। यह सच है कि उनके अपने कुछ सिद्धान्त हैं; परन्तु उनकी सीमायें संकुचित नहीं हैं। और मुझे यह मानना चाहिए कि उन्होंने हमेशा सत्य की खोज को अपना मुख्य लक्ष्य रक्खा है। उस सत्य का उपदेश और दूसरों का नेतृत्व या सार्वजनिक कार्य उनका गौण कार्य है। जब-जब वह लम्बे समय के लिए सार्वजनिक

नेतृत्व से अलग हो जाते हैं, तब-तब वह सत्य के उज्ज्वल प्रकाश की ही तलाश करते हैं।

मैं उनसे पहली बार दिल्ली में, सितम्बर १९२४ में मिला। उस समय वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए इक्कीस दिन का उपवास कर रहे थे। उनके मित्रों को उनके जीवन की भारी चिन्ता थी मौलाना मुहम्मद अली प्रत्येक व्यक्ति को, जिसका नाम उन्हें याद आता जाता था, 'एकता-सम्मेलन' में भाग लेने को दिल्ली आने के लिए तार देते जाते थे, ताकि महात्मा जी को यह जान कर कुछ सान्त्वना प्राप्त हो कि उनके उपवास का एकदम असर पड़ा है और आपस में लड़ती रहने वाली दो जातियों में एकता कराने के लिए फौरन ही असाधारण प्रयत्न आरम्भ हो गये हैं। उस साल गर्मियों में लगातार बहुत-से साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। मैं भी उन व्यक्तियों में से था, जो निमन्त्रण पाकर दिल्ली आये थे। जिस दिन मैं आया, बड़े सबेरे ही मेरे होटल के सोने के कमरे में मौलाना मुहम्मद अली मुझे मिले और मुझसे कहा कि मैं आपको एकदम गांधीजी के पास ले जाना चाहता हूँ। महात्माजी स्व० ला० सुल्तानसिंह के मकान में श्री सी० एफ० एण्डरूज आदि परि-चर्य्या करने वालों के बीच लेटे थे। वह कमजोर थे, परन्तु मुसकरा रहे थे। हम दोनों में कुछ देर बातचीत हुई, परन्तु महात्माजी ज्यादा बोल नहीं सकते थे और अब तो मुझे याद भी नहीं कि उन्होंने क्या कहा था। पर उनकी मूर्ति इस समय भी मेरे हृदय पर उतनी ही स्पष्टता से अंकित है। वह सम्पर्क बहुत घनिष्ठ और आनन्दप्रद था। उसके बाद पिछले सालों में यद्यपि मुझे उनसे बातचीत करने का मौका छः या सात बार से ज्यादा न पड़ा होगा, परन्तु उस समय उन्होंने जो मित्रता तथा घनि-ष्ठता की भावना प्रदर्शित की वह मेरे मन पर सदा अंकित रहेगी। एक पत्रकार की हैसियत से और कुछ दिन केन्द्रिय असेम्बली में कांग्रेस-विरोधी दल के सदस्य की हैसियत से मुझे उनके कार्यों और खासकर १९३०—३२ के कार्यों व नीति की आलो-चना करनी पड़ी और यथाशक्ति उनका विरोध भी करना पड़ा। कभी-कभी हम दोनों में पत्र-व्यवहार भी हुआ है। मैं हमेशा साफ-साफ बातें लिखता और वह सदा सहानुभूति-पूर्ण उत्तर देते। सन् १९२७ और १९२९ में उनकी आत्मकथा के दो भाग निकले और मुझे उनकी विस्तृत आलोचना लिखनी पड़ी। खादी की जिल्द चढ़ी हुई और अहमदाबाद में उनके प्रेस में सुन्दर और स्पष्ट छपी हुई दो हरी जिल्दें ('सत्य के प्रयोग' या 'आत्म-कथा') बड़ी रोचक, महान् साहित्यिक कृति हैं। उनको पढ़ने के बाद मैंने अनुभव किया कि इस रहस्यमय शक्ति के सम्बन्ध में मेरा

ज्ञान बहुत बढ़ गया। उनके मन की गति सरल नहीं है और आसानी से समझ में नहीं आ सकती। परन्तु इन पुस्तकों की भाषा बहुत स्पष्ट है। इसके साथ ही, बहुत से अवसरों पर उनके कामों की सरलता, काम करने का सीधा ढंग और वक्तव्यों की स्पष्टता उतनी ही असाधारण ओर अमूल्य होती है जितनी कि दूसरे मौकों पर उनके विचारों और युक्तियों की सूक्ष्मता और गूढ़ता।

महात्माजी के जीवन के दो रूप हैं—एक राजनैतिक नेता का और दूसरा धार्मिक नेता का। अपने देशवासियों के राजनैतिक नेता के रूप में उन्होंने अपना जीवन उनमें राष्ट्रीय भावना भरने, उनका नैतिक बल बढ़ाने, उन्हें आत्म-सम्मान की शिक्षा देने और स्वेच्छा से त्याग व बलिदान की उनमें भावना भरने में लगाया। इस सबके साथ उन्होंने अपने तप और अपरिग्रह के आधार पर जनता से अपील की। पूर्वी देशों में खासकर भारत में, जहाँ धन और भौतिक इच्छाओं के क्रमशः परित्याग द्वारा आत्मदर्शन तक पहुंचने की शिक्षा दी जाती है, तप और अपरिग्रह बहुत महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। अपनी पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि मेरे राजनैतिक अनुभवों का मेरे लिए कोई विशेष मूल्य नहीं है, परन्तु आध्यात्मिक जगत में 'सत्य के प्रयोगों' ने ही मेरा वास्तविक जीवन बनाया है। १९२७ तक की कठोर जीवन-यात्रा की कहानी में एक दृष्टि से, वास्तव में उन्होंने अपनी सफलता को स्वीकार किया है। तीस वर्षों से वह 'आत्म-दर्शन' और 'ईश्वर का साक्षात्कार करने और मोक्ष प्राप्त करने' के लिए प्रयत्न व उद्योग कर रहे हैं। इसके लिए उन्होंने अहिंसा, ब्रह्मचर्य, निरामिष-भोजन और अपरिग्रह का परीक्षण व प्रयोग किया और तलवार की धार के समान तंग व तीक्ष्ण मार्ग पर चलें। लेकिन इतने वर्षों के बाद भी उनका कहना है कि मैं पूर्ण सत्य 'ईश्वर' की एक झलकमात्र देख पाया हूँ। यद्यपि उन्हें यह पूर्ण विश्वास हो गया है कि ईश्वर है और वही चरम सत्य है, परन्तु उन्हें अभी पूर्ण सत्य या ईश्वर के दर्शन नहीं हुए।

महात्मा गांधी एक 'प्यूरिटन'[१] हैं, जिन्हें, जैसा कि उन्होंने हमसे कहा है, 'ओरिजिनल सिन'[२] (मूल पाप) के सिद्धान्त की सचाई में पूरा-पूरा विश्वास है।

---

१. रानी एलिजाबेथ के समय का एक ब्रिटिश सम्प्रदाय, जो राजनीति में भी जीवन की शुद्धता तथा धार्मिकता पर जोर देता था।—अनु०

२. बाइबिल में आदम को मानव-जाति का आदि पितामह मानकर कहा गया है कि वह पापी था, और उसके पाप का अंश पितृ-परम्परा से मनुष्यमात्र

अन्य सब तपस्वियों के समान वह भी मनुष्य-जीवन को त्यागों की एक शृंखला मानते हैं, सांसारिक सूखों का आभार पूर्वक उपभोग करना और ईश्वर की महिमा बढ़ाने के लिए उनका उपयोग करना, ऐसा वह नहीं मानते। उनके विचार से स्त्री-पुरुष संबंधी काम-वासना ही सारी बुराइयों की जड़ है। महात्मा गांधी के एतद्विषयक विचार तथा ब्रह्मचर्य पर लिखे गये उनके अध्यायों के विषय मे यही कहा जा सकता है कि वे वर्तमान मनोविज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र के सिद्धान्तों के इतने विरोधी हैं कि जिसकी आज के जमाने में कल्पना ही नहीं की जा सकती। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को वह बिलकुल लज्जाजनक समझते हैं और इनका उनकी राय में एक ही उपचार है। वह है उनका दमन और अत्यधिक दमन। उनका कहना है कि "अपरिग्रह की तो कोई सीमा ही नहीं है।" और वह स्वयं इस बात से दुखी हैं कि वह अभी तक दूध, जिसे वह ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन के लिए बहुत हानिकर वस्तु समझते हैं, नही छोड़ सके। उनके सिद्धान्तानुसार ताजे फल और सूखा मेवा ही 'ब्रह्मचारी का आदर्श भोजन' हैं। परन्तु जितना अधिक-से-अधिक सहन किया जा सके, उतना उपवास इन सब से अच्छा है।

यह कोई आश्चर्य की बात न होती यदि जनता की पहुंच से बहुत दूर के इन आदर्शों के कारण महात्माजी भी ईसाई सन्तों के समान असहिष्णु और कठोर बन जाते। लेकिन इस तरह की कोई बात नहीं हुई। संयम के सभी कठिन अभ्यासों के बावजूद, जिनसे उन्होंने जीवन को अपने ही लिए एक कठिन वस्तु बना लिया है, उनके चरित्र में वह मृदुता और प्रेम है जिसने इन्हें इतनी भारी शक्ति दी है। सत्य के पवित्र दर्शन करने की पिपासा के होते हुए भी उनका सबसे उत्तम गुण—मानवसमाज के प्रति उनका सच्चा प्रेम है। एक ओर उन्हें निर्दयता और अत्याचार से घृणा है तो दूसरी ओर बीमारी और गंदगी से। तप की भावना से ही उन्होंने कभी किसी नाच-घर में पैर नहीं रक्खा। उनके जीवन के प्रारम्भिक दिनों की कहानी में हम उन्हें तरह-तरह के नये तजरबों और मौज की जिन्दगी से पीछे हटता हुआ पाते हैं।

इंगलैण्ड में विद्यार्थी-जीवन में ही उनकी अपने सनातन धर्म में श्रद्धा-और

में आ गया है। ईस कारण मनुष्य-प्रकृति से ही पतित है। इसी को 'ओरिजिनल सिन' कहते हैं।—अनु०

भक्ति बढ़ी और उन्होंने वहीं पहले-पहल सर एडविन आर्नल्ड के अनुवाद द्वारा गीता का परिचय प्राप्त किया ।

अब भी जब मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूँ एक बहुत महत्वपूर्ण घटना घटी है महात्मा गांधी अब एक नये युग में प्रवेश कर रहे जान पड़ते हैं ।

हाल ही में महात्मा गांधी ने लिखा है कि राजकोट के अनुभवों के परिणाम स्वरूप उन्हें नया प्रकाश मिला है। वह नई रोशनी क्या है, इसका स्वरूप अब बताया गया है और वह बहुत महत्वपूर्ण है। महात्मा गांधी का पिछले वर्षों में हिन्दू जनता पर बहुत प्रभाव रहा है और भारत के वर्तमान इतिहास के निर्माण में उनका जो भाग है, उसमें कोई सन्देह नहीं कर सकता। कुछ वर्षों के व्यवधान से उन्होंने दो सविनय आज्ञा भंग आन्दोलनों को जन्म दिया, उन्होंने देश में उथल-पुथल मचा दी और अधिकारियों के लिए भारी चिन्ता पैदा कर दी। इसके अलावा इन आंदोलनों ने देश पर अपने प्रभाव की वे धारायें छोड़ीं जो उनके समाप्त हो जाने के बाद भी आजतक काम कर रही हैं। अतः महात्मा गांधी के सिद्धान्त और उनकी शिक्षाओं में—इस बड़ी अवस्था में जबकि उनका कांग्रेस और जनता के मन पर एकच्छत्र अधिकार प्रत्यक्ष दिखाई देता है—मौलिक परिवर्तन होना वस्तुतः एक महत्वपूर्ण घटना है। इसका प्रभाव भारत पर ही नहीं संसार में अन्यत्र भी पड़ेगा, क्योंकि महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त व्यक्ति हैं और उनके अनुयायी सारे संसार में हैं ।

दूसरे लोगों के साथ मैंने भी अहिंसात्मक असहयोग के आध्यात्मिक दावे की आलोचना की है, क्योंकि वह शारीरिक और मानसिक हिंसा के बीच एक आध्यात्मिक भेद मानता है। यह अहिंसात्मक असहयोग निःशस्त्र मनुष्यों की लड़ाई का ही एक तरीका है। बहिष्कार व हड़ताल से, जो इस असहयोग के अंग भी हैं, इसकी तुलना की जा सकती है। इसके उपाय की सफलता या असफलता दो बातों पर निर्भर है। एक तो अपने और विरोधी के संगठन का बल, दूसरे संघर्ष के मुख्य उद्देश्य की महत्ता। लेकिन यह निश्चित है कि यह उपाय सशस्त्र-विद्रोह या युद्ध से अधिक आध्यात्मिक हथियार नहीं है। ईसाइयों के लिए तो यह बात साफ ही है कि उनके अनुसार पाप तो मन के विचार और हृदय की भावनाओं ही में है। कार्य तो उसकी व्यंजना मात्र है। अहिंसात्मक आन्दोलन को बल व बढ़ावा देने के लिए स्वयं महात्मा गांधी ने हिंसामय विचारधारा को उत्तेजित किया, अंग्रेजों की निन्दा की और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का प्रचार किया। उनके अनुयायियों ने जाति-द्वेष

की भावना पैदा करने के लिए सब कुछ किया और कहा। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में "अहिंसात्मक" आन्दोलन के समय पत्रों और भाषाओं में जितनी अधिक असंयत तथा हिंसामय भाषा का प्रयोग किया गया, उतनी संभवतः संसार के किसी और देश में नहीं पाई जायगी। स्वभावतः इसके परिणामस्वरूप हिंसात्मक घटनाएं भी हुई। बस, उन दिनों का यही काम था। युद्ध ने जो रूप धारण किया, उसकी अंग्रेजों ने कभी शिकायत ही नहीं की, क्योंकि आखिर तो वह युद्ध का ही एक रूप था। पर उन्होंने भारतीयों का यह दावा नहीं माना कि इस प्रकार के असहयोग का धरातल ऊँचा और नैतिक था, अथवा कि वह ईसाइत या उससे भी किसी ऊँची चीज का फलितरूप था। सच्चे और खरे शब्दों में कहें तो, लंकाशायर के माल का बहिष्कार करने का उद्देश्य भारत में कुछ मनुष्यों को काम, रोजी और रोटी देना और इंग्लैण्ड में दूसरों का काम, रोजी और रोटी छीनना था। भूखा मारने और जान से मारने में कोई बड़ा नैतिक भेद नहीं है। कोई सच्चा अंग्रेज इस बात का दावा नहीं करेगा कि पीड़ित जर्मन नागरिकों तथा सिपाहियों पर युद्ध बन्द कराने का दबाव डालने के लिए की गई जर्मनी की सामुद्रिक नाकेबन्दी और रणक्षेत्र में की गई लड़ाई में कुछ भी नैतिक भेद है। और उसने यदि कुछ भेद माना भी तो वह नाकेबन्दी को ज्यादा बुरा बतायेगा।

जिस समय वह हिंसा भड़क उठी, जोकि स्पष्टतः इस असहयोग आन्दोलन की ही उपज थी, तो महात्माजी के पास उसका एक ही इलाज था। वह था उनका निजी उपवास। उनका विश्वास था कि आठ दिन के उपवास से चौरी-चौरा काण्ड के पापों का थोड़ा-बहुत प्रायश्चित्त अवश्य हो जायेगा। बाद में उन्होंने अपने उपवासों के उद्देश्यों का दायरा बड़ा कर दिया। १९२४ में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम-एकता के लिए इक्कीस दिन का उपवास किया। दूसरे असहयोग आन्दोलन में जब उन्हें जेल भेज दिया गया, तब उन्होंने उपवास द्वारा ही अपनी रिहाई कराई। साम्प्रदायिक निर्णय में संशोधन कराने लिए भी उन्होंने उपवास किया। परन्तु मालूम होता है कि उनके पिछले उपवासों में, जिनमें राजकोट का उपवास भी शामिल है, प्रायश्चित्त की भावना नष्ट हो गई थी। उनके बहुत-से साथियों ने ही उनको दबाव डालने वाला कहकर आलोचना की।

असहयोग और उपवास में निर्दिष्ट अहिंसा के आध्यात्मिक मूल्य या गुण की जो आलोचनायें हुई उनपर महात्मा गांधी ने पहले कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने जो कुछ कहा, उससे ऐसा मालूम होता था मानो वह अपने आन्तरिक

अनुभव से यह जानते हैं कि इनको आध्यात्मिक महत्व देने में वह गलती पर नहीं हैं। और जहां दुनिया ने स्पष्टतः उनको असफलता बतलाया, वहां भी गांधीजी ने उन्हें सफलता ही माना। परिणाम यह हुआ कि भारत में सर्वत्र जिस किसी भी बात पर उपवास या 'अहिंसात्मक' सत्याग्रह की नकल करने वाले बहुत- से लोग पैदा हो गये।

परन्तु अब यह सब बदल गया है। महात्मा गांधी को नई रोशनी मिली है। वह स्वयं अपनी नीयत में सन्देह करने लगे हैं। वह यह सोचने लगे हैं कि उस समय जब कि मैं समझता था कि मैं आध्यात्मिक उद्देश्यों के लिए कार्य कर रहा हूँ, मैं वास्तव में राजनैतिक और भौतिक उद्देश्यों के लिए कार्य कर रहा था। उन्होंने हमसे कहा है कि "मेरे राजकोट के उपवास में 'हिंसाका दोष' था।" अब उन्होंने अपने अस्त्र नीचे डाल दिये हैं। यदि आत्म-शुद्धि के लिए किये गए इतने प्रयत्नों, इतने वर्षों के तप और त्याग और अपने विरोधियों को प्रेम करने के प्रयत्नों के बाद भी वह यह समझते हैं कि वह इन साधनों का प्रयोग करने के योग्य नहीं हैं तो क्या इस बात की कभी आशा की जा सकती है कि जनता, अथवा जो आदमी इस समय इन साधनों द्वारा काम करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे कभी भी इनका प्रयोग करने के योग्य होंगे?

पर माहात्माजी ने स्वयं जो उन्नति की है वह इस विचार से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है और उसके भारत में तथा अन्यत्र भी आश्चर्यजनक परिणाम होंगे। बहुत वर्षों से महात्माजी ईसाई-धर्म के सिद्धान्तों व मान्यताओं के बहुत निकट पहुँच चुके हैं। उन्होंने हाल ही में जो कुछ कहा है उससे मालूम होता है कि उन्होंने बौद्धधर्म और ईसाईधर्म के आन्तरिक तत्त्व को समझ लिया है। 'अ' अर्थात् 'नहीं' का महत्त्व बहुत नहीं है। 'सहयोग' में 'अ-सहयोग' से अधिक सद्गुण है। संसार इस समय हिंसा से पीड़ित हो रहा है। मनुष्यों का हृदय-परिवर्तन करने के लिए एक नई प्रेरक क्रान्तिकारी शक्ति की भारी और सर्व-स्वीकृत आवश्यकता है। सभी देशों में इस बात की मांग भी शुरू हो गई है। वहाँ ऐसे आन्दोलन चल पड़े हैं जो 'मानव जाति के लिए अत्यन्त आवश्यक' नये परिवर्तन के आने की भूमिका है। हो सकता है कि महात्माजी का विकास इससे भी अधिक बातों का द्योतक हो।

हमारे समय की अनेक समस्याओं में सबसे अधिक जटिल समस्या यह है कि युद्ध के प्रति हमारा रुख क्या हो? बहुत से बौद्ध, ईसाई तथा वे सच्चे लोग जो

किसी धर्म-विशेष को माननेवाले नहीं हैं, यह जानते हैं कि आत्म-रक्षा के लिए भी युद्ध करना ठीक नहीं। बुराई का प्रतिरोध न करने का ईसाइयों का सिद्धान्त व्यक्तियों के समान राष्ट्रों पर भी लागू होता है। मुझे साफ कहना चाहिये कि महात्माजी ने टाल्स्टाय का जो सिद्धान्त अपनाया है, वह मुझे दार्शनिक अराजकतावाद मालूम होता है। इस युक्ति का मुझे कोई जवाब नहीं मिलता कि जब हमें रक्षा के लिए सेनायें रखने की जरूरत है तब हमें पुलिस भी न रखनी चाहिए। एक व्यक्ति अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले के प्रति सच्चा प्रेम होने के कारण उसके आक्रमण को बरदाश्त कर के अन्त में उसके हृदय पर विजय प्राप्त कर सकता है। लेकिन यदि एक राष्ट्र के आदमी, जिन्हें स्वयं कोई व्यक्तिगत तकलीफ न उठानी पड़े, आक्रमण-कारी राष्ट्र को अपने पर और अपने ही कुछ आदमियों पर मनमाने अत्याचार करने दें, तो मैं उनके इस काम को अच्छा और रुचिकर नहीं मान सकता। जो लोग इस सिद्धान्त का प्रचार करते हैं, वे एक प्रकार के नैतिकता के जोश में, जो उतना ही खतरनाक है जितना कि नैतिक घृणा, अपने में व्यक्तिगत रूप से सच्ची नम्रता पैदा करने में सन्तोष मानने के बजाय दूसरों पर एक विशेष प्रकार का आचरण लादने का प्रयत्न करते हैं। हममें से सभी आदमी नीचे कहे गए दो प्रकार के व्यक्तियों में से एक-न-एक प्रकार के हैं। एक तो वे मनुष्य हैं जिनका हृदय अपने आक्रमण-कारियों के प्रति नैतिक घृणा से परिपूर्ण है, और जो नम्रता को भूलकर यह समझने में भी असमर्थ हो गए हैं कि आक्रमणकारी और वे स्वयं दोनों मनुष्य ही तो हैं। दूसरे मनुष्य वे हैं जो नम्रता के नैतिक जोश की अधिकता के कारण अपने नैतिक जीवन में (दूसरों के द्वारा पहुँचाये गये) आघातों को प्रेमपूर्वक स्वयं सह लेने का अभ्यास करने के बजाय, जिन लोगों तक उनकी पहुँच है, उन्हें आक्रमणकारियों। के सामने नम्रता से झुक जाने का उपदेश देने में ही अधिक समय व्यतीत करते हैं इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों में कोई विशेष भेद नहीं है। ये दोनों ही जीवन में असफल हैं, और स्वयं आचरण करने की अपेक्षा 'पर-उपदेश कुशल' अधिक हैं। दोनों प्रकार के व्यक्ति जिस समय नैतिक द्वेष या नैतिक शान्तिवाद के जोश में बह जाते हैं उस समय मानव-जाति के साथ अपनी एकता की भावना को भूल जाते हैं। नैतिकता के इन उत्साही आदमियों की बुराई का सम्मिलित प्रतिरोध न करने का सिद्धान्त चल जाय तो बुराई को खुलकर खेलने का अवसर मिल जायगा और नैतिकता-वादियों की दो पीढ़ी पीछे की सन्तान ऋषि या सन्त नहीं बल्कि गुलाम होगी; नम्रता के बजाय दासता फले-फुलेगी। दास जाति की गिनी-चुनी आत्मायें

ही संसार के लिए पथ-प्रदर्शन का काम करती हैं। जनता को तो चाटुकारी, गुप्तता और छल-कपट की कला सीखनी पड़ती है।

मुझे तो यह मालूम होता है कि भगवद्गीता में अर्जुन को उपदेश देते समय भगवान् कृष्ण बहुत पहले ही 'शान्तिवाद' की युक्ति का पूर्णतया खण्डन कर चुके हैं। तीन वर्ष पूर्व मैंने महात्माजी से यह युक्ति मनवाने का प्रयत्न किया। पर उनका मन्तव्य, जहाँतक कि मैं उसे समझ पाया हूँ, यह था कि भगवद्तगीता में युद्ध की कथा तो रूपक मात्र है, वास्तविक नहीं, अतः यह युक्ति भौतिक युद्ध और वास्तविक प्राण-हरण पर लागू नहीं हो सकती।

पर राजकोट के बाद से तो मैं एक नये ही महात्मा को देख रहा हूँ। हम सबको उस व्यक्ति का आदर करना चाहिए, जिसने अपने सेवा-मय जीवन में निरन्तर कठोर आत्म-संयम, कठोरतम तपस्या और आत्म-शुद्धि के लिए सतत प्रयत्न किया। यदि उन्हें एक नवीन ज्योति प्राप्त हुई है तो वह उस दर्पण के द्वारा प्रतिक्षिप्त होकर और भी चमक उठेगी, जिसे बनाने में इतने वर्ष लगे और इतना परिश्रम करना पड़ा है। आज प्रत्येक देश यह बात मान रहा है कि संसार की आशा व्यक्ति की आत्मा के विकास में ही है। प्रत्येक को अपने से ही आरम्भ करना होगा। पर हमें एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है, जो वह नीरवता पैदा करदे, जिसमें हम अपनी आत्मा की आवाज सुन सकें, अन्यथा हम अपने मार्ग से भटककर दूर जा पड़ेंगे। नैतिक जोश के प्रवास में बहे हुए आदमी शान्ति के इन क्षणों के सम्बन्ध में बड़ा शोर मचाते हैं और अन्तरात्मा की आवाज सुनने के बजाय दूसरों को अपने मत में परिवर्तित करने के लिए अधिक चिन्तित रहते हैं। कम-से-कम भारत में तो महात्माजी वह नीरवता उत्पन्न कर सकते हैं, जिसमें सच्ची शांति जन्म ले सके।

: ३३ :

गांधीजी का आध्यात्मिक प्रभुत्व

गिलबर्ट मरे

जिस संसार में राष्ट्रों के शासक पाशविक शक्ति पर अधिक-से-अधिक भरोसा किये हुए हैं और राष्ट्रों के निवासी अपने जीवन के अस्तित्व और आकांक्षाओं

की पूर्ति के लिए ऐसी पद्धतियों पर भरोसा रक्खे हुए हैं, जिनमें कानून, और भ्रातृ-भाव के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं रही है, उसमें महात्मा गांधी एकाकी खड़े दीख पड़ते हैं और उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक है। वह ऐसे राजा या शासक हैं, जिनका कहना लाखों मानते हैं। इसलिए नहीं कि वे उनसे डरते हैं, बल्कि इसलिये कि वे उन्हें प्यार करते हैं, और इसलिए नहीं कि उनके पास विपुल सम्पत्ति, गुप्तचर, पुलिस और मशीनगन हैं बल्कि इसलिए कि उनके पास ऐसा नैतिक प्रभुत्व है कि जब वह उससे काम लेने लगते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि वह भौतिक संसार के सारे महत्व को धूल में मिला देंगे। मैं 'प्रतीत होता है' इसलिए कहता हूं कि भौतिक शक्ति के विरुद्ध उसका प्रयोग सहृदयता, सहानभूति अथवा दया के बिना निरर्थक है। इसे अपने मोर्चों में केवल इसलिए विजय प्राप्त होती है कि यह अपने दुश्मन की अन्तरात्मा में सोई हुई उस नैतिकता या मनुष्यता को जगाती है, जो ऐसा मृदुल-मधुर तत्व है कि मनुष्य पशु बनने का कितना भी यत्न क्यों न करे, उससे पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सकता। बीस वर्ष पहले मैंने इसीसे गांधीजी के बारे में लिखा था कि, "वह एक ऐसे युद्ध में लगे हुए हैं, जिसमें असहाय और निःशस्त्र आत्मिक-शक्ति का भौतिक साधनों से अत्यधिक सम्पन्न लोगों के साथ मुकाबला है। उस युद्ध का अन्त हमें इस भय में दीख पड़ता है कि भौतिक साधनों से सम्पन्न लोग धीरे-धीरे युद्ध का एक-एक मोर्चा हारते जाते हैं और आत्मिक शक्ति की ओर झुकते चले जा रहे हैं।"

हम निस्सन्देह, यह नहीं मान सकते कि आत्मिक-प्रभुता रखनेवाले व्यक्ति का नेतृत्व सदा ही सही होता है। उसके दावों और कार्यों का समर्थन या प्रतिवाद सहसा शायद ही किया जा सकता है, क्योंकि उसका संचालन तो उन मानवों द्वारा ही होता है, जो साधारण मनुष्यों के समान भूलों से परे नहीं है और शक्ति-सम्पन्न होने पर जिनका स्वेच्छाचारियों के समान पतन होना संभव है। लेकिन नैतिकता के बल पर शासन करनेवालों, अथवा अन्य साधारण शासकों में भी गांधीजी का स्थान अद्वितीय ही है। पहली बात तो यह है कि वह कोई आदेश या हुक्म नहीं देते। केवल अपील करते हैं, हमारी अन्तरात्मा को संबोधन करते हैं। वह बताते हैं कि वह किस बात को सत्य मानते हैं। लेकिन उनकी उपेक्षा और नहीं करते, जो उनसे भिन्न क्षेत्र में सचाई की खोज करते हैं।

दूसरी बात यह है कि उनका लड़ाई का तरीका अजीब और अनूठा है, जिसे कि उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों के अधिकारों के लिए लगातार पन्द्रह

वर्ष तक लड़ी गई लड़ाई में खूब अच्छी तरह प्रकट कर दिया है। वह और उनके अनुयायी बार-बार गिरफ्तार करके जेल भेजे गये, नैतिक अपराध करनेवालों के साथ रक्खे गये और उनके साथ अमानुषिक व्यवहार किया गया। लेकिन जब भी कभी उनकी दमन करनेवाली सरकार कमजोर पड़ी या उसपर कोई संकट आया, अपनी बात को मनवाने एवं लाभ उठाने के बजाय उन्होंने अपना रुख बदल दिया और उसकी सहायता की; जब वह भीषण-युद्ध की भयानक दलदल में धँस गई, तब उसकी सहायता के लिए उन्होंने हिन्दुस्तानी स्वयंसेवकों की सेना खड़ी की। अपने हिन्दुस्तानी अनुयायियों की अहिंसात्मक हड़ताल के जारी रहते हुए जब सरकार के लिए क्रान्तिकारी लोगों की रेलवे की हड़ताल की आशंका उपस्थित हुई, तब उन्होंने सहसा अपने लोगों को काम शुरू करने की आज्ञा दे दी, जिससे उनके विरोधी निरापद हो जांय। इसमें आश्चर्य ही क्या कि अन्त में उनकी विजय हुई। कोई भी सहृदय शत्रु इस तरीके की लड़ाई का सामना नहीं कर सकता।

तीसरी बात, जो कि एक नेता के लिए बड़ी कठिन होती है, यह है कि गांधीजी कभी यह दावा नहीं करते कि उनसे भूल या दोष नहीं होता। यह भी उस हालत में जबकि असंख्य लोग उन्हें एक आदर्श मानकर पूजते हैं। हमें पता है कि इस समय उन्होंने अपने असहयोग आन्दोलन को रोक रक्खा है, जिससे कि वह और उनके विरोधी आत्म-निरीक्षण तथा परीक्षण कर सकें।

एक निःशस्त्र व्यक्ति का करोड़ों मनुष्यों पर नैतिक प्रभुत्व होना स्वतः ही आश्चर्यजनक है। लेकिन जब वह न केवल हिंसा को छोड़ने की शपथ लिये हुए है, बल्कि अपने शत्रुओं तक की संकट में सहायता करता है और अपनी मानवीय कमजोरियों को भी स्वीकार करता है तब वह निर्विवाद रूप से सारे संसार का श्रद्धाभाजन बन जाता है। एक दूसरे देश में बैठे हुए, बिलकुल भिन्न सभ्यता को मानते हुए, जीवन-सम्बन्धी अनेक व्यावहारिक समस्याओं के बारे में उनसे सर्वथा विपरीत विचार रखते हुए, उस यूरोप के चिन्ताशील तथा संघर्षमय विचारों में निमग्न रहते हुए भी, जिसमें मनुष्य का दिल और दिमाग पाशविक शक्ति और अज्ञान की चोट खाकर अपने को कुछ समय के लिए असहाय-सा अनुभव कर रहा है, मैं बहुत खुशी के साथ इस महापुरुष का 'महात्मा गांधी' के उस शुभ नाम से पुकारता हूँ जिसका कि उसके भक्त उसके लिए दावा करते हैं और बड़ी श्रद्धा और आदर के साथ उसका उच्चारण करते हैं।

: ३४ :

सुदूरपूर्व से एक भेंट

योन नागूची

दिसम्बर १९३५ के अन्त में नागपुर से बम्बई जाते हुए मै वर्धा ठहरा था। वर्धा एक साधारण-सा शहर है। लेकिन नैतिक दृष्टि से वह गांधीजी के आन्दोलन का केन्द्र बना हुआ है। मुझे गांधीजी को आश्रम में देखकर वहुत खुशी हुई। वह आश्रम एक तपोभूमि या साधना-मन्दिर था, जहाँ पुराने ऋषिमुनियों या साधकों से सर्वथा भिन्न रूप में इस युग के ऋषि पर अपने राष्ट्र के जीवन की आशा या पीड़ा की समस्त हलचलों की प्रतिक्रिया होती है। बीमारी के कारण वह उस समय वर्गाकार ओर बीच में आंगन वाली दुमंजिले मकान की पक्की छत पर लगाये गये एक तम्बू में लेटे हुए थे। सन्त की जैसी एक मुसकराहट उनके चेहरे पर थी। उनकी नंगी टांगे दुवली-पतली पर लोह-शलाका-सी मजबूत सामने फैली थी। एक शिष्य मालिश कर रहा था। इस साधारण और अलिप्त-से आदमी का उन महान् ऐतिहासिक उपवासों के साथ मेल मिलाना मेरे लिये कठिन हो गया, जिन्होंने इंग्लैण्ड की विशाल आत्मा को भी एक बार भय से थर्रा दिया था। जब मैंने सूती कपड़े मे लिपटी कोई चीज उनके सिर पर रक्खी देखी तब मैंने पूछा कि यह क्या है? तो उन्होंने बताया कि वह गीली मिट्टी है, जो कि उनके डाक्टरों के कथनानुसार उनके जैसे खून के दवाव वाले लोगों के लिए फायदेमन्द होती है। फिर कुछ व्यंग और कुछ दार्शनिकता से मिश्रित मुसकान के साथ वोले, "मैं हिन्दुस्तान की मिट्टी से पैदा हुआ हूँ और यही हिन्दुस्तान की मिट्टी मेरे सिर का ताज है।"

थोड़ी-सी वात करने के बाद मैं उनसे विदा लेकर उनके तीन या चार शिष्यों मे मिलने के लिए नीचे आया, जो मुझे सारा आश्रम दिखाने के लिए नीचे खडे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मधु-मक्खियाँ रहने के स्थान के पास से गुजरने के बाद मैं तेल की घानी के पास पहुँचा। उसके वाद में वहाँ पहुँचा, जहाँ कागज बनाने का प्रयोग किया जा रहा था। उन मेरे साथ वालों में से एक ने कहा कि "कागज बनाना कितना सुगम है। यदि पूरक धन्धे के तौर पर इसका हमारे देश में चलन हो जाय तो हम अपना कितना रुपया अपने ही देश मे बचा कर रख सकेंगे?" यह कहने की जरूरत नहीं कि आश्रम में चरखे को प्रधान स्थान प्राप्त है। एक छोटा-सा लकड़ी

का डिब्बा लाया गया, जिसे खोलने पर एक छोटा-सा चरखा प्रकट हुआ। इसका गांधीजी ने जेल में खाली समय में स्वयं आविष्कार किया था। मुझे कहा गया, "आप इसे अपने हैण्डबेग तक में रख सकते हैं और खाली समय में सूत कातने के लिए रेलगाड़ी के सफर में इसे साथ ले जा सकते हैं।"

फिर मुझे बताया गया कि "गांधीजी एक विशेष वैज्ञानिक व्यक्ति हैं। उनका अटूट धैर्य सदा उनके आविष्कारक मन का साथ देता है, जिससे उन्हें पूरी तरह सफलता मिलती है। अगर वह घड़ीसाज होते तो उन्होंने संसार में सर्वोत्तम घड़ी बनाने का श्रेय-सम्पादन किया होता। सर्जन या वकील के रूप में भी उन्होंने सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त की होती। लेकिन १९२२ के मुकदमे के समय अपने को पेशे से किसान और जुलाहा उन्होंने बताया और इस तरह हाथ की मजूरी की पवित्रता में निष्ठा प्रकट की। ऐसे कामों में वह कताई को सब से अधिक महत्व देते हैं, क्योंकि उनका खयाल है कि इससे मनुष्य मितव्ययी बनने के साथ-साथ समय का भी ठीक-ठीक उपयोग करना सीख जाता है। वह किसी भी वस्तु के अपव्यय को सबसे अधिक घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका यह विश्वास है कि हाथ की मिहनत से ही हिन्दुस्तान को नया जीवन मिल सकता है। इसलिए चरखे को अपना आदर्श मानकर वह जनता से स्वतन्त्र जीवन के झण्डे के नीचे आने के लिए अपील कर रहे हैं।"

यह तो केवल आकस्मिक घटना है कि उनका आन्दोलन ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध एक विद्रोह प्रतीत होता है, क्योंकि वह आन्दोलन, जहां एक ओर भारत को नीतिभ्रष्टता से बचावेगा वहाँ वह दूसरे देशों को भी उबारेगा। क्योंकि वह शक्ति को उत्पादक कामों में लगाने की तथा खेतों और खलिहानों से मिलते-जुलते जीवन बिताने की महान् शिक्षा देता है। दूर के आदर्शों के पीछे भटकते फिरने की अपेक्षा अपने आस-पास के लोगों की ही सेवा करने का महत्त्व केवल हिन्दुस्तान तक ही सीमित नहीं रह सकता। स्वदेशी की 'आत्म-निर्भरता का और स्वावलम्बन' की भावना का प्रभाव समस्त देश और काल में व्यापक होकर रहेगा।

दीन-दुखियों और गरीबों की सेवा करने और उनके साथ अपने को तन्मय करने से अधिक पवित्र और ऊँचा मार्ग ईश्वरोपासना के लिए गांधीजी नहीं ढूंढ़ सकते। उदाहरण के लिए वह जब रेल में सफर करते हैं, तो सदा ही तीसरे दर्जे का टिकिट लेते हैं। इससे वह अपने आपको यह याद दिलाते हैं कि वह उन निम्नतम मनुष्यों में से हैं, जिनमें मानवता और स्नेह ही सबसे बड़ी सम्पत्ति माने जाते हैं। गांधीजी ने अपने जीवन का सर्वोत्तम भाग मजूरों के साथ बिताया है और उनके

सुख-दुःख में समान भाग लिया है। इस कारण वह आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी जीवन बिताने की प्रेरणा देते रहने के लिए अपने मित्रों को चरखा भेंट करते हैं।

बम्बई जाते हुए गाड़ी मे अपने डिब्बे मे अकेला लेटा हुआ मै अपने मन से महात्मा गांधी की मूर्ति को थोड़े समय के लिए भी दूर नही कर सका। मुझे एकबार उनका एक छोटा-सा निबन्ध 'स्वेच्छापूर्वक गरीबी' (अपरिग्रह) पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, जिसमें उन्होंने उन वस्तुओं के परित्याग से होनेवाले अपने आनन्द का वर्णन किया है, जो कभी उनकी अपनी थीं। उनका यह विश्वास है कि हिन्दुस्तान सरीखे देश में अनिवार्यतः आवश्यकता से अधिक अपने पास कुछ रखकर जीवन-निर्वाह करना डाकेजनी करके गुजारा करने के समान है। जब तक कि तुम उसके जैसे न हो जाओ, जो नंगा और भूखा बाहर खुले में सोता है तब तक तुम्हे यह कहने का अधिकार नहीं कि तुम हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों की रक्षा कर सकते हो। मुझे बताया गया कि जिस कपड़े से गांधीजी अपने-आपको ढांपते हैं, वह भी कम-से-कम है। यह स्वाभाविक है कि गांधीजी गरीबी की इस स्तुति से आगे बढ़कर साधना और तप के आदर्श पर पहुँच जांय, और आत्म-शुद्धि के अर्थ इन्द्रिय निग्रह की साधना करें।

: ३५ :

विविधरूप गांधीजी

पट्टाभि सीतारामैया

"जो व्यक्ति अपने इन्द्रिय-सुख की कुछ परवाह नहीं करता, जो अपने आराम या प्रशंसा या पद-वृद्धि की कुछ चिन्ता नहीं करता, किन्तु जो केवल उसी बात के करने का दृढ निश्चय रखता है जिसे वह सत्य समझता है, उससे व्यवहार करने में सावधान रहो। वह एक भयंकर और असुविधाजनक शत्रु है, क्योंकि उसके जा सकने वाले शरीर पर काबू पा करके भी तुम उसकी आत्मा पर बिलकुल अधिकार नहीं कर सकते।"

—प्रो० गिलबर्ट मरे

संसार ने समय-समय पर महान् पुरुषों को जन्म दिया है। प्रत्येक राष्ट्र ने अपने संत, अपने शहीद, अपने वीर, अपने कवि, अपने योद्धा और अपने राजनीतिक उत्पन्न किये हैं। भारतवर्ष में हम अपने महापुरुषों को अवतार कहते हैं। वे ऐसे व्यक्ति हैं जो पुण्य की रक्षा और पाप का नाश करने के लिए ईश्वर के मूर्तरूप होकर पृथ्वी पर आते हैं। हमारे लिए गांधीजी एक अवतार हैं, जिन्होंने इस कर्मरत संसार में पूर्ण अहिंसा को कार्यान्वित करके बताया है।

गांधीजी की सम्मति में स्वराज्य का अर्थ यह नहीं है कि गोरी नौकरशाही की जगह काली नौकरशाही कायम हो जाय। स्वराज्य का अर्थ है जीवन के ढांचे का बिल्कुल बदल जाना। दूसरे शब्दों में, भारत का पुनर्विजय करना। उनके मस्तिष्क में तो समस्या यह है कि देश के भिन्न-भिन्न टुकड़ों को, जो प्रादेशिक दृष्टि से प्रान्तों और देशी राज्यों में, सम्प्रदायों की दृष्टि से हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाईयों में, व्यवसायों की दृष्टि से शहरी और देहाती समुदायों में बंटे हुए हैं, और जो कहीं 'बहिर्गत प्रदेशों' और कहीं 'अन्तर्गत प्रदेशों' में विभक्त हैं, किस प्रकार एक सूत्र में ग्रंथित किया जाय। वह यह भी चाहते हैं कि राष्ट्र की संस्कृति का पुनरावर्तन किया जाय और उसमें आधुनिक जीवन में से ग्रहण की जाने योग्य बातों को भी ग्रहण किया जाय, सेवा के आदर्श को पुनर्जीवित किया जाय, नई सभ्यता से उत्पन्न हुई स्वार्थ-परायणता के स्थान पर दीन-दरिद्रों के प्रति दया की भावना बढ़ाई जाय, पीड़ित समाज में अत्यन्त धनिकों और अत्यन्त निर्धनों के समुदाय बनने देने के स्थानों पर निम्न श्रेणी वालों की सतह पर लाया जाय, सभी लोगों के लिए अन्न-वस्त्र की व्यवस्था की जाय और कुछ लोगों के उत्कर्ष की खातिर रहन-सहन की कोटि ऊँची करने के बजाय, यदि आवश्यक हो तो, औसत-जीवन-कोटि को ही कुछ नीचा कर दिया जाय। इस दृष्टि से उन्होंने अपने जीवन में ही एक नये सामंजस्य का विकास किया है, और हिन्दू-धर्म के चारों **वर्णों** और चारों **आश्रमों** को उन्होंने अपने जीवन में संन्निविष्ट कर लिया है। वह **ब्राह्मणों** का कार्य करते हैं, वह व्यवस्था देते हैं। वह **क्षत्रिय** हैं, वह भारत के मुख्य चौकीदार हैं। **वैश्य** के रूप में वह भारत की सम्पत्ति का विनियोग करते हैं, और **शूद्र** के रूप में उन्होंने अन्न और वस्त्रकी उत्पत्ति की है। अपने ऊपर चलाये गये सुप्रसिद्ध अभियोग में उन्होंने कहा था कि मैं जुलाहा और किसान हूं। और **गृहस्थ** होते हुए भी वह ब्रह्मचारी की भांति संयम से रहते हैं, **वानप्रस्थ** की भांति अपनी पत्नी के साथ मानव-जाति की सेवा करते हैं। और वह सच्चे **संन्यासी** भी हैं, क्योंकि उन्होंने अपना सब-कुछ मनुष्य-जाति के कल्याण

के लिए परित्याग कर दिया है। इतने पर भी गांधीजी प्रधानतः एक मनुष्य हैं। वह मानवोत्तर होने का न ढंग रखते हैं न कोई ऐसा दावा ही करते हैं। वह पक्के कार्य-कुशल आदमी हैं, बड़ी उम्र के लोगों में खुश-मिजाज हैं, और मनुष्य-जाति लिए एक साधु हैं, ऋषि हैं, पथ-प्रदर्शक हैं, दार्शनिक हैं और सबके मित्र हैं। उनका चेहरा तेजोमय है, उनकी दोनों आँखों में तेज है और उनकी हंसी में तो उनका सम्पूर्ण अन्तर्तम बाहर प्रकट हो जाता है। वह एक अंश में स्पष्टवक्ता हैं, और उन्हें लोगों के पीठ पीछे आक्षेप सुनने की आदत नहीं है। किन्तु वह आक्षेपकर्त्ताओं के समक्ष ही आक्षिप्तों के सामने उन्हें रख देते हैं। वह आपके स्पष्टीकरण को स्वीकार कर लेते हैं, और आपकी बात को सत्य मान लेते हैं। वह बातचीत बड़ी निश्चित और नपी-तुली करते हैं और आशा करते हैं कि उनके वक्तव्यों को समझने में उनके 'अगर-मगर' को तथा प्रधान वाक्यांशों को ध्यान में रक्खा जायगा। अधिकांश लोगों ने उनके प्रधान वाक्यांशों को तो ले लिया; पर 'अगर-मगर' को भुला दिया, और इस प्रकार अपने उत्तरदायित्वों को उठाये बिना उन्होंने वाह्य परिणामों की आशा बाँध ली। उनकी लेखन-शैली अपनी ही और विलक्षण है। उसमें छोटे-छोटे वाक्य होते हैं—छोटे, उतने ही प्रबल, सीधे और उतने ही गतिमान, जैसे तीर; और असर करने में भयंकर। गांधीजी उपनिषदों में वर्णित पूर्ण पुरुष हैं, जिनसे परिचित होना एक सौभाग्य है, और जिनके साथ काम करना एक वरदान है। वह भगवद्गीता के स्थितप्रज्ञ हैं, जिन्होंने अपने आत्मसंयम और आत्मत्याग से अपने आप पर और संसार पर विजय पाई है।

सत्याग्रही के रूप में गांधीजी पराजय को जानते ही नहीं। जब राष्ट्र आक्रामक कार्यक्रम से थक जाता है तो उसे फौरन रचनात्मक-कार्यक्रम में लगा दिया जाता है। जिस सरलता से कारखाने में मशीन का पट्टा फास्ट पुली से लूज़ पुली पर आ जाता है, उसी सरलता से गांधीजी के शक्ति-चक्र का पट्टा भी युद्ध के विध्वंसक क्षेत्र से रचनात्मक-क्षेत्र पर उतर आता है। उतनी ही तेजी-फुर्ती से वह सविनय आज्ञाभंग के आक्रामक-कार्यक्रम का बटन दबा देते हैं, और यह कार्यक्रम भी तूफान या ज्वार की-सी तीव्रता और वेग के साथ बढ़ जाता है। उनके आक्रमण कितने प्रबल होते हैं, यह संसार अच्छी तरह से जानता है। उन्हें खुद मालूम न था कि वह सामूहिक सविनय आज्ञा-भंग कैसा होगा। पर वह जानते थे कि वह आज्ञा-भंग होगा जो सविनय या अहिंसात्मक रूप में होगा और अपरिमित परिमाण पर सामूहिक रूप में कार्यान्वित किया जायगा। उनके युद्धों में, जो कि देखने में तो नगण्य होते

हैं किन्तु जिनका लक्ष्य एक ओर निश्चित, परिणाम स्थाई और व्यापक होता है, कोई-न-कोई नैतिक प्रश्न जरूर शामिल रहता है। कभी तो अमृतसर-हत्याकाण्ड का प्रश्न ले लिया जाता है, जिसके लिये क्षमा-याचना की मांग की जाती है; कभी खिलाफत के अन्याय का प्रश्न होता है, जिसका घटनास्थल तो दूर-देशीय होता है, किन्तु परिणाम और प्रभाव निकटवर्ती होता है ; तो कभी-कभी नमक-कर का ही प्रश्न उठा लिया जाता है, जो यद्यपि छोटा सा कर है, किन्तु जो परिणाम में पापमय है। जब संसार समझता है कि गांधीजी पराजित हो गए तब उस पराजय को वह एक वाक्य से विजय बना लेते हैं।

गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम की देश में स्तुति भी हुई है और निन्दा भी हुई है, और उसके प्रति आज भी अधिकांश जनता का आकर्षण कम है। उनका खद्दर दरिद्रों की रामबाण औषधि है, नया आर्थिक कवच है, विधवाओं और अनाथों का अपाहिजों और अन्धों का आश्रयदाता है। खद्दर किसानों को, जो कि ऋण और कर के असह्य बोझ से दबे जा रहे हैं, सहारा देने वाला एक सहायक धन्धा है। खद्दर का पुनर्जीवन स्वयं एक नया पन्थ ही है ; क्योंकि वह मानव-जाति पर यंत्रवाद के आघात का विरोध करता है। कारण कि यंत्र जब तक नौकर है तब तक ठीक है, पर मालिक बन जाने पर वे बुरे साबित होते हैं। खद्दर भारत की उत्पादनशील प्रतिभा के पुनर्जीवन का एक चिह्न है। खद्दर कारीगर की अपनी स्वतन्त्रता और मिल्कियत की भावना का, जो कि भारतीय कारीगर में सदा अनुप्राणित रही है, मूर्तस्वरूप है। खद्दर पवित्रता और परिवार की अक्षुण्णता के वातावरण का, जिसमें की भारतीय शिल्पकला सदा फूली-फली है, एक प्रतीक है। खादी भारतीय देशभक्त की वर्दी है और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का बिल्ला है। गांधीजी के प्रधान-काल के प्रथम पांच वर्ष खद्दर की जड़ मजबूत करने में लग गए, जिससे कि अन्य ग्रामीण उद्योगों और घरेलू धंधों का रास्ता साफ हो जाय और जीवन में मशीन की, जो कि हिंसा का ही एक चलता-फिरता रूप है, मर्यादा सुनिश्चित हो जाय।

गांधीजी के रचनात्मक-कार्यक्रम के तीन भाग हैं—वह **खद्दर** के रूप में आर्थिक, **अस्पृश्यता निवारण** के रूप में सामाजिक और **मद्य-निषेध** के रूप में नैतिक है। पहले भाग को पूर्ण करके वह दूसरे भाग में लग गए, और सितम्बर १९३२ में उनके आमरण अनशन करने की घटना तो अब विश्व-इतिहास का एक अध्याय ही बन गयी है। और तीसरे भाग मद्य-निषेध को प्रांतीय स्वतंत्रता के अधीन मंत्रियों

के कार्यक्रम में सम्मिलित करके कार्यान्वित किया जा रहा है। अभी कुछ ही हफ्ते पहले गांधीजी ने बडे दु:ख के साथ निराशा प्रकट की थी कि उनके विश्वस्त सहयोगी इस सुधार की दिशा में बहुत धीरे-धीरे कदम बढ़ा रहे हैं, क्योंकि उन्होंने भारत में पूर्ण मद्य-निषेध के लिए जो मियाद रक्खी है, वह साढ़े तीन वर्ष की ही है। रचनात्मक-कार्यक्रम का चौथा भाग सांस्कृतिक है, और वह है **राष्ट्रीय शिक्षा,** जिसके लिए हरिपुरा में एक अखिल-भारतीय बोर्ड कायम कर दिया गया है, और उसके तत्त्वावधान में वर्धा-योजना नामक शिक्षा-पद्धति का प्रचार किया जा रहा है, जिसका लक्ष्य है बच्चों के शिक्षण को राष्ट्र के जीवन से सम्बन्धित करना। केवल एक बड़े सुधार का होना रहा है—**साम्प्रदायिक एकता** का, जो मुख्यत: हिन्दू-मुस्लिम एकता ही है। इसका गुरुमन्त्र तैयार होने में कुछ देर नहीं है, और इस एकता का जो तरीका सोचा गया है उसमें अनुपातों का सौदा नहीं होगा, किन्तु भारत के दो बड़े समुदायों की उदात्त भावनाओं ओर बुद्धिमत्ता को जाग्रत करना होगा। इस प्रकार जब राष्ट्र की प्रवृत्तियों और ध्यान को एक बार सैन्य और शस्त्र-संग्रह करने में और दूसरी बार युद्ध करने में लगा दिया जाता है, या कभी-कभी यह क्रम पलट भी दिया जाता है, तो जीत या हार की बात कोई नहीं कह सकता।

गांधीजी के विचारानुसार ब्रिटेन से लड़ाई मूलत: एक नैतिक लड़ाई है, क्योंकि अंग्रेजों ने अपनी केन्द्रीय सत्ता के चारों ओर जो सात नैतिक (अथवा, अनैतिक) किलेबन्दियाँ खड़ी की हैं, वे हैं—सिविलसर्विस (सरकारी नौकरियाँ व्यवस्थापिका सभाएं, अदालतें, कालिज, स्थानीय स्वशासन-संस्थाएं,व्यापार और उपाधिकारी वर्ग। गांधीजी के असहयोग के कार्यक्रम का उद्देश्य बारी-बारी से इनमें से हरेक को और अन्त में सभी को नष्ट कर देना ही है। कौंसिलों, अदालतों और कालिजों का बहिष्कार इसी योजना का एक भाग है। एक बार सरकारी नौकरों और फौजवालों से भी अपनी गुलामी छोड़ देने की अपील की गई थी। इस प्रकार भारत के अंग्रेजी राज्य की मोहकता और अजेयता का नाश किया गया था।

हिंसा और युद्ध के युग में सत्याग्रह उतना ही विचित्र हथियार है जितना कि पत्थर युग में लोहे की छुरी या बैलगाड़ियों के बीच में पेट्रोल का एंजिन। लोग इसे समझ नहीं सकते, इसमें विश्वास नहीं करते इसकी ओर भी देखना भी नहीं चाहते। जब ट्रांसवाल की सफलता का उदाहरण दिया जाता है, तो लोग

कहते हैं कि घटना तो एक छोटे-से परिमाण में हुई थीं। वह एक छोटी-सी लड़ाई थी। वह उदाहरण भारत जैसे विशाल देश के लिए लागू नहीं हो सकता। चम्पारन, खेड़ा और बोरसद को भी यह कहकर तुरन्त नगण्य बता दिया जाता है कि वे भी छोटी-छोटी-सी सफलताएं थीं, जिनकी राष्ट्रव्यापी रूप में पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। किन्तु आज तो सारी शंकाएं मिट चुकी है और सब कठिनाइयां हल हो गई हैं। समस्या यही है कि सत्याग्रह को सत्य और उसकी आनुषंगिक--अहिंसा--की सीमा के भीतर रक्खा जाय। सत्य और अहिंसा जो इस नये हथियार के दो अंग हैं, निष्क्रिय नहीं हैं; निषेधात्मक तो हैं ही नहीं। वे विधानात्मक, आक्रामक शक्तियां हैं, जिनसे कि कार्यक्रम में वही सब गुण आ जाते हैं जो कि हिंसा के क्षेत्र में युद्ध में होते हैं। अपने शत्रुओं को घबरा देने और भयभीत करने और अन्त में उनका हृदय-परिवर्तन करके उन्हें जीत लेने; अपने अनुयायियों में एक सख्त अनुशासन-भावना पैदा करने; इस नये शस्त्र के समर्थकों के मस्तिष्क और भावना को प्रभावित करने; साहस, त्याग और धैर्य को जाग्रत करने; अत्यल्प पूंजी से और विनाशक शस्त्रास्त्र की सहायता के बिना ही राष्ट्र-व्यापी प्रतिरोध खड़ा करने के कारण सत्याग्रह एक निश्चयात्मक और अदम्य शक्ति का काम देता है, और अनुभव भी इसकी उपयोगिता का काफी प्रमाण देता है।

गांधीजी की सत्य और अहिंसा-सम्बन्धी धारणा को बहुत कम लोग समझते हैं। उनके मतानुसार दोनों के दो-दो स्वरूप हैं--क्रियात्मक और निषेधात्मक। चम्पारन के कलक्टर ने उन्हें एक कड़ा पत्र लिखा था, जिसे उसने बाद में वापस लेने निश्चय किया और वापस माँगा। जब गांधीजी के नये अनुयायी उसकी नकल करने लगे तो उन्होंने उन्हें फटकारा और कहा कि अगर उसकी नकल रक्खी गई तो पत्र वापस लिया हुआ नहीं कहा जायगा। यह सत्य की एक नई परिभाषा थी, और इसी की पुनरावृत्ति गांधी-अरविन समझौते के समय भी हुई, जब कि होम सेक्रेटरी श्री इमरसन का अपमानजनक-पत्र पुनर्विचार के बाद वापस लिया गया। कांग्रेस के कागजों में उसकी नकल नहीं है। इसका कारण भी यह था कि वापस लिए हुए पत्र की नकल रखना अपनी फाइलों में और अपने हृदयों में उसे बनाये रखने के बराबर है। और ऐसा करना असत्य होगा और अहिंसा के विरुद्ध होगा।

गांधीजी हिंसा के सूक्ष्मतम प्रोत्साहन को भी सहन नहीं करते। सन् १९२१ में जब गांधीजी की यह राय हुई कि अलीबन्धुओं के भाषणों में से हिंसा के अनुकूल

अर्थ निकाला जा सकता है तो उन्होंने उनसे एक वक्तव्य निकलवाया कि उनका ऐसा कोई इरादा नहीं था। किन्तु जब उन्हीं अलीबन्धुओं पर अक्तूबर १९२१ में कराची-भाषण के कारण मुकदमा चलाया गया तो उन्होंने उसी भाषण को त्रिचनापल्ली में दोहराया और सारे भारतवर्ष में उसी को हजारों सभामंचों पर दोहरवाया। उनके सामने एक ही कसौटी रहती है—क्या भाषण पूर्णतया अहिंसात्मक है? यदि अहिंसात्मक है, तो वह उतनी ही शीघ्रता से उस पर चुनौती देने को तत्पर रहते हैं, जितनी शीघ्रता से कि यदि वह अहिंसात्मक नहीं हैं तो क्षमा मांगने को भी तैयार हो जाते हैं। चूँकि उनका अहिंसा-सम्बन्धी दृष्टिकोण ऐसा है। इसलिए जब सन्१९२१ के सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन में, ब्रिटिश युवराज के आगमन के समय, ५३ आदमी मारे गये और ४०० घायल हुए तो उनके हृदय को बड़ा आघात पहुँचा। उन दिनों में उन्होंने प्रायश्चित के रूप में पांच दिन का उपवास किया था जो कि उनके बाद के २१ दिन और २८ दिन और अन्त में किये गये प्रायोपवेशन के मुकाबिले, आज इतने समय बाद भले ही बहुत छोटा-सा दिखाई देता हो।

गांधीजी का असहयोग सदा अन्त में सहयोग स्थापित करने के इरादे से किया गया है, किन्तु उन्होंने अपने सत्य और अहिंसा के मूलतत्वों को कभी नहीं छोड़ा है जैसा कि उनके १ फरवरी १९२२ के लार्ड रीडिंग को लिखे हुए पत्र से प्रकट होता है—

"किन्तु इससे पहले कि बारडोली के लोग सचमुच सविनय आज्ञा-भंग प्रारम्भ कर दें, मैं भारत-सरकार के प्रमुख के नाते आपसे सादर अनुरोध करूँगा कि आप अपनी नीति का पुनर्निरीक्षण करें, और समस्त असहयोगी कैदियों को, जो देश में अहिंसात्मक-कार्यों के कारण दण्डित हुए हों, या विचाराधीन हों, छोड़ दें चाहे वे खिलाफत का अन्याय दूर कराने के कारण हों या पंजाब के अत्याचारों के कारण हों या स्वराज्य के या अन्य कारणों से हों, और चाहे वे ताजीरात हिन्द की या जाब्ता फौजदारी या दूसरे किसी भी दमनकारी कानून की धाराओं के भीतर भी आते हों। शर्त केवल अहिंसा की है। मैं आप से यह भी अनुरोध करता हूँ कि आप अखबारों को शासन-विभाग के समस्त नियन्त्रणों से मुक्त कर दें। और हाल में जबर्दस्ती किए गये जुर्मानों और जब्तियों को भी वापिस करदें। इस प्रकार का अनुरोध करके मैं आप से वही मांगता हूँ, जो कि आज प्रत्येक सभ्य शासनाधीन देश में हो रहा है। यदि आप इस वक्तव्य के प्रकाशन की तारीख से सात दिन के अन्दर आवश्यक

घोषणा निकाल देने में समर्थ हो सकेंगे, तो मैं तबतक के लिए आक्रामक-ढंग के सविनय आज्ञा-भंग को स्थगित करने की सलाह देने को तत्पर हो जाऊँगा जबतक कि कैदी कार्यकर्ता जेलों से छटकर सारी परिस्थिति पर नये सिरे से पुर्नविचार न कर लें।"

गांधीजी पर नरम विचारों के लोग यह आरोप लगाते है कि उनके आदर्श अव्यवहार्य है। उग्रविचार के लोग यह आरोप लगाते हैं कि उनका कार्यक्रम बहुत नरम है। और दोनों यह आरोप लगाते हैं कि उनके कार्य बहुत असंगत होते है। पर अपने जीवन ओर कार्य-सम्बन्धी इन परस्पर-विरोधी अनुमानों के बीच वह चट्टान की भांति अविचल खड़े रहे हैं, निन्दा और स्तुति का उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ है। उनके जीवन का एक मात्र पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त भगवद्गीता के इस श्लोक में हैं----

सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥२–३८

१८९६ मे गांधीजी पूना गये और तिलक और गोखले के चरणों में बैठकर उन्होंने राजनीति का प्रथम पाठ पढ़ा। उन्होंने कहा कि तिलक तो हिमालय के समान हैं---महान् ओर उच्च किन्तु अगम्य; और गोखले पवित्र गंगा के समान हैं, जिसमें वह निर्भीकता पूर्वक डुबकी लगा सकते हैं। १९३९ में तो गांधीजी स्वयं हिमालय-जैसे ऊँचे हो गए हैं, किन्तु वह सब के लिए सुलभ है, उन्होंने गंगा की थाह ले ली है और सदा पावन करने वाले हैं।

जब सत्याग्रह को स्थूल रूप से निष्क्रिय प्रतिरोध कहा करते थे उस समय बहुत कम लोग समझते थे कि सत्याग्रह क्या है। गोखले ने (१९०९ में) इस प्रकार उसकी परिभाषा की थी :----

उसका स्वरूप मूलतः रक्षणात्मक है, ओर वह नैतिक और आध्यात्मिक हथियारों से युद्ध करता है। निष्क्रिय प्रतिरोधक अपने शरीर पर कष्ट सह कर जुल्मों का प्रतिरोध करता है। वह पाशविक-शक्ति का मुकाबला आध्यात्मिक शक्ति से करता है; मनुष्य की पाशविक-वृत्ति के सामने दैवी-वृत्ति को खड़ा कर देता है, जुल्मके मुकाबले में कष्ट-सहन को अपनाता है; पशुबल का सामना आत्मबल से करता है अन्याय के विरुद्ध श्रद्धा का, और असत्य के विरुद्ध सत्य का सहारा लेता है।

१९३९ में सत्याग्रह एक घर-घर व्यापी शब्द बन गया है, और वह पीड़ित लोगों का चाहे वह ब्रिटिश भारत के हों चाहे देशी राज्यों के, एक सर्व-मान्य साधन

हो गया है । जर्मन आक्रमणों के मुकाबले मे यहूदियों से और जापानी हमलों के मुकाबिले में चीनियों से भी सत्यग्रह की ही जोरदार सिफारिश की जाती है ।

१९१३ में कराची में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने "भारत के आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए और भारतीयों के कष्ट दूर कराने के लिए दक्षिण अफ्रीका की लड़ाई में गांधीजी और उनके अनुयायियों ने जो वीरतापूर्ण प्रयत्न किये ओर जो अनुपम वलिदान किया", उसकी प्रशंसा का प्रस्ताव पास किया । यह प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास हुआ था । और १९३१ मे कांग्रेस के ४५वें अधिवेशन मे जोकि फिर कराची में ही हुआ था, गांधीजी को अपने वीरता-पूर्ण प्रयत्नों के लिए राष्ट्र की प्रशंसा फिर प्राप्त हुई । किन्तु दक्षिण अफ्रीका के मुट्ठीभर लोगों की ओर से नही बल्कि ३५ करोड़ जनता के पूरे राष्ट्र की ओर से, जिनकी मुक्ति का श्रीगणेश सत्याग्रह के उन्ही मुख्य और स्थायी सिद्धान्तों के आधार पर सफलतापूर्वक किया गया था ।

१९१४ मे गांधीजी ब्रिटिश-साम्राज्य के एक राजभक्त नागरिक थे, और जैसे उन्होंने बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जुलू-विद्रोह और बोअर युद्ध मे रेड-क्रास सोसाइटी का संगठन किया था, इसी तरह महायूद्ध के लिए भी सिपाहियों की भरती में सहायता दी थी । हालाँकि युद्ध-सम्बन्धी उनका रुख अव एक छोर से दूसरे छोर पर आ गया है, फिर भी कभी वह इस तरफ और कभी उस तरफ रहा । यद्यपि १९१८ के अगस्त मास तक वह भरती के मामले में अंग्रेजों को विना शर्त के सहायता देने के पक्ष में थे, तथापि १९३८ के सितम्बर में, जवकि यूरोप पर युद्ध के बादल झुके आ रहे थे, वह युद्ध की परिस्थिति से भारत के लिए लाभ उठाने के या आगामी युद्ध मे किसी अंश में भी भाग लेने के सख्त खिलाफ थे । इन दोनों चित्रों का कुछ अधिक विस्तृत अध्ययन करना ठीक होगा ।

१९१९ में तिलक के नाम एक आर्डर निकाला गया कि वह जिला मजिस्ट्रेट की आज्ञा के विना कोई भाषण न दे । कहा जाता है कि इससे एक सप्ताह पहले ही वह भर्ती कराने के पक्ष में जोरदार काम कर रहे थे, ओर अपनी सद्भावना के प्रमाण के तौर पर उन्होंने महात्मा गांधी के पास पचास हजार रुपये का एक चेक भेजा था, कि यदि मै शर्त को पूरा न कर दिखाऊँ तो यह रकम शर्त हारने के जुर्माने के रूप में जब्त कर ली जाय । शर्त यह थी कि यदि गांधीजी सरकार से पहले यह प्रतिज्ञा प्राप्त कर लें कि भारतीयों को सेना में कमीशण्ड ओहदा दिया जायगा तो तिलक महाराष्ट्र से पचास हजार आदमियों की भर्ती करा देंगे । गांधीजी का कहना

था कि सहायता किसी सौदे के रूप मे न होनी चाहिए; इसलिए उन्होंनें तिलक का चेक लौटा दिया ।

सितम्बर १९३८ में यूरोप की युद्ध-संबंधी परिस्थिति पर विचार करने के लिए दिल्ली में कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक प्रतिदिन हो रही थी। देश मे दो तरह की विचार-प्रणाली के व्यक्ति थे--एक वे जो ब्रिटेन से भारत के अधिकारों की बावत कोई समझौता करने के और उसके बाद सहायता देने के पक्ष में थे। दूसरे वे लोग थे जो युद्ध में किसी परिस्थिति में भी सहायता को तैयार न थे। गांधीजी दूसरे दल में थे, और १९३८ में किसी भी परिस्थिति में युद्ध में भाग लेने के उतने ही दृढ़ विरोधी थे जितने कि १९१८ मे ब्रिटेन को बिलाशर्त सहायता देने के पक्षपाती थे।

१९१८ में गांधीजी अनेक कार्यो में पड़ गए, जिनमें सबसे प्रसिद्ध कार्य रौलट बिलों का विरोध था। आज भी वह उसी प्रकार के उन अनेक कानूनों से लड़ने में लगे हुए है, जो भारत के अनेक देशी राज्यों में--त्रावणकोर, जयपुर, राजकोट, लीम्बड़ी, धेनकानल आदि में--पूरे जोर-शोर से अमल मे आ रहे है। उनकी योजना और उद्देश्य की बाबत भारत-सरकार द्वारा प्रकाशित 'इण्डिया--१९१९' के लेखक के लेख से अच्छा और क्या प्रमाण दिया जा सकता है :--

"गांधीजी सामान्यता ऊँचे आदर्श और पूर्ण निस्वार्थता रखनेवाले टाल्सटाय-वादी समझे जाते है। जबसे उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में भारतवासियों का पक्ष लिया तबसे उनके देशवासी उन्हें उसी परम्परागत श्रद्धा-भक्ति से देखते है, जो पूर्वीय देशों में सच्चे त्यागी धार्मिक नेता के प्रति हुआ करती हैं। उनमें एक विशेपता यह भी है कि उनके प्रशंसक केवल किसी एक ही मत के नहीं है। जबसे अहमदाबाद मे रहने लगे, तबसे उनका कई प्रकार के सामाजिक कार्यो से क्रियात्मक-सम्बन्ध हो गया है।"

"जिस किसी व्यक्ति या वर्ग को वह पीड़ित समझते है उसके पक्ष मे पड़कर लड़ने को वह शीघ्र तत्पर हो जाते है, और इस कारण वह अपने देश के सामान्य लोगों मे बड़े लोकप्रिय बन गए है। बम्बई प्रान्त के कई शहरी और देहाती जनता में उनका प्रभाव असंदिग्ध हैं, उनके प्रति लोग इतनी श्रद्धा रखते है कि उसके लिए 'पूजन' शब्द कहना अत्युक्ति न होगा। चूकि गांधीजी भौतिक शक्ति से आत्मिक-बल को ऊँचा समझते हैं, इसलिए उनको यह विश्वास हो गया कि रौलट-एक्ट के विरुद्ध निष्क्रिय-प्रतिरोध का वही शस्त्र प्रयुक्त करना उनका कर्तव्य है, जो

उन्होंने सफलतापूर्वक दक्षिण अफ्रीका में प्रयुक्त किया। २४ फरवरी को यह घोषणा कर दी गई कि अगर बिल पास कर दिये गये तो वह निष्क्रिय प्रतिरोध या सत्याग्रह चलायेंगे। सरकार ने और कई भारतीय राजनीतिज्ञों ने भी इस घोषणा को अत्यन्त गम्भीर समझा। भारतीय-लेजिसलेटिव-कौंसिल ने कुछ नरम विचार के मेम्बरों ने सार्वजनिक-रूप में ऐसे कार्य के भयंकर परिणामों की आशंका प्रकट की। श्रीमती बेसेण्ट ने। जिन्हें भारतवासियों के मानस का अच्छा ज्ञान था, अत्यन्त गम्भीर भाव से गांधीजी को चेता दिया कि जिस प्रकार का आन्दोलन वह चलाना चाहते हैं, उससे भीषण परिणाम पैदा करने वाली अतोल क्रियाशक्तियां उत्पन्न होंगी। यह स्पष्ट कह देना होगा कि गांधीजी के रुख या वक्तव्यों में ऐसी कोई बात न थी,. जिससे सरकार के लिए उनके आन्दोलन शुरू करने से पहले उनके विरुद्ध कोई कार्य करना उचित होता। निष्क्रिय-प्रतिरोध विधानात्मक नहीं, बल्कि निषेधात्मक-क्रिया है। गांधीजी ने प्रकट रूप से पार्थिव बल-प्रयोग की निन्दा की। उन्हे विश्वास था कि नागरिक कानूनों के निष्क्रिय भंग से वह सरकार को रौलट-कानून हटा देने को बाध्य कर सकेंगे। १८ मार्च को रौलट-कानूनों की बाबत उन्होंने एक प्रतिज्ञा-पत्र प्रकाशित करवाया, जिसमें लिखा था—'चूंकि हमारी अन्तरात्मा को यह विश्वास है कि इण्डियन क्रिमीनल लॉ एमेण्डमेण्टबिल नं० १, सन् १९१९, और क्रिमिनल एमर्जेन्सी पावर्स बिल नं० २, सन् १९२०, अन्यायपूर्ण हैं, स्वतन्त्रता और इन्साफ के उसूलों के विरूद्ध है, जिनपर कि सम्पूर्ण भारत की सुरक्षिता और स्वयं राज्यसंस्था का आधार है, इसलिए हम गम्भीरतापूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि ये बिल कानून बना दिये गये तो जबतक ये वापस न ले लिए जायेंगे तबतक हम इन कानूनों का और आगे मुकर्रर होने वाली कमेटी जिन-जिन कानूनों का बनाना उचित समझेगी उन-उनका पालन करने मे विनयपूर्वक इन्कार कर देंगे। और हम यह भी प्रतीज्ञा करते हैं कि इस लड़ाई मे हम ईमानदारी से सत्य का अनुसरण करेंगे और जान-माल और जात के प्रति हिंसा न करेंगे।"

१९१९ (२१ जुलाई) में गांधीजी ने सरकार की और मित्रों की सलाह मान ली और सविनय आज्ञा-भंग स्थगित कर दिया। और १९३४ (अप्रैल) में फिर उन्हें अपने आपके सिवा सबके लिए सविनय आज्ञा-भंग स्थगित करना पड़ा। १९१९ मे उन्होंने कहा था कि "मुझ पर यह आरोप लगाया गया है कि मैंने एक जलती हुई दियासलाई छोड़ दी है। यदि मेरा कभी-कभी का प्रतिरोध एक जलती हुई दियासलाई है तो रौलट-कानून का बनाना और उसको जारी रखने की जिद करना

तो भारतवर्ष में हजारों जलती हुई दियासलाईयाँ बिखेर देने के समान है। सविनय प्रतिरोध की बिलकुल नौबत न आने देने का उपाय है उस कानून को ही वापस ले लेना।" दुबारा सविनय-आज्ञा-भंग स्थगित करते समय ७ अप्रैल १९३४ को अपने पटना के वक्तव्य में उन्होंने कहा :

"मुझे प्रतीत होता है कि सामान्य जनता को सत्याग्रह का पूरा सन्देश प्राप्त नहीं हुआ है, क्योंकि सन्देश उस तक पहुँचते पहुँचते शुद्ध नहीं रह पाता है। मुझे यह स्पष्ट हो गया है कि आध्यात्मिक-साधनों का प्रयोग जब आनाध्यात्मिक-माध्यमों द्वारा सिखाया जाता है तब उनकी शक्ति कम हो जाती है। अध्यात्मिक सन्देश तो स्वयं-प्रचारित होते है।"

"मैं सब कांग्रेसवादियों को सलाह देता हूँ कि वे स्वराज्य की खातिर सविनय-भंग, जो विशेष कष्टों को दूर करानेकी खातिर किये जाने वाले सविनय-भंग से भिन्न है, स्थगित कर दें। वे इसे केवल मेरे ऊपर छोड़ दें। मेरे जीवित रहने तक इस शस्त्र का प्रयोग दूसरे लोग केवल मेरे नियन्त्रण में रहकर करें, जबतक कि कोई और व्यक्ति ऐसा खड़ा न हो जाय जो इस विज्ञान को मुझसे ज्यादा जानने का का दावा करता हो और विश्वास उत्पन्न कर सके। मैं सत्याग्रह का जन्मदाता और प्रारम्भकर्त्ता होने के कारण यह सलाह देता हूँ। इसलिए जो लोग मेरी सलाह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष-रूपसे पाकर स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सविनय-आज्ञा-भंग में लग गए थे, वे कृपया सविनय-आज्ञा-भंग करने से रुक जांय। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति की लड़ाई के हित में ऐसा करना ही सर्वोत्तम मार्ग है।

"मानव-जाति के इस सबसे बड़े शस्त्र के विषय में मेरे मन में बहुत ही सर-गर्मी है।"

उसी पटना-वक्तव्य मे १९३४ में उन्होंने शोक प्रदर्शित किया कि "बहुत से लोगों के आधे हृदय मे किये हुए सविनय-आज्ञा-भंग के कारण चाहे उसका परिणाम कितना भी भयंकर क्यों न हुआ हो, सामान्यतया न तो आतंकवादियों के हृदय पर प्रभाव पड़ा और न शासकों के हृदयों पर।" किन्तु आज उन्हें यह सन्तोष मिला है कि २५०० से अधिक ऐसे मित्र नजरबन्दी से छूट गये हैं: और उन्होंनें अहिंसा पर अपना विश्वास भी प्रकट कर दिया है। हिंसा पर अहिसा की विजय का सबसे बड़ा उदाहरण तो यह हुआ कि सरदार पृथ्वी सिंह ने, जिसे मरा हुआ मान लिया गया था, किन्तु जो वास्तव में दूसरी जगह ले जाते समय हिरासत में से चलती रेल

से कूदकर भाग गया था और तब से सत्रह वर्ष तक भारत और यूरोप के बीच सरलता से फिरता रहा था, गांधीजी के हाथों में अपने आप को सौंप दिया, और उन्होंने भी उसे भारत की ब्रिटिश-सरकार की जेल के सिपुर्द कर दिया, और वह अब फिर उसकी रिहाई के लिए जोरदार प्रयत्न कर रहे हैं।[1]

१९१९ में सविनय-आज्ञा-भंग को स्थगित करने के बाद गांधीजी को पंजाब की घटनाओं के इस अप्रत्यासित-ढंग से घटित होने की बात जान कर निःसन्देह बड़ा आघात पहुँचा। उन्होंने स्वीकार किया कि उनसे "'हिमालय-जैसी बड़ी भूल हुई', जिसके कारण अयोग्य लोग जो सच्चे सविनय-आज्ञा-भंग कारी न थे, गड़बड़ पैदा करने में कामयाब हो सके।"

जब १९१९ का शासन-सुधार कानून बना, तब गांधीजी का यह मत था कि यद्यपि सुधार असन्तोषजनक और अपर्याप्त है, तो भी कांग्रेस को सम्राट् की घोषणा की भावनाओं को मानकर प्रकट करना चाहिए कि उसे विश्वास है कि "सरकारी अधिकारी और जनता दोनों इस प्रकार सहयोग करेंगे कि जिससे उत्तरदायी सरकार कायम हो जायगी।" अब इससे उनके उस रुख का मुकाबला कीजिए जब कि उन्होंने १९३७ में प्रांतीय-शासन के दैनिक कार्य में गवर्नरों द्वारा अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग न करने और दखल न देने का आश्वासन सरकार से मांगा और हिंसा-सम्बन्धी कैदियों के छोड़े जाने उड़ीसा के गवर्नर के नियुक्त किये जाने, देश के जमींदार और भूमि-सम्बन्धी कानूनों का आमूल सुधार करने और बारडोली के किसानों को उनकी जब्तशुदा जमीनें वापस दिलाने के मामलों में उन्होंने उस आश्वासन को कार्यान्वित कराया।

अमृतसर-कांग्रेस में गांधीजी ने कहा था कि "सरदार के पागलपन का जवाब समझदारी से देना चाहिए, न कि पागलपन का जवाब पागलपन से।" आज वह देश को विश्वास दिला रहे हैं कि राजकोट में और दूसरी रियासतों में जहाँ-जहाँ शासक वर्ग पागल हो रहा है वहाँ अन्त में जनता की ही विजय होगी यदि वे अहिंसा पर दृढ़ रहें और पागलपन का जवाब समझदारी से दें।

गांधीजी का पूर्णतया मानव-सेवा के क्षेत्र से निकल कर विशुद्ध राजनैतिक क्षेत्र में पहुँच जाना धीरे-धीरे अज्ञातरूप से और इच्छा के बिना ही हुआ——यह

---

१. सरदार पृथ्वीसिंह २२ दिसम्बर १९३९ को रिहा कर दिये गये।

—सम्पादक

नहीं कि वह इस क्षेत्र-परिवर्तन को जानते न थे, किन्तु वह इसको रोक न सकते थे और जब वह ऑल इण्डिया होमरूल लीग में शामिल हुए और उसके अध्यक्ष बन गए तो उन्हें अपनी शर्तों के अनुसार कर्तव्य की पुकार सुनाई दी। उनकी शर्तें उन्हीं के कथनानुसार ये थीं—स्वदेशी, साम्प्रदायिकता, राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, और प्रान्तों का भाषा के आधार पर पुनर्विभाजन आदि कार्यों के प्रचार में सत्य और अहिंसा जिनमें उन्हें विशेषज्ञता प्राप्त थी, का कड़ाई से पालन किया जाय।" उनकी दृष्टि में सुधार तो गौण थे। इस प्रकार धर्म के मार्ग द्वारा सामाजिक सेवा से राजनीति में आ जाना उनके लिए एक सरल परिवर्तन था। आज भी वह उसी मार्ग द्वारा राजनीति से फिर सामाजिक-सेवा में चले आते हैं। वास्तव में उनकी दृष्टि में दोनों चीजें एक ही हैं, जैसे कि किसी सिक्के की दो बाजुएं होती हैं, और वह सिक्का स्वयं सत्य और अहिंसा की धातुओं से बना हुआ है, जो सारे धर्मों के मूल सिद्धान्त हैं।

गांधीजी के लिए असहयोग स्वयं कोई उद्देश्य नहीं है, किन्तु किसी उद्देश्य का साधन है। उनका सहयोग का हाथ उनके विरोधी के सामने हमेशा खुला रहता है, बशर्ते कि राष्ट्र के आतम-सम्मान को उससे धक्का न लगता हो। १६२० में भी उनकी यही स्थिति थी और आज भी उनकी यही स्थिति है। १६२० में सरकार ने उसका तिरस्कार किया, १६३६ में सरकार ने उसको उत्साह के साथ अपनाना चाहा।

इसी प्रकार का परस्पर-विरोध गांधीजी के रुख में पूर्ण स्वाधीनता के विषय में १६२१ में और १६२६ में मिलता है। १६२१ में उन्होंने अहमदाबाद में कहा था:

"इस प्रश्न को आपमें से कुछ लोगों ने जैसा मामूली-सा समझ रक्खा है उससे मुझे दुःख हुआ है। दुःख इसलिए हुआ है कि इससे जिम्मेवारी की कमी मालूम होती है। यदि हम जिम्मेवार स्त्री-पुरुष हैं तो हमें नागपुर और कलकत्ता के पिछले दिनों पर वापस पहुँच जाना चाहिए।"

१६२८ में जब स्वाधीनता का प्रश्न फिर आगे लाया गया, तब गांधीजी ने निम्नलिखित अनूठी बात कही:

"आप स्वाधीनता का नाम अपने मुंह से उसी प्रकार लेते रहें जैसे मुसलमान अल्लाह का या धार्मिक हिन्दू राम व कृष्ण का नाम लेते रहते हैं। किन्तु केवल मन्त्र रटने से कुछ न होगा, जबतक कि उसके साथ अपने आत्मगौरव का भाव न होगा। यदि आप अपने शब्दों पर टिके रहने के लिए तैयार नहीं हैं तो स्वाधीनता कैसी होगी? आखिरकार स्वाधीनता तो बहुत कष्ट-साध्य वस्तु है। वह केवल शब्दाडम्बर से नहीं आ जाती।"

और १९२९ में २३ दिसम्बर को जब उन्होंने लार्ड अरविन से बातचीत समाप्त की तो प्राय: यह चुनौती दे दी कि अब वह देश को पूर्ण स्वाधीनता के लिए संगठित करेंगे ।

१९२० में सरकार ने यह विश्वास प्रकट किया कि "ऊँचे वर्ग और सामान्य वर्ग के लोग इतने समझदार हैं कि वे असहयोग को एक काल्पनिक और असम्भव-योजना समझकर त्याग ही देंगे। यदि यह सफल हो जाँय तो परिणाम यही होगा कि सर्वत्र अव्यवस्था हो जायगी, राजनैतिक अराजकता फैल जायगी और देश में जिन-जिनकी कोई माल-मिलकियत हैं उन-उनका सर्वनाश हो जायगा ।" सरकार ने कहा कि "असहयोग में द्वेष और नादानी को जाग्रत किया जाता है। उसके सिद्धान्त में कोई रचनात्मक बीज नहीं है।" यही सरकार आज उस आन्दोलन के जन्मदाता से, तथा उसके सर्वोत्तम भाग अर्थात् सविनय-भंग के उत्तराधिकारी से संधि करने को उत्सुक है ।

१९२२ में जब लार्ड रीडिंग ने गांधीजी से बातचीत की--और वह बातचीत इसलिए असफ़ल हो गई कलकत्ता में लार्ड रीडिंग के नाम गांधीजी का तार कुछ देरी से पहुंचा--उस समय प्रत्येक व्यक्ति का अनुमान था कि गांधीजी एक अव्यावहारिक बल्कि असम्भव आदमी हैं। किन्तु जब लार्ड अरविन ने १९३१ में दस साल बाद उनके छब्बीस साथियों को जेल से छोड़ दिया, तो प्रत्येक व्यक्ति ने उनके उचित बात मानने और मनवाने की तथा उनके उचित दृष्टिकोण रखने के गुणों की प्रशंसा की । और लार्ड लिनलिथगो के बीच सौजन्यपूर्ण सन्धि-चर्चा हुई तो उसमें भी यही सद्गुण फिर उसी प्रकार सामने आये; और उसी प्रकार परिणामकारी हुए, जिससे कि अन्त में कांग्रेस ने पद-ग्रहण करना स्वीकार कर लिया ।

१९२२ में चौरी-चौरा-काण्ड के कारण, जिनमें कि इक्कीस पुलिस के सिपाही और एक सब-इन्सपेक्टर और वह थाना जिसमें कि वे सब बन्द थे, जला दिये गये, गांधीजी ने सविनय-आज्ञा-भंग के सारे कार्यक्रम को स्थगित कर दिया और १९३९ में राणपुर (उड़ीसा) में बेजलगेटी की हत्या के कारण भी उन्होंने उड़ीसा की ईस्टर्न एजेन्सी की देशी रियासतों के लोगों को वही सलाह दी ! अहिंसा की सर्व-प्रधानता के मार्ग में स्वप्रतिष्ठा का खयाल कभी आड़े नहीं आया है। १९२४ मे गांधीजी के जेल से छूटने के बाद उन्होंने वक्तव्य दिया, जिसमें उन्होंने कहा कि "मेरी राय अब भी यही है कि कौंसिल-प्रवेश असहयोग के साथ असंगत है।" परन्तु १९३४ में जब सविनय आज्ञा-भंग स्थगित कर दिया गया तो कौंसिल-प्रवेश का

उन्होंने समर्थन किया, और उसको ऐसी शर्तों के साथ मन्त्रिपद ग्रहण कर लेने तक पूरी तरह कार्यान्वित कर दिया, जिससे कि मन्त्रिगण रिफार्म्स एक्ट पर राष्ट्र की इच्छा व मांग के अनसार, न कि अंग्रेजों की मर्जी के अनुसार, अमल करने में समर्थ हुए।

१९३४ में ७ अप्रैल को अपने प्रसिद्ध पटना-वक्तव्य में उन्होंने देशी राज्यों के विषय में लिखा कि "देशी राज्यों के बाबत कुछ व्यक्तियों ने जिस नीति का समर्थन किया, वह मेरी नीति से बिलकुल भिन्न थी। मैंने इस प्रश्न पर कई घण्टे गम्भीर चिन्ता के साथ विचार किया है, किन्तु मैं अपनी सम्मति बदल नहीं सका हूँ।"

१९३९ में उन्होंने अपनी सम्मति पूरी तरह बदल ली, और इसका कारण यही था कि देशी राज्यों की परिस्थितियाँ बिलकुल बदल गई। देशी राज्यों की जाग्रति ने उनकी सहानुभूति यहाँ तक प्राप्त कर ली है कि आज वह देशी राज्यों की जनता के पक्ष को अधिक-से-अधिक समर्थन दे रहे हैं, यहाँ तक कि श्रीमती (कस्तूर बा) गांधी आज राजकोट की जेल में बन्द हैं और गांधीजी ने कह दिया है कि देशी नरेशों को या तो अपनी जनता को उत्तरदायी शासन दे देना पड़ेगा या मिट जाना पड़ेगा।

सत्य और अहिंसा मनुष्य के ऊँचे अनुभव की बातें हैं, जिनको समझने के लिए आदमी में उसी प्रकार की सुशिक्षित संवेदन-शक्ति की आवश्यकता पड़ती है जैसी कि संगीत और गणित को या खद्दर-वस्त्र को और साम्प्रदायिक-एकता को समझने के लिए। सुशिक्षित-संवेदन-शक्ति से प्रत्यक्ष दिव्य-दृष्टि (intuition) विकसित होती है, और गांधीजी सदैव इसी दिव्य-दृष्टि की सहायता से निर्णय करते हैं, न कि तर्क से। सत्य की सहज-रूप से अनुभूति प्राप्त करना शिवत्व (सदाचरण) का लक्षण है। अतः शिवत्व की साक्षात् मूर्ति गांधीजी भी सत्य की अनुभूति इसी प्रकार करते हैं; और इसीलिए गांधीजी के अनुयायियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने देश, काल की नैतिक-दृष्टि तथा सामाजिक परम्परा के अनुसार उनके उपदेशों की व्याख्या करें। इसी प्रकार से ही उन्होंने १९२२ में बारडोली में सविनय-आज्ञा-भंग को सहसा स्थगित करने का, १९३० मे नमक-सत्याग्रह चालू करने का, १९३४ में सविनय-आज्ञा-भंग करने का, और १९३९ में देशी राज्यों सम्बन्धी नीति का निर्णय किया। उन्हें सहसा नये प्रकाश, नये ज्ञान का अनुभव होता है। कई बार उन्होंने कहा है कि मुझे प्रकाश नहीं मिल रहा है, और उसको पाने के लिए मै प्रार्थना करता रहता हूँ: और जब

उन्हें प्रकाश मिल जाता है तो उनके अनुयायियों को वह विचित्र प्रतीत होता है, क्योंकि उनका उपाय भी अभूतपूर्व और भयोत्पादक होता है। यदि अखिल-भारतीय कांग्रेस-समिति की किसी बैठक में एक विक्षिप्त मनुष्य बाधा डालता है तो वह स्वयंसेवकों को उसे बाहर निकाल देने से रोक देते हैं और तीन सौ सदस्यों की उस सभा को ही स्थगित कर देते हैं। बाधा डालने वाला लाचार, निष्क्रिय, हो जाता है। यदि चिराला-पेराला को जनता पर जबरदस्ती और लोगों की मरजी के विरुद्ध एक म्युनिसिपल कमेटी लाद दी जाती है तो उनका उपाय यह है कि जनता को स्थान खाली कर देना चाहिए। और वास्तव में जनता ने शहर उसी तरह खाली कर दिया जैसा कि प्राचीनकाल से ज़ेबेक डोरची के विरुद्ध विद्रोह करने वाले तातारों ने किया था। बारडोली और छरसदा के करबन्दी आन्दोलनों में किसानों से कहा गया कि अपने घर-बार छोड़ दें और निकटवर्ती बड़ौदा राज्य में जा बसें, और इस प्रकार बड़ी-बड़ी पल्टनें रखने वाली शक्तिशाली-ब्रिटिश-सरकार को भी लड़ाई में बेबस होना पड़ा। जब उड़ीसा के नीलगिरी राज्य के लोगों पर राजा ने जुल्म किये तो गलती करने वाले राजा को सीधी राह पर लाने के लिए तैयार और पुराना नुस्खा देश-त्याग बता दिया गया, और उसपर अमल भी हुआ। इन सब मामलों में सफलता जनता की सहन-शक्ति और पवित्रता पर निर्भर करती है। परन्तु गांधीजी के अनुयायी सदा उनसे सहमत नहीं होते। उन्होंने फरवरी १६२२ में बारडोली के सविनय-आज्ञा-भंग के त्याग का जोरदार विरोध किया, और अराजकता-काण्ड में जो भावना रही थी, उसकी प्रशंसा की। १६२४ के हेमन्त में जब अखिल भारतीय राष्ट्रीय-समिति की बैठक में अहमदाबाद में सिराज-गंज-प्रस्ताव पर फिर वोट लिया गया, तो गांधीजी खुली सभा में रो पड़े। उन्हें रोना इसलिए आया कि कुछ उनके ही परम अनुयायियों ने अपराध करने वाले युवक की प्रशंसा में वोट दिया था।

गांधीजी की आदत आग से खेलने की है, किन्तु वह इस जोखिम के खेल में से सदा बे-दाग निकल आते हैं। वह कई बार गिरफ्तार हो चुके हैं। प्रत्येक बार अग्नि-परीक्षा ने उनके शरीर की धातु को और भी चमकदार बना दिया है। उन्होंने अपने लोगों के पागलपन की खातिर अगणित बार खेद प्रकाशन किया है, और कांग्रेस से भी ऐसा करने का आग्रह किया है। उन्होंने सामूहिक सविनय-आज्ञा-भंग की अपनी परमप्रिय योजनाओं को भी स्थगित करना बार-बार मंजूर कर लिया है। केवल इसलिए कि कहीं-न-कहीं, कितनी ही दूर पर क्यों न हो, हिंसा हो गई।

गांधीजी जब बात करते हैं, तब की अपेक्षा देश पर उनका प्रभाव उस समय अधिक पड़ता है जब वह मौन रहते हैं, और जब वह कांग्रेस के अन्दर रहते हैं, तब की अपेक्षा अधिक प्रभाव उस समय पड़ता है जब वह उसके बाहर रहते हैं। लोग शायद भूल गए होंगे कि उन्होंने १९२५ में कानपुर में राजनैतिक मौन रखने का प्रण किया था, जिसे उन्होंने दिसम्बर १९२६ में गोहाटी में समाप्त किया लेकिन उनके लिए तो शारीरिक और राजनैतिक मौन की ऐसी अवधियां मानसिक मन्थन की ही अवधियां होती हैं, जब उनके मस्तिष्क में बड़ी-बड़ी योजनाएं बनती हैं और वे पूर्ण परिपक्व होकर सुनिश्चित कार्यक्रमों और सिद्धान्त-सूत्रों के रूप में प्रकट कर दी जाती हैं। ऐसी एक लम्बी अवधि कानपुर-अधिवेशन (१९२५) और कलकत्ता-अधिवेशन (१९२८) के बीच में रही थी, जिसके बाद कि लाहौर (१९२९) में पूर्ण स्वाधीनता के आधार पर सरकार को चुनौती दे दी गई। गांधीजी अपने अनुयायियों की बात को नहीं मानते और उनको भी उसी प्रकार की कसौटी पर चढ़ाते हैं जिस प्रकार कि अपने विरोधियों को। यदि उनकी कसौटी पर वे ठीक उतर जाते हैं तो वह उनके विचारों को ग्रहण कर लेते और अपने बना लेते हैं। यदि वे कसौटी पर नहीं उतरते तो छोड़ दिये जाते हैं। उन्होंने सविनय-आज्ञा-भंग के विषय में, पूर्ण स्वाधीनता के विषय में, और अन्त में देशी राज्यों के विषय में भी ऐसा ही किया। आजकल वह देशी राज्यों के मामले में बड़े उग्र हो रहे हैं, जिससे कि उनके साथियों को भी बड़ा आश्चर्य और उनके विरोधियों को बड़ा क्लेश हो रहा है। नवयुवक कांग्रेसवादी उनकी नेकनीयती में संदेह करते हैं, और उन्होंने उनपर अंग्रेजों के फेडरेशन के मामले में समझौता करने की तैयारी का सार्वजनिक आरोप लगाया है। वे जोर-जोर से चिल्लाकर घोषित करते हैं कि फेडरेशन की इमारत को, जो कि दो मंजिला है, नष्ट कर देने का उनका निश्चय है। नवयुवक अपनी तोपों का मुंह ऊपरी मंजिल की ओर कर रहे हैं। गांधीजी पहले से ही पहली मंजिल को और उसके खंभों को गिरा रहे हैं। ये खंभे हैं देशी राज्य, जिनके बिना फेडरेशन की इमारत नहीं बन सकती और नीचे की मंजिल के प्रांतीय कमरे भी गिरते हुए से हो रहे हैं, क्योंकि ऊपरी मंजिल को उठाने वाले खंभे भी तेजी से टूट-टूट कर गिरते जा रहे हैं। गांधीजी की रण-नीति का आधार सत्य है। उनका अस्त्र-शस्त्र अहिंसा है। वह जो शब्द कहते हैं सच्चे अर्थों में कहते हैं। और जो कहते हैं वह कर दिखाते हैं। जब उन्होंने दूसरी गोलमेज परिषद् में इंगलैण्ड

में कहा था कि यदि सरकार हरिजनों के लिए पृथक चुनाव-क्षेत्र बनायेगी तो अपने प्राण देकर भी मैं हिन्दू-समाज को टुकड़े किये जाने से बचाऊँगा, तो उन्होंने यह कथन सच्चे अर्थों में किया था। उन्होंने इंग्लैण्ड से लौटकर (२८ दिसम्बर १९३१ को) आजाद मैदान में फिर इस कथन की पुष्टि की उन्होंने इस बात को मार्च १९३२ में सर सेम्युअल होर के नाम एक पत्र में लिखित-रूप में भी भेज दिया और २० सितम्बर १९३२ को उन्होंने इसी बात पर 'आमरण अनशन' प्रारम्भ कर दिया। आज वह देशी राज्यों के प्रश्न पर फिर एक भयानक प्रतिज्ञा कर रहे हैं, और वह फैडरेशन को तोड़ देंगे। "और तो क्या, यदि ईश्वर ने चाहा तो, मैं तो यह अनुभव करता हूँ कि मुझ में अभी पहली लड़ाइयों से भी जोरदार एक और लड़ाई लड़ने का बल और उत्साह मौजूद है।"

गांधीजी के जीवन और व्यवहार में परस्पर-विरोध मिलते हैं, किंतु वह दिखावटी और काल्पनिक ही हैं, क्योंकि जो व्यक्ति अत्यन्त धार्मिक और बहुत व्यावहारिक होता है उसमें ऐसी विशेषताएँ होना आवश्यक ही है। वास्तविक-जीवन से आदर्श को मिलाना, सावधानी से साहस को जोड़ना, प्राचीनता-प्रेम से क्रांति-भावना को संयुक्त करना, भूतकाल के आग्रह के साथ भविष्य की दौड़ को सम्मिलित करना, सार्वभौमिक-मानवता-वाद की तैयारी के साथ राष्ट्रीयता-विकास का सामंजस्य करना—अर्थात्, संक्षेप में बन्धुत्व-भावना के साथ स्वतन्त्रता का सामंजस्य करना और दोनों में से मानवता को विकसित करना, ऐसा ही कार्य है जैसा कि एक सुनिर्मित रेलगाड़ी के एञ्जिन के ब्रेक लगाना, और उसे अपनी पटरी पर उचित स्थानों पर ठहराते हुए और उचित समय पर चालू करते हुए आगे ले जाना। इस यात्रा में कहीं धीरे-धीरे चढ़ाई चढ़नी होगी, कहीं शीघ्रता से उतरना होगा, कहीं सीधी समभूमि पर चलना होगा और कहीं असमतापूर्ण और चक्करदार मार्ग से जाना होगा। भारत को यह गौरव प्राप्त है कि उनका नेता एक ऐसा व्यक्ति है जो सामान्य जनता में से ही एक साधारण मनुष्य है, किन्तु आजकल की दुनिया जिसे देखकर चकित है वह चमत्कारी बन गया है। वह है तो एक दुबला-पतला मनुष्य ही, किन्तु मानों वास्तविक आलोक है, स्थितप्रज्ञ है, बल्कि अवतार ही है, जिसने समाज के भीतर होने-वाले संघर्षों को उच्च नैतिकता और मानवता के स्पर्श से प्रभावित कर दिया है, और जो उस दूरवर्ती दिव्य घटना—मनुष्य जाति की महा पंचायत और विश्व-संघ—के शीघ्र-से-शीघ्र घटित करने का प्रयत्न कर रहा है।

: ३६ :

गांधीजी का विश्व के लिए संदेश

मॉड डी. पेट्री

मैं एक अंग्रेज महिला हूँ, फिर भी ऐसे व्यक्ति के जीवन पर कुछ कहना चाहती हूँ जिसने खुद मेरे देश के चारित्र्य और जीवन-व्यवहार की आलोचना करने में दया नहीं दिखलाई है और जिसने बहुत हद तक उसके विरोध में अपना जीवन लगाया है। फिर भी जब उन्हें भेंट की जाने वाली इस पुस्तक में मुझे कुछ लिखने के लिए कहा गया तो मैंने उसे बेखटके स्वीकार कर लिया; क्योंकि मैं जानती हूँ कि यद्यपि महात्मा गांधी ने अपने देशवासियों की सेवा में ही सारा जीवन लगाया है तो भी उन्होंने उससे बड़े और बहुत व्यापक उद्देश्य, अर्थात् मानव-जाति की सेवा के सिद्धान्त का भी समर्थन और प्रतिपादन किया है। और इस कारण मैं मानती हूँ कि ऐसा करके उन्होंने आवश्यक रूप से उन तमाम देशों के आदर्शों की पूर्ति के लिए काम किया है, जो इस बात को जानते हैं कि हमें संसार के भाग्य-निर्माण में क्या खेल खेलना है, और खुद अपने देश के काम-काज में क्या हिस्सा लेना है; क्योंकि एक व्यक्ति की तरह एक राष्ट्र के मन में भी दो प्रकार की जीवन प्रेरणायें होती हैं। एक तो यह कि अपनी परम्परा और संस्कृति के अनुसार अपना जीवन कायम रक्खें और खुद अपने कल्याण की दृष्टि से उसे चलावें; और दूसरी यह कि तमाम राष्ट्रों के और मनुष्य-जाति के इस महान् समाज का एक अंग बनकर अपना जीवन-यापन करें।

महात्माजी प्रत्येक मनुष्य और मानव-समाज के हृदय में उठने वाली इस दूसरी विशाल प्रेरणा के एक संदेशवाहक और नेता हैं; इसलिए उनके जीवन का अकेला राजनैतिक पहलू मुझे और बातों की अपेक्षा महत्वहीन मालूम होता है और इसलिए मैं यहां उनकी उन्हीं शिक्षाओं के बारे में कहने का साहस करूँगी, जो उन्होंने मानवी निस्वार्थता और विश्वजनीन उदारता के विषय में निरन्तर हमें दी हैं। क्योंकि म मानती हूँ कि इन शिक्षाओं पर भावी पीढ़ी को भी अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा।

उन्होंने खुद भी तो ऐसा ही कहा:

"आज अगर मैं राजनीति में भाग लेता हुआ दिखाई देता हूं तो इसका

कारण यही है कि आज राजनीति हम से उसी तरह चारों ओर लिपटी हुई है जिस तरह सांप से उसकी केंचुल, जिससे हजारों प्रयत्न करने पर भी हम नहीं छूट सकते हैं। मैं उस सांप के साथ कुश्ती लड़ना चाहता हूं...मैं राजनीति में धर्म की पुट देने का प्रयत्न कर रहा हूँ।"[1]

अब एक ऐसे व्यक्ति के जीवन से, जिसकी मुख्य दिशा सारे मानव-समाज का नैतिक पुनरुज्जीवन अर्थात् स्वार्थभाव, प्रतिस्पर्धा और निर्दयता का परस्पर सहिष्णुता और भाई-चारे के सहयोग में रूपांतर करना रही है, हम क्या अपेक्षा रख सकते हैं? समझदार आदमी की अपेक्षा तो ऐसे मामलों में निराशा की; जिल्लत की और असफलता की ही हो सकती है; और मैं यह कहने की धृष्टता करती हूँ कि गांधीजी अपनी बहुत-सी असफलताओं के बावजूद वीरता-पूर्ण असफलता के एक उदाहरण हैं। सुधारकों को तो हमेशा इस बात के लिए तैयार रहना पड़ता है कि वे आदर्श के एक किनारे खड़े देखते-देखते खत्म हो जांय; क्योंकि हजरत मूसा की तरह वे अपने आदर्श की झलक ही देख सकते हैं, उसको पा नहीं सकते।

"मैंने तेरी अपनी आँखों से उसे दिखाया है, पर तू वहाँ न जाना।" क्योंकि खुद गांधीजी ने कहा है—"एक सुधारक का काम तो यह है कि जो हो सकने वाला नहीं दीखता है, उसे खुद अपने आचरण के द्वारा प्रत्यक्ष करके दिखा दे।" लेकिन जब वह अपने खुद की "अल्पता और मर्यादाओं" का खयाल करते हैं, तो "चकाचौंध हो जाते हैं।"

क्योंकि जब एक बार महान् आध्यात्मिक उद्देश के अनुसार प्रत्यक्ष कार्य और उद्योग किया जाता है तब शरीर और आत्मा का शाश्वत युद्ध शुरू हो जाता है; आध्यात्मिक साधना की शुद्धि में मलीनता आ जाती है; हमारा उद्देश धूमिल होकर छिपने लगता है और उसका प्रवर्तक मानवी राग-द्वेषों के अखाड़े में आ खिंचता है; उसकी अच्छी-से-अच्छी योजनाओं को पूरा करने का काम नादान लोगों के हाथ में चला जाता है; उसके अत्यन्त शुद्ध प्रयत्न पूर्ण होते-होते माननीय राग-द्वेषों और स्वार्थ-साधना-से कलुषित होने लगते हैं।

हां, ऐसे संग्राम में तो हार-ही-हार है। पर यही है जो अन्त में कारीगरों द्वारा तिरस्कृत पत्थरों की तरह नये जेरूसलेम अर्थात् नवीन धर्म की दीवारों

---

[1] **रोम्यां रोलां कृत 'महात्मा गांधी' से उद्धृत।**

की आधार शिला जैसी साबित होती है। हजरत मूसा को अपने आदर्श की प्राप्ति तो नहीं हुई। उसके दर्शन अवश्य हुए; पर उसका लक्ष्य था सच्चा, इसलिए वहां तक उनके पहुँच पीने या न पहुँच पाने से इसराईल के भविष्य पर कोई असर नहीं पड़ा—जिसके किनारे उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। उसी सुरम्य स्थान में बैठ कर दूसरे कइयों ने शान्ति लाभ किया।

और इसलिए, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के प्रधान प्रयत्नों की गिनती करते समय हम उसकी असफलताओं की गिनती करते हैं; क्योंकि असफलता अनिवार्य है, मगर असफलता ही फल भी लाती है।

यहाँ मैं गांधीजी की कुछ ऐसी लड़ाईयों का जिक्र करती हूं, जिनमें उनकी हार तो हुई है, लेकिन उनकी शिक्षायें सदा अमर रहेंगी।

सब से पहले मशीन के खिलाफ उनकी लड़ाई को ही लीजिये, जिसका मुकाबला तलवार या बन्दूक के सहारे नहीं, बल्कि चर्खे से करना उन्होंने चाहा कितना दयाजनक उद्योग था यह—जैसा कि उनके कितने ही अनुयायियों ने कहा भी। यह एक ऐसा प्रयत्न था जिसकी असफलता निश्चित थी, लेकिन फिर भी उसी चर्खे ने सत्य का—आत्म-शोधक सत्य के मधुर मंत्र का—गुंजार किया है, जिसे हम बहुतों ने कभी-से और बहुत दुखित हृदयों से अनुभव कर लिया है।

मशीन का परिणाम मनुष्य-जीवन को मानवता-हीन बनाने में हुआ है। उसमें हमारे जीवन की अधिक श्रेष्ठता आ गई है, जिससे हिन्दुस्तान के तमाम चर्खे उसपर विजय प्राप्त नहीं कर सकते। लेकिन फिर भी सम्भव है हिन्दुस्तान का चर्खा हमें अपनी दासता को महसूस करा दे। वह जो सादे और अधिक मानवीय जीवन की पुकार मचा रहा है उससे मनुष्य अन्त को खुद अपनी आदमिता का जोर जमाने में कामयाब हो, और इस भीम काय राक्षस (मशीन) की काया को घटा कर उसे उचित सीमा में ला रक्खे। उसे मानवीय आत्मा का मालिक नहीं, बल्कि सेवक बनावे और जब वह मनुष्य के शरीर और आत्मा के वास्तविक कल्याण के विरुद्ध जाने लगे तब वह उसकी लगाम खींच कर रक्खे और उससे जो क्षणिक भौतिक लाभ होते हैं उनसे भी मुंह मोड़ लेने के लिए कहे।

अब दूसरी लड़ाई लीजिए, जो उन्होंने मनुष्य और पशु के सम्बन्ध में की जाने वाली निर्दयताओं के विरुद्ध ठानी थी और इसमें उन्हें दूसरे देश के लोगों की तरह, अपने देश के लोगों से लड़ाई और विवाद में पड़ना पड़ा।

उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि "अपनी जाति से बाहर के प्राणियों का भी ध्यान रक्खो और प्राणीमात्र के साथ अपनी एकात्मता का अनुभव करो।"

और जहां कि उन्होंने प्राणीमात्र को पवित्र मानने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, तहाँ उन मूक प्राणियों के कष्टों को देखकर, जो वास्तव में कत्ल नहीं किये जा रहे थे, बल्कि जिनकी अच्छी तरह से सम्हाल नहीं की जा रही थी, उनके हृदय ने खून के आंसू बहाये हैं।

उनकी तीसरी और सबसे बड़ी लड़ाई हुई है एक के दूसरे पर दबदबे और हिंसा की भावना के खिलाफ। लेकिन इसमें वह मनुष्य के पाशविक बल और राग-द्वेष रूपी राक्षस के सामने दाऊद से भी अधिक निःशस्त्र होकर आगे बढ़ गये हैं। उनके पास एक ही हथियार है—अहिंसा।

लेकिन वह अपने शत्रुओं द्वारा ही नहीं, बल्कि इससे अधिक दुःख की बात क्या होगी कि अपने मित्रों द्वारा बारंबार असफल बनाये गये हैं। अब वह इस उलझी हुई शान्तिवाद की समस्या को सुलझाने के लिए जोरों से जुट पड़े हैं कि इस हिंसामय जगत् में एक अहिंसाधर्मी कैसे जीवित रहे और इस हिंसा-प्रधान जगत् में खुद अहिंसा भी कैसे अपनी हस्ती कायम रख सके?

जो लोग यह अनुभव करना चाहें कि वे कौनसी समस्याएं हैं, जिन्होंने महात्माजी को निरन्तर व्याकुल कर रक्खा है, तो उन्हें 'यंग इण्डिया' (अब 'हरिजन') पढ़ना चाहिए।

और वे देखेंगे कि यही वह विषय है जिसमें महात्माजी की असफलता की विजय अच्छी तरह दिखाई देती है; क्योंकि वह फिर-फिरकर कहते हैं कि "अहिंसा-सिद्धान्त का पूरा-पूरा अमल वास्तव में अबतक किया ही नहीं गया है।

ओर इसलिए वह कहते हैं कि "इसको आजमाओ। क्योंकि जबतक हम शरीर-बल के द्वारा अपनी आत्मा की रक्षा करना बन्द न करेंगे, तबतक हम आत्मबल का सच्चा अन्दाज कभी नहीं लगा सकेंगे।

"मैं तो जालिम की तलवार की धार को ही बिलकुल भोंठा कर देना चाहता हूँ। उससे अधिक तेज धारवाले हथियार से नहीं, बल्कि इस आशा में उसे निराशा करके कि मैं शरीर-बल से उसका मुकाबला करूँगा। इसके बदले मैं जिस आत्मबल से उसका प्रतिकार करूँगा उसे देखकर वह शान्त रह जायगा। पहले तो चकाचौंध में पड़ जायगा, पर अन्त में उसे उसका लोहा मानना ही पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप उसका तेजोनाश नहीं होगा, बल्कि वह

ऊँचा उठेगा। इसपर यह कहा जा सकता है कि यह तो आदर्श अवस्था हुई। तो मैं कहूँगा कि हाँ, यह आदर्श अवस्था ही है।"[१]

इसमें हमें उनकी श्रद्धा का और अपनी सफलता की प्रत्यक्ष मान्यता का एवं अपनी अहिंसा-नीति के सम्बन्ध में उनके दृढ़ विश्वास का और उसके साथ ही इस बात के निश्चय का भी कि उसकी सम्यक् पूर्ति का समय अभी नहीं आया है—वह आ भले ही रहा हो—अच्छी तरह पता चलता है।

तब क्या हम इस बात का अफसोस करें, जैसा कि एक महान् कवि ने किया है, कि गांधीजी ने अपनी शिक्षा और अपने आदर्शों को मनुष्य-जीवन के राग-द्वेषादि के अखाड़े में इस तरह उतारा है जिससे उनकी आज तो असफलता—भले ही वह आंशिक हो—प्रकट होती है ? इसका जबाब 'हां' भी है और 'नहीं' भी।

'हाँ', तो इसलिए कि मनुष्य को यह अच्छा नही लगता कि वह श्रेष्ठ मानवीय आदर्शों के दिवालिया होजाने पर विश्वास करे।

'हाँ' इसलिए भी कि किसीको यह देखना बुरा लगता है कि एक पैगम्बर की लड़ाई-झगड़ों में खींचातानी हो—वह उससे ऊपर उठा हुआ न रहता हो, जैसे कि कुछ उदाहरण देखे भी जाते हैं।

'नहीं' इसलिए कि इस संघर्ष की पशुता ने ही मनुष्यों की आँखे खोलकर उन आदर्शों को देखने के लिए मजबूर किया है, जो अन्यथा कुछ थोड़े से विचार-शील लोगों के मस्तिष्क में ही शान्ति के साथ मजे में सोये पड़े होते। यहूदियों को हजरत ईसा पर प्रहार करने के पहले उनके चेहरे की ओर देखना पड़ता था। और निश्चय ही मनुष्यों को नम्रता और उदारता का सन्देश तो सुनना ही होगा, भले ही वे उसे मानने से इनकार कर दें।

लड़ाई में तो घाव झेलने ही पड़ते हैं। उनके बिना भला लड़ाई कैसे लड़ी जा सकती है, और न ही हम, जब हमारी बारी आये, वार किये बिना रह सकते हैं—भले ही हमपर पड़नेवाले प्रहार नगण्य ही क्यों न हों। यही कारण है जो महात्माजी के राजनैतिक संग्राम में हमें अच्छी और बुरी दोनों बातें देखने को मिलती हैं।

लेकिन इन गुजरती हुई प्रतिद्वन्द्विताओं और लड़ाई-झगड़ों के शोरगुल के

---

[१] **'यंग इंडिया'; अक्तूबर १९२५.**

अन्दर से ही एक मानवीय सन्देश निकला है, जो कि वास्तव में सारी मनुष्य-जाति के लिए है। वह पूर्व और पश्चिम दोनों के लिए है। वह है तो असल में एक हिन्दू-धर्म का सन्देश, परन्तु दिया गया है अधिकांशतः ईसाई-धर्म की भाषा में।

और यही कारण है कि महात्मा गांधी की भारतीय और कोरी राष्ट्रीय नीति पर ध्यान न देकर मैं बड़ी नम्रता के साथ उनके व्यक्तित्व और जीवन लक्ष्य को खुद अपने देश तथा दुनिया के तमाम देशों के नाम पर अपनाने की धृष्टता कर रही हूँ।

: ३७ :

गांधीजी का उपदेश

हेनरी एस० एल० पोलक

डॉ० मॉड रायडन के मंत्रित्व-काल में, जब कुछ साल पहले, गिल्ड हाउस में 'आधुनिक विचार-धारा के निर्माता' विषय पर कुछ व्याख्यान हुए थे, तब उनमें गांधीजी का नाम भी शामिल था। मगर यह कोई दैवयोग की बात नहीं थी ; क्योंकि आज के महापुरुषों की कीमत आंकने का और संसार के विचार और आचार में किसने क्या देन दी है, इसकी चर्चा करने का जब समय आवेगा तब, मैं समझता हूँ, हिन्दुस्तान के इस सबसे बड़े नेता से बढ़कर शायद ही किसी का नाम अधिक प्रमुखता से और विधायक रूप में लिया जा सके।

संसार में दूसरे नेता भी ऐसे हैं जिनके नाम इनसे भी ज्यादा मनुष्यों की जबान पर आते हैं। वे नेता तो हैं मगर जीवन के नहीं, मौत के। वे नेता अवश्य हैं, मगर रसातल की ओर ले जानेवाले, न कि शिखर की ओर। वे नेता हैं द्वेष और हिंसा के न कि प्रेम और अहिंसा के। वे ऐसे नेता है जो कि वापस बर्बरता की ओर ले जाते हैं, न कि आगे अधिक उत्तम सभ्यता की ओर। वे ऐसे नेता हैं जो जाति-विशेष की श्रेष्ठता में विश्वास रखते हैं, और उस जाति को उन्होंने मिथ्या देवत्व प्रदान कर रक्खा है ; वे ऐसे नेता नहीं जो विश्व में परमेश्वर के परमपितापन को मानते हों और उसके पुत्रों (सभी मनुष्यों) के पारस्परिक भ्रातृ-भाव में विश्वास रखते हों।

परन्तु क्या वह पुरुष जो भूतकालीन इतिहास के धुँधले प्रकाश को देखता है, उसकी शिक्षाओं को हृदयंगम करता है और उसके परिणामों को ध्यान से देखता है, यह सन्देह कर सकता है कि अन्त में जाकर गांधीजी की अहिंसा की शिक्षा ही विजय के सिंहासन पर बैठनेवाली है, न कि इन नये कैसरों के हिंसा के अवलम्बन ? गांधीजी की जो विजय हुई हैं वे आत्मिकजगत् में हुई हैं, जिन्होंने मानव-जाति के पुनरुज्जीवन के बीज बोये हैं, जब कि इन नेताओं की सफलतायें पार्थिव जगत् की हैं और उनके पथपर खून और आंसुओं की बूंदे बिखरी हुई हैं। गांधीजी अपने विरोधी को खुद कष्ट-सहन करके जीतेंगे जब कि ये नेता जो कोई भी उनके रास्ते में खड़ा हो उसके निष्ठुर विनाश के द्वारा मानव-जाति के कष्टों और दुःखों में उलटे वृद्धि करते हैं।

कई साल पहले गांधीजी ने मुझसे कहा था कि लोग कहते हैं कि "मैं सन्त हूँ, मगर राजनीति में फँसकर अपने-आपको गँवा रहा हूँ। पर सच बात यह है कि कि मैं एक राजनीतिज्ञ हूँ और सन्त बनने का भगीरथ यत्न कर रहा हूँ।" यह मानवीय अपूर्णता की एक विनीत, सीधी-सादी और आधुनिक स्वीकृति ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई है जो कि आत्मानुशासन के द्वारा निश्चित रूप से पूर्णता के शिखर की ओर उत्तरोत्तर बढ़ने का यत्न कर रहा है। पिछले पचास वर्षों की 'सत्य-शोध' की अपनी यात्रा में जो दोष उनके कार्यों में प्रकट हुए हैं और जो निर्णय की भूलें उनसे हुई हैं, जिन्हें कि बार-बार उन्होंने कबूल किया है, उनका स्पष्टीकरण उनके इस कथन से हो जाता है। उन्होंने अपने इस निरन्तर आग्रह में कि "सत्यान्नास्ति परोधर्मः" कभी कसर नहीं की है और इस बात को मानने और जानने के लिए यह जरूरी नहीं हैं कि किसी परिस्थिति विशेष को उन्होंने जैसा समझा हो और उस परिस्थिति को सुलझाने के लिए उन्होंने जो काम किया हो, उससे सहमत हुआ जाय। और हम एक मनुष्य से और क्या आशा कर सकते हैं, सिवा इसके कि वह अपने आदर्श की ओर बराबर ध्यान लगाये रहे और अपने विश्वास पर अटल रहे। अगर वह कहीं किसी समय लड़खड़ाता है या अटकने लगता है, तो यही कहा जा सकता है कि ऐसी कठिन यात्रा में मनुष्य को ऐसे अनुभव होंगे ही। ऐसे समय गांधीजी हमसे यह विश्वास करने के लिए कहते हैं कि ये तो हमारे लिए चेतावनियां हैं, जिनसे कि हम अपनी गलतियों को सुधार सकें और अपने निश्चित ध्येय की ओर ज्यादा सही तरीके से आगे बढ़ सकें।

अपनी इस पवित्र यात्रा के दरमियान उन्होंने बहुत-कुछ पाठ सीखे हैं और

बहुतेरे व्यावहारिक अनुभव प्राप्त किये हैं, जो इस पथ के तमाम पथिकों के लिए बड़ी संपत्ति का काम देंगे। केवल मन्त्रोच्चार की उनके नजदीक कोई कीमत नहीं है। उनकी राय में उनमें मानवीय जीवन की आवश्यकता की पूर्ति और मामूली व्यवहार में उपयोगी बनने का भाव भी अवश्य होना चाहिए। फिर उनका कहना है कि वे ऐसे हों जो सब जगह लागू हो सकें। और यदि वे ऐसे नहीं हैं तो कहना होगा कि कि वे वस्तुत: असत्य हैं। इसलिए अहिंसा का जो अर्थ जीवन के व्यवहार-नियम के तौर पर हमारे सामने उन्होंने रक्खा है, उस पर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

वह कहते हैं—"जो दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में अहिंसा (जिसको दूसरी जगह गांधीजी ने सत्य का 'परिपक्व फल' कहा है) का आचरण नहीं करते और फिर भी बड़ी बातों में उसका उपयोग करने की आशा रखते हैं, वे बड़ी गलती पर हैं। पुण्य की तरह अहिंसा की शुरुआत भी घर से होनी चाहिए। और अगर एक व्यक्ति को अहिंसा की तालीम लेने की जरूरत है, तो उससे भी अधिक एक राष्ट्र के लिए उसकी तालीम जरूरी है। यह नहीं हो सकता कि हम अपने घर-आँगन में तो अहिंसा का व्यवहार करें और बाहर हिंसा का। नहीं तो कहना होगा कि हम अपने घर-आँगन में भी दरअसल अहिंसक नहीं है। हमारी अहिंसा अक्सर दिखाऊ होती है। आपकी अहिंसा की कसौटी तभी होती है जब आपको किसी प्रतिकार का सामना करना पड़े। भद्र पुरुषों में रहते हुए आपका, सभ्यता और शिष्टता का, व्यवहार अहिंसा नहीं भी कहा जा सकता है। अहिंसा तो कहते है परस्पर सहिष्णुता को। अतएव जब आपका यह विश्वास होजाय कि अहिंसा हमारे जीवन का धर्म है, तो आपके लिए यह जरूरी है कि आप उनके प्रति अहिंसक रहें जोकि आपके साथ अहिंसा का व्यवहार करते हों। और यह नियम जैसे व्यक्ति पर घटता है वैसे ही एक-दूसरे राष्ट्रों पर भी लागू करना चाहिए। हां, यह ठीक है कि दोनों के लिए तालीम की जरूरत है और शुरुआत तो थोड़े से सभी जगह होती है। पर अगर हमें सचमुच विश्वास हो गया है तो और चीजें अपने आप ठीक हो जावेंगी।" इसका सार उनके एक पुराने कथन में समा जाता है—"तुम अपना आदर्श और नियम ठीक रक्खो, किसी दिन अवश्य सफल होगे।"

इस किस्म की शिक्षा—जो कि भारत और फिलस्तीन में प्राचीन समय से रही है—उन तानाशाहों को महज पागलपन मालूम होगी जिनकी सत्ता-लोलुप राजनीति हमारे संसार की उच्च और उदार बातों को भ्रष्ट करती

हुई संसार के लिए महान् संकट सिद्ध होरही है और हिंसा तथा निर्दयता के कोप-भाजन बने भयत्रस्त लोगों को भी, तथा उन लोगों को भी जो आधुनिक विजयों की हृदयहीनता और अर्थ-लिप्सा के हमले की आशंका से कांप रहे हैं, यह शिक्षा महज पागलपन ही दिखाई देगी। मगर फिर भी क्या गांधीजी की और उनके ऋषिमुनि पूर्वजों की, जिन्होंने यह सिखाया कि द्वेष को प्रेम से जीतो, दूसरों को अपने ही समान समझो और प्रेम करो, और यह कि हम एक-दूसरे के भाई-भाई हैं, शिक्षा और उपदेश ठीक नहीं है? और क्या यह भी सही नहीं है कि आज, जबकि दुनिया के विभिन्न भागों के बीच इतनी तेजी से आदान-प्रदान और आवागमन होरहा है; जबकि उनका परस्पर विचार विनिमय अधिकाधिक बढ़ता जारहा है, और जबकि सभी देशों का अन्योन्याश्रित होना स्वीकृत हो चुका हो, उस समय मनुष्य-जाति तथा श्रेष्ठतम इष्ट बुद्धियों की रक्षा का यदि कोई उपाय है तो यही कि इस पुरातन उपदेश को, जिसको इस नये पैगम्बर ने आधुनिक भाषा में व्यक्त किया है, कार्य-रूप में परिणत किया जाय।

जबकि लोग औरो को 'नेता' कहते हैं और गांधीजी को 'महात्मा' (हालाँकि गांधीजी को इस पर दुःख ही होता है) तो यह निरर्थक नहीं है। सचमुच ही वह महान् आत्मा थी, जिसने तीस साल पहले अपनी अन्तर्दृष्टि से लिखा था: "आत्मबल की दुनिया में कोई जोड़ नहीं। शस्त्र-बल से वह कहीं श्रेष्ठ है। तब उसे महज कमजोर का शस्त्र कैसे कह सकते हैं? सत्याग्रही के लिए जिस साहस की जरूरत होती है उसे वे लोग नहीं जानते जो शारीरिक-बल से काम लेते हैं।....सच्चा योद्धा कौन है? वह जो मृत्यु को हमेशा अपना मित्र समझता है।....सिर्फ मन पर अपना अधिकार होने की जरूरत है, और जब वहांतक पहुँच गये तो मनुष्य स्वतन्त्र होजाता है....फिर उसका एक दृष्टिपात ही शत्रु को निस्तेज कर देता है।" तब कोई आश्चर्य नहीं, यदि उन्होंने निःशंक और निश्चयात्मक रूप से कहा—"मेरा यह विश्वास अटल बना हुआ है कि अगर एक भी सत्याग्रही आखिर तक डटा रहे तो विजय अवश्य ही निश्चित है।"

आजकल तलवार खड़खड़ाने वाले लोग ध्वनि-वाहकों (माईक्रोफोन) के द्वारा संसार को आदेश देते हैं और अपने आदेशों के बीच-बीच में बम गिराते हैं और विषैली गैस छोड़ते है। वे दूसरे राष्ट्रों पर हुई अपनी विजय की शेखी बघारते फिरते हैं और आजादी के खंड़हरो में अकड़कर चलते हैं। और लोग

एक ओर उनके इस अभिमान का साधन बनते हैं तो दूसरी ओर उनकी हिंसा के शिकार। कहाँ यह और कहाँ इस भारतीय गुरु की धीमी वाणी, उनका आत्मिक शक्तियों पर दिया हुआ जोर और शांति, प्रेम और बन्धुता के प्राचीन सन्देश का पुनःस्मरण। सदा की तरह अब भी नवयुग का यह संदेश हमको पूर्व से मिला है। क्या हममें उसे सुनने की अक्ल और उसे सीखने की समझदारी है? गांधीजी यह ढोंग नहीं करते कि उनका सन्देश मौलिक है। अपनी 'आत्म-कथा' में वह कहते हैं—"जिस ऋषि ने सत्य का साक्षात्कार किया है उसने अपने चारों ओर व्याप्त हिंसा में से अहिंसा ढूंढ निकाली है और गाया है—हिंसा असत् है और अहिंसा सत् है।"

नवयुवक लोगों में एक पीढ़ी या उससे कुछ पहले जैसी हवा बही थी वैसी अब भी बह रही है। वे धर्म का मजाक उड़ाते हैं और यह कहकर उससे इनकार करते हैं कि यह, इससे भी अधिक हीनकोटि का नहीं तो कम-से-कम मानवीय अज्ञान और मूर्खता का अंधविश्वासपूर्ण अवशिष्ट-मात्र है। निःसन्देह हिन्दुस्तान में भी एक ऐसा ही मिथ्या दर्शन फैल रहा है और बहुत-से नवयुवक और नवयुवतियां भूसी के साथ गेहूँ को भी फेंक देने की कोशिश कर रहे हैं।

क्या ही अच्छा हो कि वे अपने महान् ऋषि-मुनियों के वचनों का मनन करें और उस प्राचीन ज्ञान के वास्तविक अर्थ के नये सिरे से ढूंढने का प्रयत्न करें। परन्तु यदि वे अपने प्राचीन पूर्वजों के विद्या और ज्ञान से लाभ नहीं उठाना चाहते तो कम-से-कम उन्हें अपने ही समय के इस महान् राष्ट्रीय नेता के ज्ञान और शिक्षा पर तो अवश्य ध्यान देना चाहिए, जबकि वह अधिकारयुक्त वाणी से कहते हैं:

"धर्म हम लोगों के लिए कोई बेगानी चीज नहीं है। हम ही में से उसका विकास होता है। हमेशा वह हमारे भीतर विद्यमान है। कुछ के अन्दर जाग्रत रहता है, कुछके अन्दर बिलकुल सुस्त, मगर है हरेक में जरूर। और यह धार्मिक भाव जो कि हमारे अन्दर है, उसे चाहे हम वाहरी साधनों की सहायता से, चाहे आन्तरिक विकास क्रिया-द्वारा जाग्रत करें, बात एक ही है। पर हां, उसे जाग्रत किये बिना गति नहीं है—यदि हम किसी काम को सही तरीके से करना चाहते हों या किसी स्थायी चीज को पाना चाहते हों।" इसी तरह वह और कहते हैं—"अहिंसा सत्य की रूह है और अहिंसा ही परम धर्म है।" आगे वह और भी कहते हैं—हम चाहे इसे मान सकें या न मान सकें—"यदि तुम अपने

प्रेम का—अहिंसा का—परिचय अपने तथाकथित शत्रु को इस तरह से देते हो, जिसकी अमिट छाप उस पर बैठ जाय, तो वह अपने प्रेम का परिचय दिये बिना नहीं रह सकता।"

टॉल्स्टॉय के बाद ही इतनी जल्दी जिस जमाने ने एक दूसरा महान् 'मानवता का पुजारी' पैदा किया है उसमें रहना कितना अच्छा है! अहा! ये साधु-संत, ये पैगम्बर और भक्तगण—फिर वे छोटे हों या बड़े—किस प्रकार वातावरण को स्वच्छ निर्मल बनाते हैं और आसपास फैले हुए 'सघन तिमिर' में प्रकाश चमकाते हैं! इन आध्यात्मिक 'महतरों' के बिना हमारा क्या हाल हो, जो कि युग-युग में और पुश्त-दर-पुश्त हमारे अन्तःकरण की शुद्धि में सहायक बनने के लिए जन्म लेते हैं, जिससे कि हम अपनी दैवी प्रकृति को पुनः पहचान लें और हमें अपनी साधना-शक्ति को फिर एक बार बढ़ाने का प्रोत्साहन मिले, एवं अपने लक्ष्य के शिखर तक चढ़ने का दृढ़ निश्चय और साहस हममें पैदा हो?

ओलिव श्रीनर ने अपने एक गद्यकाव्य में 'सत्यरूपी पक्षी' की खोज में प्रयत्नशील साधक का एक चित्र खींचा है। उसे उस पक्षी की झलक एक बार दिखाई दी। उसकी तलाश में वह पर्वत-शिखर पर पहुँचता है, जहाँ जाकर उसका शरीर छूट जाता है। उसके हाथ में उस पक्षी का गिरा हुआ एक पंख है, जिसे वह छाती पर चिपकाये हुए सोया है। गांधी जी अपने सत्तरवें साल में जो सन्देश हमारे लिये छोड़ रहे हैं वह हमारे लिए ऐसा ही एक पंख सिद्ध हो, और हम सचमुच बड़भागी होंगे अगर अपनी मृत्यु के समय उसे अपनी छाती से लगाये और अपनाये रहेंगे!

: ३८ :

आत्मा की विज़य

लिवलिन पॉविस

एक पक्का बुद्धिवादी और भौतिक जीवन का प्रेमी होते हुए मेरे लिए महात्मा गांधी-जैसे असाधारण व्यक्ति के द्वारा सुझाये गये विचारों को स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत करना सरल काम नहीं है। यह तो स्पष्ट है कि उनका हमारे बीच विद्यमान होना एक ऐसी कड़ी चुनौती है जिसकी अवहेवना नहीं हो सकती। आज की इस नोन-तेल लकड़ी वादी दुनिया में हम उस पुरुष के प्रति आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकते। किसी भी दैनिक पत्र में ज्योंहि हमारी दृष्टि उनके चित्र पर पड़ती है, जिसमें वह मामूली व्यापारिक पृष्ठ पर से निर्मल ज्ञानगरिमा की निगाहों से झाँकते हुए लगते हैं, त्यों ही हमारी स्वाभाविक आत्मिक जड़ता में हलचल होने लगती है। कहते हैं, चीन के कुछ हिस्सों में सफेद चमगादड़ होते हैं और इस दुर्लभ पुरुष के चित्र इस असाधारण जन्तु से शायद कुछ कम अजीब मालूम पड़ते हों, क्योंकि आँखे उनकी ऐसी हैं जो जीवन के गुप्त-से-गुप्त रहस्यों तक प्रविष्ट करती हुई जान पड़ती हैं, और कान उनके ऐसे हैं जो अपनी उदारतापूर्ण आदत से यह साबित करना चाहते हैं कि उनका स्वभाव ऐसा मधुर है जैसा पूर्व या पश्चिम में कहीं भी शायद ही पाया जावे। हमारे जमाने में उनसे ज्यादा सफलता के साथ किसी भी मनुष्य ने उस प्रेम की शक्ति का प्रभाव नहीं दिखाया है जो अंगूर की बेलों या लहलहाते खेतों-वाली प्रकृति के सौन्दर्य का नहीं, बल्कि हिन्दू का और ईसाई का और रहस्य-वादियों का आदर्श प्रेम है और जो हमारी स्वभावगत पशुता के एकदम विप-रीत चलता है। लोकोत्तर कथाओं के विषय में जिनके चित्त शंकाशील हैं उन्हें गांधीजी के विचार निरर्थक ही जान पड़ेगें। उन्हें लगेगा कि मानो वे हवाई हैं। प्रतीत होगा कि उनकी जड़ में अक्सर वही बने-बनाये नीति-सूत्र हैं जो उन पीड़ितों के मुंह में रहा करते हैं जिन्हें समाज में अधिक सुख-सुविधा के निमित्त हर बात के लिए दैवी समर्थन की जरूरत रहती है—उससे गहरी उनकी जड़े नहीं हैं। साँप-छछूंदर से डरने वाला यह व्यक्ति युवावस्था में इंगलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका और हिन्दुस्तान की उपासनाओं में और भजनों में

बेमतलब ही शरीक नहीं हुआ था। लेकिन गांधीजी का मस्तिष्क जबकि अलौकिक प्रभावों से सहज प्रभावित हो जाता दीखता है, उनके हृदय की बात कुछ और ही रहती है। वह तो सदा स्वस्थ, उत्साहयुक्त, दयालु और उदात्त ही रहता है।

गांधीजी की 'आत्मकथा' पढ़ने से सचमुच ही आत्मबल की शारीरिक बल पर विजय होने का सच्चा दिग्दर्शन हो जाता है। एक जगह पर वह कहते हैं कि उनका हमेशा प्रयत्न रहा है कि परमसूक्ष्म और शुद्ध आत्मा के निकट-स्पर्श में आ सकें। हमें कल्पना हो सकती है कि कितने बारीक धर्म-संकट के बीच उनका आत्म-मंथन चलता रहता है? सुई की नोक से भी सूक्ष्म उन बारीकियों पर वह अपने को कैसे साधते हैं, यही परम आश्चर्य का विषय है। उनके पवित्र मस्तिष्क में जो पहेलियां निरन्तर प्रवेश करती रहती हैं वे एक स्वतन्त्र मनवाले को कितनी अजीब लगती हैं! गांधीजी गाय का दूध न पीने का व्रत लेते हैं, और जब वह थोड़ा-सा बकरी का दूध मुँह से लगाते हैं तो फौरन उनके मन में धर्माधर्म का मंथन शुरू हो जाता है कि कहीं यह दूध भी मेरे व्रत में शामिल तो नहीं है? वह एक बछड़े को असाध्य रोग से पीड़ित देखते हैं, तब क्या उनको उसे मरवा डालने की दया दिखलानी उचित है? और 'हमारे समझदार किन्तु शैतान भाई' बन्दर बिना हिंसा का आश्रय लिये किस प्रकार किसानों की फसलों से दूर हटाये जा सकते हैं। यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि इन सुन्दर पहेलियों का हिन्दू-धर्म की गौपूजा से घनिष्ट सम्बन्ध है। इस सिद्धान्त का गांधीजी के लिए बड़ा व्यापक महत्व है और वास्तव में उस धार्मिक श्रद्धा से किसी अंश में कम नहीं है कि मनुष्य जाति का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि धरती पर रहने वाले दूसरे प्राणियों को, चाहे वे कितने ही तुच्छ और नगण्य क्यों न हों, अपनी शरण में लें, उनकी हमेशा रक्षा करें और उनकी कभी हत्या न करें। गांधीजी का नीति-अनीति-सम्बन्धी विवेक कष्टसाध्य हो सकता है, परन्तु यह उतना ही अचूक भी होता है। और पश्चिम की घोर नीति-हीनता की भर्त्सना में कभी उनके इतना जोर नहीं आता है जितना कि जन्तुओं की चीरा-फाड़ी का जिक्र करते समय उनकी वाणी में आ जाता है। यह एक काली घिनौनी प्रथा है जिसको, वे सरकारें स्वीकार किये हुए हैं, जो एक तरफ भावुक और दूसरी तरफ हृदय-हीन हैं, जो नैतिकता में वैसी ही अंधी हैं जैसी कि उदारता में हीन।

फिर भी इस 'अवतारी व्यक्ति' के प्रति यूरोपियनों ने जैसा व्यवहार किया है वह उनके लिए भारी-से-भारी शर्म की बात रहेगी। कभी अपमानित हुए, धक्के-मुक्के दिये गये, कभी धमकियाँ दी गईं, कभी पीटे गये और एकबार तो डर्बन में गोरों के एक गिरोह ने पत्थर मारते-मारते उनका दम-सा निकाल दिया। परन्तु वह कभी नहीं खीझे, बल्कि अपने अटल और दृढ कदमों से अपनी स्वर्गीय कल्पनाओं की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं। इस नन्हीं-सी जीर्ण-शीर्ण देह में कितनी शक्तिशालिनी आत्मा निवास करती है! चाहे दुनिया उनका जयघोष करे चाहे उनके प्रति घृणा करे, उनपर कुछ भी असर नहीं होता। उनका व्यक्तिगत गौरव इतना सर्वोपरि है कि वह प्राणघातक शारीरिक अपमानों को भी बिना अशान्त और क्षुब्ध हुए सह सकते हैं। कभी यहां तो कभी वहां सताये जाने में, कभी खचाखच भरी रेलगाड़ी की खिड़की से खींचे जाने में, तो कभी रीढ़ झुकाये हुए मजदूरों का पाखाना साफ करने में और कभी 'अछूतों' की सेवा करने में (मानो वे उनके निकट-से-निकट सम्बन्धी हों) उनकी पूर्ण सरलता और पूर्ण सज्जनता में कतई कुछ भी फर्क नहीं आया। उनमें आध्यात्मिकता का वह मिथ्याभिमान नहीं पाया जाता जो हमारे यहां के आदर्शवादियों में पाया जाता है, चाहे वे पारमार्थिक हों या सांसारिक। उनकी प्रतिभा बादल की भाँति मुक्त है और वह एक रात भर में अपने विचार या प्रथा बदल देंगे, यदि उन्हें कहीं सचाई नजर आ जाय। वह ऐसे एरियल[1] हैं जो कोई बन्धन स्वीकार नहीं करते, सिवा उनके जो सर्वशक्तिमान प्रौस्पेरो[2] ने उन पर लगा रक्खे हैं। अपने ऊँचे-ऊँचे सिद्धान्तों और ऊँचे-ऊँचे विचारों के होते हुए गांधीजी के पास व्यावहारिक विवेक की विलक्षण निधि है। जीवन के प्रत्येक अंग में यही चीज उनकी पूर्ण निःस्वार्थ-भावना से मिलकर उनको अत्याचार और दमन के विरुद्ध अनेक प्रकार के संघर्षों में अजेय बना सकी है। जहाँ भी कहीं वह जाते हैं, सारा विरोध शान्त हो जाता है, मानो अपने सांवले रंग के कातनेवाले हाथ में अँगूठे और अँगुली के बीच में वह कोई जादूगर की छड़ी साधे हुए हों।

---

[1] **एरियल और प्रौस्पेरो शेक्सपियर के नाटक "ए मिड समर नाइट्स ड्रीम" के दो पात्र हैं।**

[2] **यहाँ एरियल का अर्थ 'स्वतन्त्रता प्रिय व्यक्ति' और प्रौस्पेरो का अर्थ 'परमपिता परमेश्वर' लक्षण द्वारा लिया गया है।**

अगर कभी किसी ने ईसा का सन्देश व्यवहार में ला दिखाया है तो वह इस हिन्दू ऋषि ने किया है। सम्भवतः यही कारण है कि ईसा के शब्द प्रायः इतने अधिक उनकी जबान पर रहते हैं, हालांकि वह इतने अधिक स्पष्ट विचारक हैं, इतने अधिक सच्चे और ईमानदार मनवाले हैं कि हमारे पश्चिम के नीति-नियमों और ब्रह्मविद्या के आविष्कारों के कायल होने को तैयार नहीं हैं। "मेरी बुद्धि इस बात पर विश्वास नहीं करती कि ईसा ने अपनी मृत्यु और अपने रक्त से दुनिया के पापों का प्रायश्चित कर लिया है। रूपक में कहें तो इसमें कुछ सचाई हो सकती है।" वह ईसाई मत के आत्मवलिदान के आदर्श के प्रति बहुत आकर्षित हुए हैं और ईसा के 'गिरि-प्रवचन' और उसके अनगिनती निष्कर्षों ने उनपर गहरी छाप छोड़ी है। नीत्शे की एक मर्मवेधी विरोधाभास-मूलक उक्ति है—"दुनिया में ईसाई तो केवल एक ही पैदा हुआ है और वह तो क्रूस पर लटका दिया गया।" यदि यह सनकी-दार्शनिक इस दूसरे गुरु के जीवन-कार्यों को देखने के लिए जीवित रहता तो सम्भवतः उसने अपने इस प्रख्यात-व्यंग में कुछ संशोधन कर दिया होता।

अत्यन्त सज्जनोचित कोमलता और दृढ़ लगन के साथ गांधी ने जुलू-बलवे के नाम से पुकारे जानेवाले उस अक्षम्य 'नरमेध' में 'घायलों और बीमारों की सेवा-सुश्रूषा की थी और जब वह अफ्रीका के 'उन गम्भीर निर्जन स्थानों' में चल रहे थे, उन्होंने ब्रह्मचर्य-पालन का व्रत लिया : क्या गांधीजी की तरह ईसामसीह भी अपना घर-बार छोड़कर इस विश्वास पर नहीं चले गये थे कि—'जो परमात्मा से मित्रता करना चाहता है उसे अकेला ही रहना चाहिए ?' एक साहसपूर्ण उद्‌गार और सुनिये—"ईश्वर हमारी तभी मदद करता है जब हम अपने पैरों के नीचे दबी धूल से भी तुच्छ अपने आपको समझने लगें। कमजोर और असहाय को ही ईश्वरीय सहायता की आशा करनी चाहिए।"

इसी पृथ्वी पर कौन-कौनसे प्रभाव हमारे मानवीय भाग्य का निर्माण करेंगे, यह अभी से कह देना कठिन है। रूपक में कहें तो, निष्पाप और पाप-भीरु इन दोनों प्रकाश-पुत्रों को दैव से ही मानों कुछ रहस्य प्राप्त हुआ, जिससे पाताल-लोक के असुर कीलित हो रहे हैं। अगर कहीं हम जान जांय कि उनकी जादूभरी वाणी और देवताओं जैसे स्वभाव से सतयुग फिर से आ सकता है तो जाने कब से लांछित और क्षुब्ध हमारी मानव-जाति के सौभाग्य का दिन खिल जाय। गांधीजी ने अपने चार हिन्दुस्तानी कार्यकर्त्ताओं से जब पूछा कि क्या वे

मृत्यु के समान भीषण और काले प्लेग से पीड़ित आदमियों की सेवा-सुश्रूषा करने चलेंगे, तो उन्होंने सीधा-सा जवाब दिया—"जहाँ आप जायेंगे, हम भी साथ चलेंगे।"

जनरल डायर के द्वारा अमृतसर में जो नृशंस और रोमांचकारी कृत्य—एक भीषण युद्ध का भीषण परिणाम–किया गया, उस पर जब गांधीजी का ईश्वर-प्रेरित सौजन्यमात्र हम अंग्रेजों के हृदयों को दुःखी और टुकड़े-टुकड़े कर सकता है तो वे हमारे देश के लिए न जाने क्या-क्या अमूल्य सेवाएं करेंगे। उन्होंने एक बार पुनः यह साबित कर दिखाया होता कि संसार पर 'भय' शासन नहीं कर सकता और तलवार की रक्त-रंजित विजय से भी अधिक शक्ति दुनिया में मौजूद है।

× × ×

यह हमें कैसे सहन हो सकता है कि हमारी अंग्रेज जाति का उज्ज्वल नाम "हिंसक मनुष्यों की बर्बर और पाशविक शक्ति के कारण" उच्चता से गिराया जाकर धूल में मिला दिया जाय। शंकर भगवान के नेत्र से गांधीजी आर-पार देखते हैं। हमारी पश्चिमी सभ्यता का चापल्य, यंत्रों पर उसका अवलम्बन, दृश्य का उसका लालच, अधिकार की उसकी तृष्णा, जिन्दगी की बाहरी और थोथी बातों का उसका मोह—गांधी उन आँखों से इस सबको भेद कर देखते हैं। निर्दोष जंगली जानवरों को मारते-मारते उसके प्रतिफल में जो हमारी आदत भी तदनुकूल बन गई है, गांधी उसे देखते हैं। वह देखते हैं हमारी यह संस्कृति जो भक्ति-उपासना को नहीं जानती, जो चतुर्दिक व्याप्त जीवन की कविता को गिराकर धूल कर देती है और खेत की घास की मानिंद मूल्यहीन बना देती है।

सन् १९२२ में हिन्दुस्तान में चौरीचौरा में जनता की एक सामूहिक हिंसा का शर्मनाक नमूना पेश हो गया। गांधीजी ने उसी दम अपना सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द कर दिया और अनशन का एक भीष्म संकल्प लिया। यह आचरण महात्माजी की उस महान् आत्मा के योग्य ही था। चौदहवीं शताब्दी की एक छोटी-सी किन्तु ठोस धार्मिक राजनैतिक पुस्तक 'पियर्स प्लौमैन' में एक वाक्य आया है जिसे मैं अर्से से अपने साहित्य का एक अनमोल रत्न मानता आया हूँ। अपने झिझकते जी की सराहना के इस लेख के अन्त में उसे रखना अनुचित न होगा—

"जब तूने सुई की नोक जैसी तीक्ष्ण या मार्मिकता के साथ तड़पते हुए मानव के रक्त और मांस का हरण किया तब तेरा प्रेम पीपल-पत्र से भी हलका था !"[१]

: ३९ :

चीन से श्रद्धांजलि

एम० क्युओ तै-शी

हमारे इस जमाने में सारे चीन में जो सामाजिक राजनैतिक नवजागरण की प्रवृत्तियां हो रही हैं वे एशिया के और सब देशों में भी हैं और इनका संचालन और संपोषण करने के लिए कुछ नेताओं का समूह निश्चित रूप से तैयार हो गया है। हमारे महादेश की सबसे बड़ी आवश्यकता ऐसे दो नेताओं में मूर्तिमान हुई है वह आवश्यकता यह है कि राष्ट्रीय नवनिर्माण की पद्धतियां चाहे जो और विविध हों, राजनैतिक बुद्धि-क्षमता के ऊपर प्रभाव नैतिकता का ही रहेगा : सनयातसेन के परम-अनुयायी भक्त होते हुए मुझे इसे अपना सौभाग्य समझना चाहिए कि मैं माहात्मा गांधी की ७१वीं जन्मतिथि के अवसर पर उन्हें श्रद्धांजलि के रूप में कुछ कह रहा हूं।

: ४० :

राजनेता : भिखारी के वेष में

अब्दुल क़ादिर

कुछ वर्षों पहले मैं वीयना— आस्ट्रिया और जर्मनी के एक हो जाने के पूर्व के प्राचीन और सुदर वीयना—को देखने जा रहा था। दोपहर को खाना खाने

---

[१] **मूल अँग्रेजी इस प्रकार है :—**

"Never lighten was a leaf upon a linden tree than thy love was, when it took flesh and blood of man, fluttering piercing as a needle-point"

के लिए में एक बड़े भोजनालय में गया। वह कामकाज का वक्त था और वहां काफी भीड़ थी, इसलिए अपने लिए खाली मेज तलाश करने में कठिनाई हुई। एक नौकर मेरे पास आया और मुझसे यह नहीं पूछा कि में क्या लाऊ, बल्कि बोला, "आप गांधीजी के देश से आये हैं ?"

"हाँ, मैं हिंदुस्तान से आया हूं। मैंने गांधीजी को देखा है और एक-दो बार उनसे बातचीत भी की है।"

यह सुनते ही उसे आनन्द हुआ और वह कहने लगा—"मुझे बड़ी खुशी हुई। अब मैं यह कह सकूंगा कि मैं ऐसे आदमी से मुलाकात कर चुका हूं जिसने गांधीजी से मुलाकात की है।"

हालांकि में यह जानता था कि गांधीजी की कीर्ति दूर-दूर तक फैल चुकी है, मगर मुझे इस बात का पता नहीं था कि ऐसे मुल्कों के बाजार का मामूली आदमी भी उन्हें जानने और इज्जत करने लगा है, जो हिन्दुस्तान से कोई ताल्लुक नहीं रखते, बल्कि स्थल और जल से उससे जुदा हैं।

इस बात से मेरा ध्यान पीछे सन् १९३१ की ओर गया। तब मैं लन्दन में था और महात्मा गांधी दूसरी गोलमेज परिषद् में शरीक होने वहां आये थे। हिन्दुस्तान के कुछ लोगों का खयाल था कि उनके इंगलैण्ड जाने से उनकी शान को बट्टा लगा और परिषद् में शरीक होकर उन्होंने गलती की। मगर मैं इस राय से सहमत नहीं हूं। मेरा तो खयाल है कि हालाकि लन्दन में जनता के सामने प्रकट किये हरेक उद्गार में उन्होंने इस बात को छिपा नहीं रक्खा कि वह अपने देश के लिए पूरी-पूरी अजादी चाहते हैं तो भी उन्होंने इंगलैड़ के राजनैतिक विचारशील लोगों पर बड़ा असर डाला और इस देश में अपने लिए अनुकूल वातावरण बना लिया।

कुछ क्षेत्रों में उनकी पोशाक पर कुछ हलकी आलोचना भी हुई, लेकिन ऐसी आलोचनाओं से गांधीजी को क्या? उनके व्यक्तित्व ने और परिषद् में उनके भाग लेने का जो महत्त्व था उसने उसपर विजय प्राप्त कर ली।

गांधीजी के चरित्र की एक प्रभावक विशेषता यह है कि एकबार उनकी बुद्धि को संतोष देनेवाले कारणों से जब वह अपने आचरण का कोई मार्ग निश्चित कर लेते हैं, तब फिर लोग उसके बारे में कुछ भी कहते रहें, वह उसकी नितांत अवहेलना करते हैं। इसलिए जो पोशाक वह पिछले बरसों से पहनते आये थे, अपनी इंगलैण्ड की यात्रा में भी पहनते रहे। कमर में एक लंगोट, टांगे

खुली हुई और कंधों के ऊपर मौसम के अनुसार खादी की चादर या कंबल। यही अब उनकी पोशाक है। और फ्रांस से सफर करते हुए, जहां कि उनका हार्दिक स्वागत हुआ था, या लन्दन के बड़े-बड़े जलसों में शरीक होते हुए, यहांतक कि खुद गोलमेज परिषद् की बैठकों तक में उन्होंने इस पोशाक को नहीं छोड़ा। परिषद की बैठकें आम लोगों के लिए नहीं थी; क्योंकि सेंट जेम्स महल का वह हॉल जहाँ परिषद हुई थी इतना बड़ा नहीं था कि दर्शक भी आते। मगर मुझे मालूम हुआ कि कभी-कभी किसी-किसी को थोड़ी देर के लिए खासतौर पर मन्त्री की जगह बैठने की इजाजत दी जाती थी। मैं एक दिन वहां जा पहुँचा। लार्ड सेंकी अध्यक्ष थे। उनके दाहिनी ओर भारत-मंत्री सर सेम्युअल होर और पार्लमेन्ट के प्रतिनिधिगण बैठे थे। उनके बाई ओर सबसे पहली जगह गांधीजी को दी गई थी और उनके बाद दूसरे हिन्दुस्तान के प्रतिनिधियों को, जिनमें से कुछ अध्यक्ष की कुर्सी के सामने भी बैठे थे। लार्ड सेंकी ने गांधीजी के प्रति जो आदर प्रदर्शित किया वह उल्लेखनीय था।

गांधीजी ने पोशाक के मामले में प्रचलित पद्धति से जो स्वतंत्रता ली थी, उसकी सीमा तो तब देखने को मिली, जब मैंने उन्हें कांग्रेस के प्रतिनिधियों और दूसरे अतिथियों के सम्मान में दिये गए शाही भोज के समय बादशाह और मल्का के अभिवादन के लिए अपने कंधों पर कम्बल ओढ़े हुए बकिंघम-पैलेस की उन बनात से ढकी हुई सीढ़ियों पर चढ़ते देखा। मैं नहीं समझता कि पहले कभी ऐसे लिबास में कोई मेहमान उस महल में आया होगा और यह धारणा करना भी कठिन है कि किसी दूसरे आदमी को इतनी ही आजादी के साथ वहां जाने भी दिया जाता।

इस सिलसिले में दो मजेदार सवाल उठते हैं। पहला यह कि गांधीजी ने यह पोशाक क्यों धारण की, और दूसरा यह कि वह चीज क्या है, जिसने उनको इतना चढ़ा दिया है कि जिससे उनके द्वारा की गई प्रचलित प्रणालियों की उपेक्षा को दरगुजर कर दिया जाता है ?

जिन्होंने गांधीजी की आत्मकथा को, जिसे उन्होंने 'सत्य के प्रयोग' नाम दिया है, पढ़ा है, वे जानते हैं कि जब वह बैरिस्टरी पढ़ने के लिए पहले-पहल इंगलैण्ड आये तब वह फैशनेबुल आदमी के जीवन से परिचित थे। और वेस्ट एण्ड के दर्जी के द्वारा सिले सूट ही पहनते थे। बैरिस्टर होने और हिन्दुस्तान लौट आने के बाद वह एक कानूनी मुकदमे के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गये और वहीं रहने का उन्होंने निश्चय कर लिया। इसी समय उनके जीवन का

गम्भीरतापूर्ण उद्देश्य तैयार हुआ। वहीं पर उन्होंने अपने प्रवासी देशवासियों के हित के लिए त्याग और बलिदान करने का श्रीगणेश किया। उनके दुःख और दर्द में सहानुभति रखने से उनके जीवन में एक परिवर्तन हो गया। उन्होंने वहाँ जो उपयोगी कार्य कर दिखाये उनकी कथा इतनी अधिक प्रसिद्ध हो गई है कि उसकी यहाँ फिर से दोहराने की जरूरत नहीं है। जब वह लौटकर हिन्दुस्तान की आजादी की कशमकश में हिस्सा बटाने लगे, तो उन्होंने वकालत करने के इरादे को छोड़ दिया और अपने को राजनैतिक तथा सामाजिक सुधारों के लिए समर्पित कर दिया इसी समय से उन्होंने अपरिग्रह के रूप में लँगोटी पहनना शुरू किया और अपने रहन-सहन को कम-से-कम खर्चीला कर लिया। गरीब-से-गरीब लोगों के वेश में और गांधीजी के वेश में फर्क ही क्या है? उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में कहा है कि जब से वह लन्दन में विद्यार्थी-जीवन व्यतीत करते थे तभी से धर्म के सर्वोच्च स्वरूप——त्याग की भावना उन्हें अत्यन्त प्रिय रही है। उनके मन मे प्रविष्ट यह बीज आज एक वृक्ष बन चुका है और उसमें फल भी लग गये हैं।

गांधीजी की वेशभूषा के विषय में उठनेवाले पहले प्रश्न के उत्तर से दूसरे प्रश्न का भी उत्तर मिल ही जाता है। उनका बल अपने खुद के लिए किसी भी वस्तु की कामना न करने में ही है। अपने बहुअंगी जीवन-विभाग में, जहाँ कठिनाइयाँ, नजरबन्दी और कारावास के पश्चात् विजयोपलक्ष्य में निकलने वाले जुलूसों तथा सम्मान के लिए किये जाने वाले उत्साहपूर्ण जय-घोषों का क्रम आता है, वहां 'स्व', पदलोभ, प्रतिष्ठा, प्रभाव अथवा अर्थलाभ की कामना का कोई प्रश्न ही नहीं रहा है। यही उनके जीवन का एक अंग है, जिसने क्या मित्र और क्या विरोधी सबके हृदयों पर समान रूप से असर डाला है।

गवर्नरों और वायसरायों ने हमारे देश (हिन्दुस्तान) के भविष्य पर प्रभाव डालने वाले मसलों पर साफ-साफ चर्चा करने के लिए उन्हें बुलाया है। राजाओं ने मशविरे किये हैं और मंत्रियों ने उनसे परामर्श मांगा है। हमारे सुप्रसिद्ध हिन्दुस्तानी शायर स्वर्गीय सर मुहम्मद इकबाल की एक मशहूर गजल उनके विषय में बहुत उचित ठहरती है——**"दिल-ए-शाह लरजा गिरद-जे गदा-ए-बेनियाज"** (अर्थात्—ऐसे भिखारी को देखकर कि जो भीख नहीं मांगता, सम्राट् का भी हृदय कांप उठता है)। यही है वह भीख न मांगना और शारीरिक आवश्यकताओं और कामनाओं से ऊपर उठना, जिससे गांधीजी को प्रभावशाली और आश्चर्यजनक महत्व मिल सका है।

जबतक महात्मा गांधी इंगलैण्ड में रहे, वह लन्दन के पूर्वी सिरे में किंग्सले हाल में ठहरे। गोलमेज-परिषद के काम से जो कुछ वक्त उनके पास बचता था, उसे वह गरीब लोगों में विताते थे। जब वह उनसे मिलते हैं तो सर्वदा सुखी रहते हैं, एवं उनकी और स्वयं की आत्मा में अभिन्नता के अनुभव का आनन्द उठाते हैं। वह चाहते तो लन्दन के किसी भी शाही होटल में टिक सकते थे। वह अपने किसी मित्र के सजे-सजाये आरामदेह घर में ठहर सकते थे, मगर उन्हें तो बो में किंग्सले हाल की कुमारी म्यूरियल लिस्टर का निमन्त्रण कहीं अच्छा लगा। इस बस्ती में श्रमजीवियों के लिए एक क्लब है जो उनके लिए एक सामाजिक और बौद्धिक विकास का केन्द्र है और यहाँ उनका सम्मेलन हुआ करता है। कुछ रहने के लिए स्थान भी यहाँ है, जहाँ कोई भी रहने और खाने-पीने पर एक पौण्ड प्रति सप्ताह से भी कम खर्ज पर सीधे-सादे ढंग पर रह सकता है। जब गांधीजी गोलमेज-परिषद में हिन्दुस्तान का प्रतिनिधित्व कर रहे थे तब उन्होंने उसी में एक छोटा-सा कमरा लिया था। मैंने वह कमरा देखा है। उस जगह के व्यवस्थापक गांधीजी से अपना सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर गर्व करते है और बड़ी खुशी जाहिर करत हुए दर्शकों को वह कमरा दिखाते हैं, जो अब गांधी जी के नाम से पुकारा जाता है।

गांधीजी जहां भी रहे वहीं प्रेम और स्नेह पैदा करने की शक्ति का उन्हें विलक्षण वरदान है। जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों के अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी थी, तब उन्होंने अपने आस-पास भक्त पुरुष और स्त्री एकत्र कर लिये थे, जिनमें कुछ यूरोपियन भी थे। जब उन्होंने अपने उस कार्यक्षेत्र को छोड़ कर हिन्दुस्तान के विशाल कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया तब और भी ज्यादा संख्या में उत्साही सहयोगी कार्यकर्त्ता उनकी ओर आकर्षित हुए। और सन् १९३१ की अपनी अल्पकालिक इंग्लैण्ड-यात्रा में तो उनकी इस मित्र तथा प्रशंसक-मण्डली में और भी वृद्धि हो गई। हिन्दुस्तान लोट आने के बाद जब उन्हें जेल जाना पड़ा तो जेलर उनकी ओर खिंचते हुए अनुभव करते थे और वह जब अस्पताल में बीमार रहे तो उनकी नर्स उनकी खुशमिजाजी पर इतनी मुग्ध हो गई कि जब वह अच्छे होने पर वार्ड छोड़कर चले गए तो उन्हें दुःख हुआ। यह और भी ज्यादा उल्लेखनीय बात है, क्योंकि उनमें यह आकर्षण केवल उनकी आत्मिक सुन्दरता से आया है, शारीरिक रूप रंग और खूबसूरती से नहीं। गांधीजी के प्रेम का स्रोत है ईश्वर में अटल श्रद्धा और धर्म की गहरी भावना। उनकी 'आत्मकथा' में ऐसे अनेक स्थल है जहाँ यह श्रद्धा प्रगट हुई है। उदाहरण के लिए, मानव-जाति के आगे आदर्श

प्रस्तुत करते हुए वह कहते हैं—"पूर्णता की ओर बढ़ने का असीम प्रयत्न करना हमारा मानवोचित अधिकार है। उसका फल तो स्वतः उसके साथ विद्यमान रहता है शेष सब ईश्वर के हाथ में है।" उसी पुस्तक में वह कहते हैं—दक्षिण अफ्रीका की अपनी जीवन-धारा की प्रारम्भिक स्थिति में "मेरे अन्तर में बसनेवाली धार्मिक भावना मेरे लिए एक जीती-जागती शक्ति बन गई थी।" तबसे उनके जीवन का जिन्होंने निरीक्षण किया है, वे जानते हैं कि यही भावना है जो उनके भविष्य जीवन में भी काम करती चली आ रही है और जिसके कारण वह देश-भक्ति की लगन की उस ऊँचाई पर पहुँच सके हैं और कायम हैं।

अपने ऐसे जीवन के ७० वर्ष पूरे करने पर, जो मातृभूमि और धर्म तथा मानवता की सेवा में अर्पित रहा है, गांधीजी को अगणित श्रद्धाञ्जलियां समर्पित की जायंगी। इनमें अधिकांश तो उनके साथ कार्य करने वालों या उन्हें भलीभाँति जाननेवालों की ओर से होंगी। मैंने तो केवल उनकी झांकियां प्राप्त की हैं और उनकी नीति तथा कार्य प्रणाली से भी मैं सर्वदा सहमत नहीं रहा हूँ, परन्तु जब मैं उनके ऊँचे व्यक्तिगत चारित्र्य और हिन्दुस्तान के प्रति की गई आजीवन सेवाओं की सराहना करता हूँ तो उतनी ही सचाई से करता हूं जितनी सचाई से कि वे लोग करते जो उनके अधिक निकट और घनिष्ट सम्पर्क में हैं। हमें हिन्दुस्तान की जनता में जो महान् जागृति दिखाई देती है उस सबका श्रेय किसी अन्य जीवित व्यक्ति से बढ़कर उन्हीं के उद्योग और प्रभाव को है। आज की इस शंकाशील और भौतिक दुनिया में, जिसे वह 'आत्मबल' कहते हैं। उस आत्मा की ताकत को दिखाने में ही उनका महत्व है। और इसी आधार पर तो उनके देशवासियों ने उन्हें 'महात्मा' का पद दिया है।

: ४१ :

गांधीजी का भारत पर ऋण

राजेन्द्रप्रसाद

भारतीय राजनीति में गांधीजी की देन महान् है। जब वह दक्षिण-अफ्रीका से १९१५ में अन्तिम रूप से स्वदेश लौट आये, तब भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) को स्थापित हुए तीस वर्ष हो चुके थे। कांग्रेस ने एक हद

तक राष्ट्रीय भावना जाग्रत और संगठित कर दी थी; लेकिन यह जागरण मोट रूप से केवल अंग्रेजी पढ़े लिखे मध्यमवर्गीय लोगों तक ही सीमित था। जनता में उसने प्रवेश अभी नहीं पाया था। जनता तक उसे महात्मा गांधी ले गये और उसे जन-आन्दोलन का स्वरूप दे दिया। महात्मा गांधीजी का आन्दोलन जहां व्यापक था वहां वह गहरा भी था। उन्होंने वे कार्य-योजनाएं हाथ में लीं, जो नितान्त राजनैतिक नहीं थीं, बल्कि जनता के एक बड़े हिस्से के जीवन में बहुत घुली-मिली थीं। एक शताब्दी या इससे अधिक काल से गोरों के लाभ के लिए जबरन नील पैदा करने की अन्यायपूर्ण प्रणाली से कष्ट उठाते आरहे निलहे खेतिहरों और मजदूरों की ओर से चम्पारन में किये गए उनके सफल सत्याग्रह से कांग्रेस की हलचल एकदम जन-आन्दोलन की सीमा तक जा पहुँची। अन्याय समझे जानेवाले लगानबन्दी के हुक्म की दुबारा जांच करने के लिए किये गए खेड़ा के उनके उतने ही सफल सत्याग्रह ने भी उस जिले की जनता पर वैसा ही असर डाला। अब कांग्रेस की राजनीति, देश की ऊँची-ऊँची पब्लिक सर्विसों में अधिक हिस्सा या गवर्नरों की शासन-समितियों मे ज्यादा जगह दिये जाने की मांगों तक ही सीमित नहीं रह गई। अब वह थकी-मांदी जनता की तकलीफों से अभिन्न होकर ही नहीं रही, बल्कि उनको दूर कराने में भी सफल हो सकी। इन सब प्रारम्भिक (१०१७ और १९१८ के) आन्दोलनों से लेकर अबतक अनेक आन्दोलन ऐसे चले हैं और उन सब में ध्येय यही रहा है कि किसी एक श्रेणी या समूह को ही न पहुँच कर व्यापक-रूप से समस्त जनता को उसका फायदा पहुँचे। कष्ट निवारण के लिये सिर्फ ब्रिटिश हितों अथवा ब्रिटिश सल्तनत के ही खिलाफ लड़ाई नहीं छेड़ी गई, बल्कि उसने बिना हिच-किचाहट के हिन्दुस्तानी हितों और गलत धारणाओं को भी उतनी ही ताकत से धक्का पहुँचाया है। इस प्रकार उनकी जाग्रत आँखों से हिन्दुस्तान के कार-खानों में काम करने वाले मजदूरों की असन्तोष-प्रद हालत छिपी नहीं रह सकी और सबसे पहले जो काम उन्होंने उठाये, उनमें से एक अपने लिए अच्छी स्थिति प्राप्त करने के वास्ते लड़ने में अहमदाबाद के मजदूरों को मदद करना भी था। दलित जातियों की दुःखभरी किस्मत ने अनिवार्य रूप से हिन्दुओं की अस्पृश्यता-जैसी दूषित और दुष्टतापूर्ण प्रथा को निष्ठुरतापूर्वक मिटा डालने के आन्दोलन को जन्म दिया और महात्मा गांधी ने अपने प्राणों तक की बाजी लगा-लगाकर उसका संचालन किया। कांग्रेस-संगठन का विस्तार भी इतना

हुआ कि इस विशाल देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक वह व्याप्त हो गया और आज लाखों स्त्री-पुरुष उसके सदस्य है। लेकिन संख्या-मात्र जितना बता सकती है उससे कही अधिक व्यापक कांग्रेस का प्रभाव हुआ है। उस प्रभाव की गहराई की परीक्षा इसीसे हो चुकी है कि जनता उसके आमंत्रण पर त्याग और कष्ट-सहन की भीषण आँच मे से निकल सकी है।

परन्तु महात्मा गांधी की सबसे बड़ी देन यह नही है कि उन्होंने हिन्दुस्तान की जनता मे राजनैतिक चेतना उत्पन्न कर दी और उसे एक अभूतपूर्व पैमाने पर संगठित किया। मेरी समझ मे तो, हिन्दुस्तान की राजनीति को और सम्भवतः संसार की पीड़ित मानव-जाति को, उन्होंने जो सबमे बड़ी चीज दी है, वह है बुराइयों से लड़ने का वह बेजोड़ तरीका—जिसे उन्होंने प्रचलित और कार्यान्वित किया। उन्होंने हमे सिखाया है कि बिना हथियार के शक्तिशाली ब्रिटिश-साम्राज्य से सफलता के साथ किस प्रकार लड़ा जा सकता है। उन्होंने हमे और संसार को युद्ध का नैतिक स्थान ग्रहण कर सकने वाली वस्तु दी है। उन्होंने राजनीति को, जो कि धोखाधड़ी ओर असत्य से भरी हुई थी, जो गिरी-से-गिरी हालत मे नीच षडयन्त्रो की स्थिति मे पहुँच गई थी और ऊँची-से-ऊँची स्थिति मे कूटनीतिपूर्ण दुमानी गोल-मोल भाषा और गुप्त चालों से ऊँची न उठ सकती थी, ऊपर उठाकर एक ऐसे उँचे आदर्श पर पहुँचा दिया है, जिसमें कि कितने ऊँचे उद्देश्य के लिए, किसी स्थिति मे भी, दोषपूर्ण और अपवित्र साधनों का उपयोग नही किया जा सकता। उन्होंने राजनीति में भी सचाई को गौरव के उच्च मंच पर आसीन किया है, फिर चाहे उसका तात्कालिक परिणाम कितना ही हानिप्रद क्यों न लगता हो? हमारी कमजोरियों और बुराइयों को भी स्पष्टरूप से जान-बूझकर तथाकथित शत्रुओं के सामने खोलकर रख देने की उनकी आदत ने पक्षियों और विपक्षियों दोनों को हैरान कर दिया है। लेकिन उसके मत मे हमारी शक्ति अपनी कमजोरियों को छिपाने में नहीं, बल्कि उन्हे समझकर उनसे लड़ने मे निहित है। यह बात अनुभव से सिद्ध हो चुकी है कि जहां अहिंसा की थोड़ी-सी अवहेलना या अपूर्णता भले ही अस्थायी लाभ ला सके, वहां भी अहिंसा का कठोर पालन सबसे सीधा रास्ता ही नहीं है, वरन् सबसे अधिक चतुराई की नीति भी है। उनकी शिक्षाओं के भीतर नैतिक और आध्यात्मिक स्फूर्ति थी, जिसने लोगों की कल्पना को प्रभावित किया।

लोगों ने देखा और समझ लिया कि जब चारों ओर घना अन्धकार है, ऐसी स्थिति में हमारी गरीबी और गुलामी में से छुटकारे का रास्ता दिखलाने वाले वहीं हैं। जब हम अपनी निपट बेबसी महसूस कर रहे थे तब उन्होंने सत्य और अहिंसा के द्वारा अपनी शक्ति को पहचानने की हमें प्रेरणा दी। मनुष्य आखिर अस्त्र और शस्त्र के साथ नहीं जन्मा। न उसके चीते के-से पंजे ही हैं और न जंगली भैंसे के-से सींग। वह तो आत्मा और भावना लेकर उत्पन्न हुआ है। फिर वह अपनी रक्षा और उन्नति के लिए इन बाहरी वस्तुओं पर क्यों अवलम्बित रहे? महात्मा गांधी ने हमें सिखाया है कि अगर हम मौत और विनाश पर भरोसा रक्खेंगे तो वे हमारी बाट देखते रहेंगे। उन्होंने हमें सिखाया है कि अगर हम अपनी अन्तरात्मा को जाग्रत करलें तो जीवन और स्वतन्त्रता हमारे होकर रहेंगे। दुनिया में कोई ताकत ऐसी नहीं है कि एक बार उस अन्तरात्मा के जाग पड़ने पर, एक बार इन बाह्य वस्तुओं और परिस्थितियों का अवलम्बन छोड़ देने पर और एक बार आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लेने पर वह हमें गुलामी में रख सके। हिन्दुस्तान शनैः-शनैः किन्तु उतनी ही दृढ़ता और निश्चय के साथ उस आत्मिक बल को प्राप्त कर रहा है और उस आत्मिक बल के साथ अदम्य भी बनता जारहा है। परमात्मा करे कि वह सत्य और अहिंसा के इस संकरे किन्तु सीधे मार्ग से विचिलित न हो, जो उसने महात्मा गाधी के नेतृत्व में चुन लिया है। यही है महात्माजी का भारतीय राजनीति पर सबसे बड़ा ऋण, और यही होगी दुनिया की मुक्ति में हिन्दुस्तान की एक अमर देन।

: ४२ :

ईश्वर का दीवाना

रेजिनॉल्ड रेनाल्ड्स

ईश्वर ने अपने दीवानों को अजीब देशों में दुनिया को जाँचने के लिए भेज दिया और कह दिया कि "जाओ, तुम ऐसे ज्ञान का प्रचार

करो जो समय के पूर्व हो। सब दुःख आंख खोल कर सहो और परिवर्तन का मार्ग साफ करो।"[१]

ये डबल्यू. जी. होल की 'दी फूल्स ऑव गॉड' (ईश्वर के दीवाने) शीर्षक कविता के प्रारम्भ के शब्द हैं। इस कविता को मैंने १९२९ में हिन्दुस्तान जाने के कुछ महीने पहले 'विश्वभारती' त्रैमासिक पत्रिका में देखा था। यह कविता बहुत प्रसिद्ध तो नहीं है, पर मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि मेरी पढ़ी किसी कविता ने मेरे मन पर इतना गहरा और स्थायी प्रभाव डाला हो जितना उक्त कविता ने। इसका कारण उसके पद्यों मे वास्तविक खूबी का होना नहीं था, बल्कि यह था कि वे भविष्यवाणी के रूप में सिद्ध हुए।

कविता में यह वर्णन किया गया है कि ईश्वर अपने प्यारे दीवानों को आदेश देता है: "बहरे हो जाओ, किसी का लिहाज मत करो। और दुनिया की बुद्धिमानी के रास्ते से सदा उलटे होकर बचो।"

वे चलते है "और आराम में पले हुए लोगों को परिश्रम और भूख-प्यास का उपहार देते हैं। आज उन्हें सब गालियां देते हैं, कल धन्यवाद देते हैं।"[२]

अपनी साधना के दर्मियान वे त्याग देते हैं "मनुष्यों की स्वीकृति और प्रशंसा के सुविधा-पूर्ण मार्ग को।"[३]

---

[१] His fools in vesture strange
God sent to renge
The world and said : "Declare
Untimely wisdom; bear
Harsh witness and prepare
The paths of change."
And proffering toil and thirst
To men in softness nursed
To-day by all are cursed,
To-morrow blessed.
The comfortable way
Of men's consent and praise

लेकिन 'श्रद्धा के दीवाने', वे दावा करते हैं "उस प्रकाश के देखने का, जो मनुष्यों के भाग्यों को चमका देता है, उन्हें बादशाह बना देता है और उनमें धार्मिक कार्य करने की शक्ति दे देता है।[१]

उस कविता के पढ़ने के बाद कुछ ही महीनों के अन्दर—मैं बड़े आदर के साथ कहूँगा—दुनिया के सबसे बड़े दीवाने महात्मा गांधी से मिला। शीघ्र ही मैंने यह पता लगा लिया कि मुझे प्रभावित और प्रेरित करनेवाली उन पंक्तियों का आकर्षक वर्णन इस पुरुष पर अक्षरशः घटित होता था।

चाहे विरोध में किसीने कुछ भी दलीलें दी हों, मेरा तो ख्याल ऐसा नहीं है कि गांधीजी कोई चालाक आदमी हैं। दस साल पहले से, जबसे मेरा उनसे पहले-पहल परिचय हुआ, मैंने सदा अपने-आपको उनके शब्दों और कार्यों की अक्सर बेहद आलोचना करनेवाला महसूस किया है। मैं उन अन्ध-श्रद्धालुओं में से नहीं हूँ, जिनके मत में महात्मा जी कभी भूल ही नहीं कर सकते। न तो मैं उन्हें एक 'मसीहा' समझता हूँ और न 'अवतार' ही मानता हूँ। अगर वह महान् होने का दावा करें और उसके लिये अपनी राजनैतिक बुद्धिमत्ता पर निर्भर रहें तो मेरी समझ में उनका यह दावा कच्चा होगा।

उनकी जाँच तो दूसरी ही कसौटी द्वारा करनी होगी।

अगर गांधीजी की पूरी-पूरी और सच्ची महत्ता को समझने चलें तो हिन्दू-धर्म के इतिहासका उसकी प्रारम्भिक अवस्था से अध्ययन करना होगा और उन सब अनगिनती सुधार-आन्दोलनों पर जोर देना होगा जिनका प्रत्येक धर्म के विकास में एक स्थान होता है। कारण यह है कि प्रत्येक संगठितधर्म जर्जर होकर नष्ट होता है और अपने नाश की ओर जाते हुए वह जीवन के नये बीज जिनमें चैतन्य निवास करता है, निरन्तर फेंकता रहता है, पुराना चोला नष्ट हो जाता है निर्जीव शाखायें मुरझा जाती हैं।

---

[१] To see the light that rings
Men's brows and markes them kings
With power to do the things
Of righteousness.

मैंने एक बार एक शक्तिशाली अमरीकन ईसाई को गांधीजी के किसी शिष्य के साथ प्रश्नोत्तर करते सुना। उसने पूछा कि महात्माजी पर सब से गहरा प्रभाव किस पुस्तक का पड़ा है? पेंसिल ,और नोटबुक तैयार थी और हम सब जानते थे कि वह किस उत्तर की आशा कर रहा था। परन्तु उसे उत्तर मिला 'गीता का'। न्यू टेस्टामेण्ट और टॉल्स्टॉय तथा रस्किन की रचनाओं ने भी काम किया है। पर मूलतः गांधीजी एक हिन्दू-सुधारक हैं।

पर फिर भी गांधीजी हिन्दू-मात्र ही नहीं हैं। उनके तो असली पूर्व रूप 'कबीर' थे। कबीर ने पहले एक सन्त के नाते हिन्दुओं और मुसलमानों में आदर प्राप्त किया। वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के अग्रदूत थे। स्वयं मुस्लिम होकर वह हिन्दू-सन्त रामानन्द के शिष्य थे। कबीर की एक साखी का आशय नीचे दिया जाता है, जिससे इस ऐतिहासिक परम्परा का सुन्दर दिग्दर्शन हो सकता है।

> "अपनी चालाकी छोड़। केवल शब्दों से तेरा-उसका संयोग नहीं हो सकता। शास्त्रों के प्रमाण से भी अपने को धोखे मे न डाल। प्रेम तो इससे भिन्न है। जिसने इसे सचमुच खोजने का यत्न किया है उसने वास्तव में पा लिया है।"

इन पंक्तियों में एक धार्मिक नेता के नाते गांधीजी के उपदेशों का सार निहित है, और इस क्षण तो मैं उन्हें एक धार्मिक नेता के ही रूप में लेकर विचार करना चाहता हूँ।

जब एक बार एक हिन्दुस्तानी विद्वान् ने "क्या गीता कट्टरता का समर्थन करती है?" शीर्षक लेख (बाद में दि आर्यन पाथ' के मार्च १९३३ के अंक में प्रकाशित) लिखा और उसे गांधीजी के पास उनके देखने के लिए भेजा तो महात्माजी ने यरवदा सेन्ट्रल जेल से ११ जनवरी १९३३ को जो उत्तर उन्हें लिखा, वह इस प्रकार है:

"अब मैंने गीता पर आपके दोनों लेख पढ़ लिये हैं। वे मुझे रोचक लगे हैं। मेरी धारणा है कि आप भी उसी निर्णय पर पहुँचे हैं जिस पर मैं, परन्तु प्रकारान्तर से आपका मार्ग विद्वत्ता का है। मेरा ऐसा नहीं है।"

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस विद्वान और उस ईश्वर के दीवाने दोनों का निर्णय यही था कि गीता कट्टरता का समर्थन नहीं करती। परन्तु गांधीजी अपने दृष्टिकोण पर 'बुद्धि-चातुरी' के सहारे नहीं पहुँचे। कबीर ने ५००वर्ष बाद आने वाले गांधीजी के विषय में पहले से ही कह दिया था :

> "सत्यान्वेषक का यह युद्ध कठोर है और लम्बा है; क्योंकि सत्यान्वेषक का प्रण तो योद्धा के या सती के प्रण से भी कठिन होता है। योद्धा तो कुछ पहर ही युद्ध करता है और सती का प्रण भी जलते ही समाप्त हो जाता है। किन्तु सत्यान्वेषी का युद्ध तो दिन-रात चलता है, और जब तक जीता है समाप्त नहीं होता।"

और भी, कबीर ने जीवन और मृत्यु पर जो नीचे लिखे आशय की साखी कही है उसमें गांधीजी की आध्यात्मिक विरासत ही व्यक्त होती है :

> "अगर जीते-जी तुम्हारे बन्धन नही छूटे तो मृत्यु होने पर मुक्ति की क्या आशा हो सकती है? यह झूठा सपना है कि जीव शरीर छोड़ देने से उससे जा मिलेगा। यदि अब ईश्वर को प्राप्त कर लिया जायगा तो तब भी प्राप्त हो जायगा। यदि यह न हो सके तो हम नरक में जायँगे।"

ईसाई मत के कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदायों की परम्पराओं की समता अधिकतर धर्मों में खोजकर निकाली जा सकती है। हरेक प्रथा-प्रणाली में अपने विशिष्ट अवगुण होते हैं और ऊँचे-ऊँचे गुण भी। प्रोटेस्टेण्ट वाद का पूर्ण विकास उसके उत्कृष्टतम प्यूरिटनों में मिलेगा। हमारे युग में हम प्यूरिटन में सिवाय उसके असहनीय निषेधों के और कुछ देखना ही नहीं चाहते। प्रारम्भ में प्यूरिटन मत को किन-किन निषेधों का सामना करना पड़ा, यह आज हम आसानी से भूल जा सकते हैं। अपने असली स्वरूप में प्यूरिटन केवल एक कठोर हकीम है जो अपने अजीर्ण के रोगी को खाने-पीने में पथ्य-अपथ्य और संयम का आदेश देता है। हो सकता है प्यूरिटन का यह लक्ष्य बुद्धिपूर्वक न रहा हो, पर यह तो उसका इतिहास-सिद्ध कर्म था।

जहां कहीं भी समाज-सुधार आन्दोलन या क्रान्तियाँ होती हैं, वहाँ कट्टरवाद का आग्रह पाया जाता है। यह तो उन पुरुषों और स्त्रियों के अनुशासन का एक अंग-मात्र है जिन्हें अपनी शक्ति एक वस्तु पर केन्द्रित करने के लिए बहुत कुछ परित्याग करना पड़े। इसलिए आधुनिक भारत के नेता कट्टरवादी (प्यूरिटन) हों और उन सबका प्रमुख एक निर्मम तपस्वी है, यह कोई आकस्मिक घटना ही नहीं है। जबतक हम उन जंजीरों और बन्धनों को तोड़ न फेंके जो हिन्दुस्तानियों को अशिक्षित, अकर्मण्य, जाति-पांति के कट्टर भक्त और अन्ध-विश्वासी बनाये हुए हैं तबतक साम्राज्यवाद के खिलाफ होनेवाला उनका विद्रोह आगे नहीं बढ़ सकता। गांधीजी राजनैतिक आजादी के आन्दोलन के संचालन में समर्थ इसलिए हो सके कि उन्होंने पुजारियों की सत्ता का सामना किया, कट्टरता के हिमायतियों द्वारा मान्य बुराइयों—अस्पृश्यता, महिलाओं की हीन स्थिति, बाल-विवाह, सार्वजनिक स्वास्थ्य की अवहेलना, धार्मिक असहिष्णुता, शादी-विवाह की फजूलखर्ची तथा अफीमखोरी, थोड़े में, उन सब सामाजिक दुराचरणों—का उग्र विरोध किया, जिनमे देश में राजनैतिक जड़ता आ गई थी।

एक बार पुनः विदित होगा कि हिन्दुस्तान में एक लम्बी परम्परा चली आरही है जिसके बीच-बीच में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटती रहती हैं, जिससे हिंदुओं की कट्टरता की अनुदार धारा के विरोध में होनेवाली गांधीजी की प्रवृत्तियों का महत्त्व हमारी समझ में आ सकता है।

गांधीजी के बहुत पहले हिन्दुस्तान में 'ईश्वर के दीवाने' थे, बंगाल के 'बाउलों' में मुसलमान और हिन्दू, खासकर नीची जाति, के शामिल थे। कबीर साहब का आध्यात्मिक रंग उनमें देख पड़ता है। उन्हें लिखित ग्रन्थों की महत्ता या मन्दिरों की पवित्रता की परवाह नहीं थी। उनका एक गीत यही बात कहता है—

> मन्दिर-मस्जिद से है तेरा मार्ग छिपा मेरे भगवान !
> मार्ग रोकते गुरु-पुजारी—सुनता हूँ तेरा आह्वान।[१]

---

[१] Thy path O Lord is hidden by mosque and temple:
Thy call I hear, but priest and guru bar the way.

उनकी अपरिग्रह मे, आत्मसम्मान मे, और आत्मसाक्षात्कार मे श्रद्धा होती थी। उनका ईश्वर 'अन्तस्थ राम' या 'अन्तर्यामी' होता था।

एक बाउल ने ही कहा था—मानो मुझे और उन लोगों को चेतावनी दी थी जो अपने थोड़े-से ज्ञान से उस अपरिमेय का मूल्यांकन करने चलते है—

स्वर्णकार उपवन मे आया!
और कसौटी पर कस उसने
कमल-फूल का मूल्य बताया! ।[१]

अगर सुनार की कसौटी पर रक्खा जाय तो कमल का कोई मूल्य नही है। हमारे परिचित साधन भी प्राय. इसी प्रकार भ्रामक सिद्ध हो सकते है, जब मानवी बुद्धिमत्ता ईश्वर के दीवानो के विषय मे निर्णय करने चलती है।

: ४३ :

पश्चिम के एक मनुष्य की श्रद्धाञ्जली

रोम्या रोला

गांधीजी केवल हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय इतिहास के ही नायक नहीं है कि जिसकी पुण्यस्मृति कथा के रूप मे युगयुगांतर तक प्रतिष्ठित रहेगी। उन्होंने केवल क्रियात्मक जीवन का प्राण बनकर हिन्दुस्तानियों मे ही उनकी एकता, उनकी शक्ति और उनकी स्वतन्त्रता की कामना की गौरवपूर्ण चेतना नही भर दी, बल्कि समस्त पाश्चात्य जनता के हित के लिए उसके ईसामसीह के सन्देश को भी पुनर्जीवन दिया, जो अबतक विस्मृत या तिरस्कृत रहा। उन्होंने अपना

---

[१] A goldsmith methinks, has come to the garden:
He would appraise the lotus, forsooth
By rubbing it on his touchstone

नाम मानव-जाति के साधु-सन्तों में अंकित कर दिया है, उनकी मूर्ति का उज्ज्वल आलोक भूमण्डल के कोने-कोने में प्रविष्ट हो गया है।

यूरोप की दृष्टि में उनका उदय उस समय हुआ जब ऐसा उदाहरण लगभग एक आश्चर्य लगता था। यूरोप चार वर्षों के उस भीषण युद्ध से निकल ही पाया था, जिसके फलस्वरूप सर्वनाश, भग्नावशेष और पारस्परिक कटुता के चिन्ह अभी विद्यमान थे और, और भी अधिक नृशंस नये-नये युद्धों के बीज बो रहे थे। साथ-ही-साथ क्रांतियाँ हो रही थीं और समाजगत पारस्परिक घृणा की शृङ्खला राष्ट्रों के हृदयों को नोच-नोच कर खा रही थीं। यूरोप एक ऐसी दुर्भर रात्रिके नीचे दबा कराह रहा था, जिसके गर्भ में थी निराशा और निःसहाय अवस्था। और प्रकाश की एक भी रेखा दृष्टिगत नहीं हो रही थी। ऐसे मुहूर्त्त में इस दुर्बल, नग्न और नन्हें-से गांधी का अवतरण हुआ, जिसने सर्वाङ्गीण हिंसा की भर्त्सना की, न्याय और प्रेम ही जिसके हथियार थे, और जिसके नम्र किन्तु अविचल सौजन्य ने अपनी प्रारम्भिक सफलतायें अभी प्राप्त की ही थीं। ऐसे गांधी का उद्भव पश्चिम की परम्परागत, चिर प्रतिष्ठित और सुनिर्धारित विचारधारा तथा राजनीति की छाती पर एक अद्भुत प्रहार के रूप में जान पड़ा। साथ-ही-साथ वह आशा की एक किरण के रूप में भी लगा जो निराशा के अन्धकार में फूट पड़ी थी। जनता को उस पर विश्वास होता ही नहीं था। और इसलिये ऐसी महानतम अद्भुत शक्ति की वास्तविकता का विश्वास करने में कुछ समय लगा...। मुझसे अधिक अच्छी तरह इस बात को और कौन जानता? क्योंकि मैं ही पश्चिम के उन व्यक्तियों में से था जिन्होंने पहले-पहल महात्माजी के संदेश को जाना और उसे फैलाया।...परन्तु ज्यों-ज्यों भारत के इस आध्यात्मिक गुरु के कार्य के अस्तित्व और निरन्तर स्थिर प्रगति का विश्वास लोगों को होता गया, त्यों-त्यों पश्चिम से प्रशंसा और श्रद्धा की बाढ़ उनकी ओर आने लगी। कुछ लोगों के मत में उनका उदय ईसा का पुनरागमन था। पाश्चात्य सभ्यता की प्रगति किसी भी नैतिक सिद्धान्त पर आश्रित नहीं रही है, और वहाँ अन्वेषण और आविष्कार करनेवाली अद्भुत मानव-प्रतिभा का दुरुपयोग उसी सभ्यता के विनाश के लिए हो रहा है। इसलिए कुछ ऐसे स्वतन्त्र विचार वाले लोग भी यूरोप में हैं, जो पश्चिमी सभ्यता की अव्यवस्थित गति से क्षुब्ध हो उठे हैं। अतः सभ्यता के माया-जालों और अपराधों की निन्दा करनेवाले तथा प्रकृति, सादगी और

स्वास्थ्य की ओर जाने का उपदेश देने वाले गांधीजी, ऐसे लोगों को रूसो और टॉल्स्टॉय के एक नए अवतार ही प्रतीत हुए। सरकारों ने उनकी उपेक्षा और तिरस्कार की निगाहों मे देखने का ढोंग किया। किन्तु सर्वसाधारण ने अनुभव किया कि गांधी उनका घनिष्ट मित्र और बन्धु है। मैंने यहां स्वीटजरलैण्ड मे देखा कि गांवों और पहाड़ में बसे तुच्छ किसानों के हृदय में उन्होंने कैसा पवित्र स्थान प्राप्त कर रक्खा है।

लेकिन यद्यपि ईसा के गिरि-प्रवचन की भाँति उनके न्याय और प्रेम के सन्देश ने असंख्य लोगों के हृदयों को स्पर्श किया है, तो भी स्वयं युद्ध और विनाश की ओर जाती हुई दुनिया की गति बदलने के लिए वह जिस प्रकार नॅजरत के मसीह के सन्देह पर निर्भर नही थे, ठीक उसी प्रकार इस बात पर भी निर्भर नहीं रहे हैं। राजनीति मे गांधीजी के अहिंसा-सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप देने के लिए आज यूरोप में जैसा विद्यमान है, उससे कही भिन्न नैतिक वातावरण होना चाहिए। उसके लिए अपेक्षा होगी कि सर्वागीण विपुल आत्म बलिदान की। परन्तु आज भयंकर रूप से बढ़ते हुए तानाशाही राष्ट्रों के नये तरीकों के आगे, जिन्होंने दुनिया में अपना आधिपत्य जमा रक्खा है और लाखों मानवों के शोणित मे अपने निर्दय चिन्ह छोड़े है, इसमे सफलता की आशा नही है। जबतक जनता चिरकाल तक परीक्षाओं मे से न निकल ले, तबतक ऐसे बलिदानों की ज्योति को अपना विजयी प्रभाव डालने की न तो सम्भावना ही है, न आशा। और जनता में तबतक स्वयं को शक्तिशाली बनाने की हिम्मत नही आसकती, जब तक उनको पोषण देने और उदात्तता की ओर ले जाने के लिए गांधी के जैसी किसी निष्ठा की प्राप्ति न हो। पश्चिम के अधिकांश लोगों—क्या जनता और क्या उनके नेताओं—मे इस ईश्वर-निष्ठा का अभाव है तथा नये-नये पन्थ, चाहे वे राष्ट्र-वादी हों चाहे क्रान्तिवादी, सब हिंसा के जन्मदाता है। यूरोप-वासियों के लिए सबसे अधिक आवश्यक कार्य है अपनी स्वाधीनताओं, स्वतन्त्रताओं और अपने प्राणों तक की रक्षा करना जो आज फासिस्ट और जात्याभिमानी राष्ट्रों के सर्व-ग्रासी साम्राज्यवाद से आतंकित है। उनके इस राजनैतिक उत्तरदायित्व को छोड़ देने का अनिवार्य परिणाम होगा, मानवता की गुलामी—संभवतः युग-युगान्तर तक। ऐसी परिस्थितियों में हम गांधीजी के सिद्धान्त को, चाहे उसे हम कितने ही आदर और श्रद्धा की निगाह से देखें, (यूरोप में) व्यवहृत किये जाने का आग्रह नहीं कर सकते।

ऐसा जान पड़ता है कि गांधीजी का सिद्धान्त दुनिया में वह काम कर दिखाने के लिये आया है, जो उन महान् मध्ययुगीय ईसाई संघों ने किया था, जिनमें नैतिक सभ्यता, शांति और प्रेम की भावना तथा आत्मिक धीरता और निश्चलता की पवित्रतम निधि उसी तरह सुरक्षित थी जैसे किसी उमड़ते हुए सागर मे कोई टापू। कितना गौरवपूर्ण और पवित्र कार्य! गांधी की यह 'स्पिरिट' उनके पूर्ववर्ती सन्त ब्रूनो, सन्त बर्नार्ड, सन्त फ्रांसिस जैसे ईसाई-मठों के महान् संस्थापकों की भाँति संकटापन्न और परिवर्तनशील इस युग के प्रबल प्रवाह में भी, जिनमें से मानव-जाति गुजर रही है, शांति-तोष, मानव-प्रेम और ऐक्य को अजर-अमर रक्खे!

और हम, बुद्धिमान, विज्ञानवेत्ता, विद्वान कलाकार, जो अपनी नगण्य शक्तियों की सीमा के अन्दर अपने मनमें वह "मानव-समाज का नगर, जिसमें 'ईश्वरीय शान्ति' का राज है", निर्माण करने का प्रयत्न करते हैं, हम जो गिरजे की भाषा में 'तीसरी कोटि के' हैं और जो मानवता पर आधारित विश्वबन्धुत्व को मानते हैं, अपने इस गुरु और बन्धु गांधी को, जो भावी मानवता के आदर्श को हृदय में प्रतिष्ठित किये हुए उसे आचरण में प्रत्यक्ष करके दिखा रहा है, अपने प्रेम और आदर का हार्दिक अर्घ्य अर्पण करते हैं!

: ४४ :

एक अंग्रेज महिला की श्रद्धा

मॉड रॉयडन

ईसाइयों का यह महसूस करना, जैसा कि हममें से बहुत-से करते हैं, कि आज की दुनिया में सबसे अच्छा ईसाई अगर कोई है तो वह एक हिन्दू है, एक अजीब बात है। मैं जितनी ही ज्यादा गांधीजी के कार्यों पर नजर डालती और उनके उपदेशों को पढ़ती हूँ उतनी ही अधिक मुझे इस कथन में सचाई लगती है। मैं यह जानती हूँ कि अगर मै इतना और कहूं कि मुझे तो नँजरत के मसीह पूर्णता में अद्वितीय लगते हैं, तो वे बुरा न मानेंगे : मेरे कहने का इतना ही अर्थ है और मुझे यह कहना पड़ता है कि मसीह के शिष्यों में आज कोई भी उनके इतना निकट नहीं पहुँच सका है, जितने महात्मा गांधी।

प्रति सप्ताह जो 'हरिजन' के अंक मेरे पास आते रहते हैं वे मानों गरम और प्यासे देश में पवित्र पानी की घूंटों के समान हैं। शक्तिशाली बनने की राजनीति ने अपनी झूठी अपीलों और थोथे दर्शन से आज यूरोप में शान्ति के लिए प्रयत्न करनेवालों को भी पथ-भ्रष्ट कर दिया है। बहुतों का ऐसा विश्वास है कि न्याय की जबरन प्रतिष्ठा करना संभव है और इससे शान्ति स्थापित हो सकेगी। वे बरसों पुराने उस व्यंगचित्र को भूल गये मालूम होते हैं कि जिसमें पोलैण्ड का विच्छेद हो जाने के उपरान्त एक महिला का शरीर जकड़कर और मुँह बन्द करके जमीन पर लिटाया हुआ और सिर से चोटी तक एक हथियारबन्द पुरुष को उसका पहरा लगाते हुए दिखाया गया था और कहा गया था कि "वारसा में शान्ति स्थापित हो गई।" वे भूल गये जान पड़ते हैं कि महायुद्ध के पश्चात् रूस पर जो हमले हुए उनसे बोलशेविक सरकार और भी ज्यादा मजबूती से अपना आसन जमाती गई, और जर्मनी पर प्रहार किये जाने का परिणाम हिटलर का सिंहासन पर बैठना हुआ है एवं 'युद्ध का अन्त करने के उद्देश्य से किये जाने वाले युद्ध' के (जिसे हमने सफलतापूर्वक लड़ा है) बीस बरस बाद भी आज अपने आपको हम और भी अधिक युद्ध से आतंकित पाते हैं।

'हरिजन' में गांधीजी के शब्दों को पढ़ना इस निरर्थक शोरगुल और गोलमाल की दुनिया से उठकर अधिक पवित्र और अधिक शुद्ध वातावरण में जाना है—अधिक शुद्ध इसलिए कि वह हमें युद्ध की भूल से ऊपर देखने का सामर्थ्य देता है और अधिक पवित्र इसलिए कि वह सत्य की परमनिष्ठा से प्रेरित होता है।

अंग्रेज लोगों ने कभी-कभी गांधीजी को गूढ़बुद्धि होने का दोषी ठहराया है। 'दोषी' इसलिए कहती हूँ कि यद्यपि गूढ़बुद्धि होना स्वतः कोई आवश्यक रूप से बुरी वस्तु नहीं है, परन्तु यहाँ उसका प्रयोग तिरस्कार के रूप में—सत्य-निष्ठ न होने के अपराध के रूप में—किया गया है। मैं तो इतना ही कह सकती हूँ कि पहले महात्माजी से किये गए प्रश्नों और उनके द्वारा दिये गए उनके उत्तरों के 'हरिजन' में कुछ चिंता और आशंका से पढ़ा करती थी; परन्तु अब तो पढ़ते हुए मुझे आनन्द के साथ-साथ यह विश्वास रहता है कि वह किसी भी कठिनाई से बचने की या उसे टालने की कोशिश कतई नहीं करेंगे। चाहे वे प्रश्न डॉ० जे० आर० मॉट के हों, चाहे वे कागवा के हों और

चाहे वे पेरी मेरीसोल के हों, सब का उत्तर वह नितान्त सचाई के साथ देंगे।

इस मुल्क के राजनैतिक और धार्मिक जगत् के अनेक वर्षों के अनुभव के बाद ऐसी ईमानदारी (सत्यनिष्ठा) का पाया जाना ईश्वरीय झलक ही है।

गोलमेज परिषद् के वक्त जब गांधीजी इंग्लैण्ड में थे तो वह 'अपरिग्रह पर भाषण देने गिल्डहाउस आए थे हॉल खचाखच भरा था और सैकड़ों लोग बाहर खड़े थे। हम बड़े ध्यान से यह सुन रहे थे कि एक ऐसे व्यक्ति का, जो अपरिग्रह के बारे में बातें-ही-बातें नहीं करता था, बल्कि जिसे उसका यथार्थ अनुभव भी था, कहना क्या है ? अंत में बहुत से सवाल किये गए। कभी-कभी महात्मा को उत्तर देने से पहले रुकना पड़ता था। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह सिर्फ इसलिए रुकते थे कि वह मानवी भाषा में, अधिक-से-अधिक जितना सही और पूर्णतया सच्चा जवाब हो सके, दे। उनका यह कथन मुझे याद है कि "परिग्रह का त्याग पहले पहल शरीर से वस्त्र उतार देना जैसा नहीं बल्कि हड्डी से मांस ही अलग करने जैसा लगता है।" आगे उन्होंने कहा था—"अगर आप मुझसे कहें कि 'लेकिन भाई गांधी' तुम तो एक सूती कपड़े का टुकड़ा पहने हुए हो। फिर कैसे कह सकते हो कि तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है ?' तो मेरा उत्तर यह होगा कि 'जबतक मेरा शरीर है, मेरे खयाल से मुझे उस पर कुछ-न-कुछ लपेटना ही पड़ेगा। मगर'. . .अपनी मोहिनी मुसकराहट के साथ उन्होंने आगे कहा—'यहाँ कोई चाहे तो इसे भी मुझसे ले सकता है, मैं पुलिस को बुलाने नहीं जाऊँगा।'

'मां-बाप' ब्रिटिश सरकार ने महात्माजी के साथ पुलिस के सिपाहियों की एक टुकड़ी करदी थी। वे सब-के-सब उस वक्त गिल्डहाउस में खड़े-खड़े उनकी बातें सुन रहे थे। और दूसरों का कहना ही क्या, वे भी इसपर खिलखिला कर हँसना नहीं रोक सके।

जिन-जिन बातों से बहुत-से अंग्रेजों का आह्लाद हुआ, उनमें एक बात यह भी थी कि उन्हें यह पता लगा कि उस महान आत्मा में भी उन सब बातों पर विनोद करने और हँसने की प्रवृत्ति है, जिन पर हम सब की रहती है। मुझे अपनी कार में थोड़ी दूर उन्हें लेजाने का सौभाग्य मिला था। मार्ग में मुझसे उन्होंने मुझे सम्मानार्थ मिली हुई उपाधि के विषय में प्रश्न किया। यह तुम्हारे

आगे 'डी० डी०' क्या लगता है? मैंने कहा कि ग्लासगो यूनिवर्सिटी ने मुझे सम्मानार्थ 'डॉक्टर ऑव डिविनिटी' (ब्रह्मविद्या की आचार्या) की उपाधि दी है "अरे", वह बोले, "तब तो तुम 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में सब कुछ जानती हो!"

थोड़ी देर तक मोटर में बिठलाकर ले जाने की शुरुआत कैसे हुई, यह मुझे अच्छी तरह याद है। गांधी जी ने वचन दिया था कि वह मेरी मोटर में अपनी दूसरी मुलाकात की जगह जायंगे। लेकिन जब हम गिल्डहाउस के बाहर आये तो देखा कि लोगों की भीड़ उमड़ती हुई आ रही है और मैं अपनी गाड़ी फौरन नहीं खोज सकी। लन्दन की हर एक गाड़ी बगल में होकर धीरे-धीरे निकलती मालूम होती थी, इस आशा में कि उसके ड्राइवर को उन्हें लेजाने का सौभाग्य मिल जाय। मौसम ठंडा और नम था और महात्माजी के शरीर पर काफी कपड़े नहीं थे। दुखपूर्वक मैंने निर्णय किया कि मुझे उन्हें नहीं रोकना चाहिए और मैं बोली, "आप अगली गाड़ी में बैठ जाइए; मेरी गाड़ी की प्रतीक्षा न करें।" पर उन्होंने उत्तर दिया—"तुम्हारी गाड़ी के लिए ठहरा रहूँगा।" मैंने अनुभव किया कि जैसे मुझे राजमुकुट मिल गया है! एकदम ईसा के एक अनुयायी के शब्द मुझे सूझे कि "पास कुछ न होकर भी सब कुछ" उनका है। गांधीजी के पास मोटर गाड़ी कहाँ थी? लेकिन बीसों गाड़ियाँ उन्हें घेरे खड़ी थीं, इस उम्मीद में कि वह किसी एक को चुन लें।

आज के संसार में महात्माजी का सब से अधिक आग्रह अहिंसात्मक प्रतिरोध पर है। यह ज्ञान है जो उन्होंने, और उन्होंने ही, जीवन के सत्तर वर्षों के अनुभव के उपरान्त पाया है। और उनका इसमें विश्वास-मात्र ही नहीं है, बल्कि वह दिन-प्रति-दिन दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा है कि वह हिन्दुस्तान भर ही की नहीं समस्त संसार की रक्षा कर सकता है। जब इस विषय पर उनसे प्रश्न किये जाते हैं तो मैं यूरोप के घृणा और हिंसा के वातावरण मे घबराकर उत्कट उत्कंठा के साथ उनके विचार पढ़ती हूँ।

इन सबसे बढ़ कर, एक महिला के नाते मैं उस महात्मा से अधिक-से-अधिक आशा रखती हूँ। 'हरिजन' के हाल के किसी अंक में यही महत्वपूर्ण प्रश्न, जो प्रायः यहां के स्त्री-पुरुषों से पूछा जाता है, गांधीजी से भी पूछा गया था कि अगर किसी महिला के सतीत्व पर हमला हो तो उसे क्या करना चाहिए? अब महात्मा का उत्तर क्या होगा? क्या वह प्रश्न को उड़ा जायँगे? या कहेंगे कि मैं महिला

थोड़े ही हूँ जो उनको इस प्रश्न का उत्तर दूं? तो फिर क्या कहेंगे; क्या जवाब देंगे?

उन्होंने उत्तर दिया कि महिला को इसका विरोध करना चाहिए, चाहे फिर उस विरोध में उसे मरना भी पड़े, किन्तु किसी भी प्रकार उसे हिंसा का आश्रय नहीं लेना चाहिए। स्त्री-जाति के नाम पर मैं उन्हें प्रणाम करती हूँ। अपनी इज्जत और लज्जा की दृष्टि से महिला की स्थिति पुरुष से नितान्त भिन्न है; क्योंकि उसकी इच्छा के विपरीत उसकी गिरावट की जा सकती है, यह भयंकर धारणा जो आज दुनिया भर में, आमतौर पर, फैलाई जाती है, उनके इस उत्तर से नष्ट हो जाती है। वास्तव में यह सच नहीं है—अर्थात् किसी भी व्यक्ति स्त्री या पुरुष, का दूसरे के द्वारा की गई किसी भी चीज से पतन नहीं हो सकता। हम स्वयं ही अपना पतन स्वतः कर सकते हैं। अवश्य ही ऐसी बातें भी हैं जो "मृत्यु से भी बुरी" हैं और पतन या अपमान उनमें से एक है। किन्तु इसका अस्तित्व हमारे अपने कार्य या इच्छा को छोड़कर किसी भी दूसरे के कार्य या इच्छा में नहीं है। गांधीजी के सिवाय क्या किसी ने यह उत्तर देने का साहस किया है? उसके लिए वह हम सब महिलाओं के आदर के पात्र हैं।

क्या दुनिया को वह समझा सकेंगे? इस बात की कल्पना करते भय लगता है कि आज पश्चिम में जो पशुबल या सैन्यसंग्रह में इतनी श्रद्धा बढ़ती जा रही है, वह कदाचित् महात्माजी के अपने देशवासियों पर पड़े असर को दबा दे और उन्हें यह यकीन दिला सके कि पशुबल ही पशुबल का मुकाबला कर सकता है। यह तो न केवल हिन्दुस्तान ही, बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य और तमाम दुनिया के लिए एक दुखदायी घटना होगी। अकेले यूरोप में ही नहीं, पश्चिम के दोनों अमेरिका महाद्वीपों में ही नहीं, बल्कि पूर्व में भी जापान में, कनफ्यूसियस के शांतिवादी चीन तक में, हिंसा में विश्वास जड़ पकड़ता जा रहा है। क्या हिन्दुस्तान इस अहिंसा-सिद्धान्त को सुरक्षित रक्खेगा? संघर्षशील संसार में क्या एक हिन्दुस्तान ही सत्य पर डटा रहेगा और हमें प्रकाश दिखाता रहेगा? अगर हाँ, तो संसार सुरक्षित है। अगर नहीं, तो..........?

ओ, भारत, हमें निराश न करना

: ४५ :

सच्चे नेतृत्व के परिणाम

वाइकाउण्ट सेम्युअल

समय-समय पर गांधीजी ऐसे कार्य कर देते है और ऐसी बातें कह देते हैं जिनसे मेरा जी खीज उठता है। वे बाते मुझे अयुक्तियुक्त और दुराग्रहपूर्ण मालूम होती है। मै प्रायः अपने-आप को उनका समर्थक नही वरन् विरोधी समझने लगता हूँ। फिर भी, यह सब होते हुए भी, मुझे विश्वास है कि गांधीजी एक ऐसे पुरुष है जो नितान्त सचाई और सर्वांगीण आत्मबलिदान की लगन के साथ, कभी इस मार्ग मे, तो कभी उस मार्ग से, श्रेष्ठ ध्येय की ओर प्रगतिशील है।

दुनिया को चाहिए कि अपने महापुरुषो को पहचाने। संसार अपने महान् सेवकों के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करे। यद्यपि यह व्यग ही मे कहा जाता है कि "मृत पर जब फूल चढ़ते है तो जीवित को काँटे ही मिलते है।" पर हमे कभी जीवित पर भी, यदि वह इसके योग्य है तो फूल चढ़ाने चाहिए।

अपने लम्बे जीवन मे गाधीजी ने हिन्दुस्तान की, और हिन्दुस्तान के द्वारा समस्त मानव-जाति की, असंख्य सेवाये की है। उनमे से तीन मुख्य है।

उनको ऐसा जन-समाज मिला, जिसकी अपनी विशेषता थी "पूर्वीय दब्बूपन।" शत्रु से हारना, शासित होना, पिछड़े हुए, अशिक्षित, अन्धविश्वासी और दरिद्र बने रहना, यही हो गया था हिन्दुस्तान के असंख्य लोगों के भाग्य का—अतीत के इतिहास से अनुशासित और वर्तमान की अनिवार्य परिस्थितियों मे बाध्य—एकमात्र निपटारा। इस सबको बदल डालने के लिए गांधी उस आन्दोलन का नेता बनकर आगे आया जो उस समय साधारण और डाँवाडोल हालत मे था। अपने गुणों के बल से उसे शीघ्र ही प्रधानता मिल गई। उसके पास थी वह आत्मिक तेजस्विता और उसके साथ व्यवहार-क्षम कठोर निर्धारण शक्ति, जो जब कभी संयोगवश प्रकट होती है तब जनता को आन्दोलित कर देती है और जिन्हे विजयघोष से प्रति-ध्वनित सफलताये वरण करती है।

गांधी ने हिन्दुस्तान को अपनी कमर सीधी करना सिखाया, अपनी आंख ऊपर उठाना सिखाया और सिखाया अविचल दृष्टि से परिस्थितियों का सामना करना। कहा गया है—"जीवन को समझने के लिए भूतकाल की ओर और उसे सफल

बनाने के लिए भविष्य की ओर देखना चाहिए।" गांधी ने अपने देशवासियों को उसमें आत्म विस्मृत होने के लिए नहीं, वरन् उसमे शिक्षा ग्रहण करने के लिए, अपने भूतकाल का अध्ययन करना सिखाया। गांधी ने उन्हें अपने वर्तमान को अपने जबर्दस्त हाथों से पकड़ने की प्रेरणा दी, जिससे वे जाग्रत रहकर अपने भविष्य का निर्माण कर सकें। गांधी ने उन्हें भविष्य की ओर देखना सिखाया और इस गौरवपूर्ण जीवन की प्राप्ति की दिशा में किये जानेवाले भगीरथ प्रयत्न में उन्होंने इस बात को प्रधानता दी कि हिन्दुस्तान की महिलाओं को पुरुषों का हाथ बंटाना चाहिए।

अंग्रेज जाति आत्मसम्मान-प्रिय होती है। इसी कारण हम दूसरों के आत्म-सम्मान की भी इज्जत करते हैं। मुझे यह कहते हिचकिचाहट नहीं होती कि—पिछले वर्षों के तमाम वाद-विवाद और तमाम कशमकश के होते हुए—अंग्रेज लोगों में आज हिन्दुस्तानी लोगों के लिए इतना अधिक सच्चा आदर है जितना उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों की शताब्दियों में कभी नहीं हुआ।

हिन्दुस्तान में मनुष्य-जाति का छटा भाग बसा हुआ है। किसी भी एक व्यक्ति से बढ़कर गांधी ने मानवजाति के इस बड़े हिस्से को अपने जीवन का दर्जा ऊँचा उठाने और आत्मा का उत्थान करने में योग दिया है। हिन्दुस्तान इसके लिए उनका कृतज्ञ क्यों न हो? और ब्रिटेन को कृतज्ञ क्यों न होना चाहिए? और समस्त संसार को भी कृतज्ञ क्यों नहीं होना चाहिए, जो प्रकारान्तर से तथा अंततः इस लाभ का उपयोग करता है?

यद्यपि इस आन्दोलन में कुछ भीषण अपराध और अत्याचार के काले धब्बे अवश्य हैं, परन्तु वे गांधी की प्रेरणा से कब हुए? वे तो उनके द्वारा किये गये हार्दिक आग्रहों के स्पष्ट उल्लंघन में ही घटित हुए थे।

दूसरा महान् कार्य, जिसने उनका नाम रोशन कर दिया, यह है कि उन्होंने स्वतन्त्रता-साध्य और अहिंसा-साधन का सफल और अभूतपूर्व सामंजस्य कर दिखाया। रोष-प्रकाश, अनुनय-विनय, आवश्यकता पड़े तो आज्ञाभंग किन्तु बल-प्रयोग नहीं, विरोधी की हत्या नहीं, बलात्कार नहीं—यही उनका सन्देश था और है।

हिन्दुस्तान में ऐसी नीति जनता के चारित्र्य के अनुकूल ही है। वह अधिक आत्म-बलिदान की अपेक्षा रखती है जिसके लिए वह सर्वदा सन्नद्ध है। साथ ही इसका उनकी विवेक-बुद्धि से अच्छा मेल बैठ जाता है। यह एक ऐसा आचरण है

जो प्रमुख रूप से, उस प्रायः दुरुपयुक्त शब्द के अच्छे से अच्छे अर्थ में, धार्मिक है। इसका परिणाम भी शुभ हुआ है। विशाल जन-समुदाय के बलिष्ठ प्रयत्न और अहिंसा दोनों ने मिलकर अदूरदर्शी किन्तु,स्वाभाविक रूप मे होनेवाले विरोध पर किसी भी प्रतिगामी नीति से, कही अधिक शीघ्रता और पूर्णता से विजय पा ली है।

गांधीजी का तीसरा महान् कार्य यह हुआ है कि उन्होने शक्ति और लगन के साथ दलित वर्गों का प्रश्न हाथ मे लिया और उसे भारतीय राजनीति मे आगे लाकर सफलता के पथ पर बिठला दिया है।

जो हिन्दुस्तान के सच्चे हितैषी है उन्हे यह साफ-साफ कहना चाहिए कि दलित जातियों के प्रति उनका यह व्यवहार भारत के सामाजिक और धार्मिक इतिहास पर एक काला धब्बा है। वह धर्म कैसा है, जो इतने बडे जन-समूह को बिना किसी अपने खुद के अपराध के तिरस्कृत करता है? जो पहले उन्हे गिराता है और फिर उन्हे पद-दलित करता है, केवल इसी कारण कि वह पतित है? सच्चा धर्म तो वह है जो मानवीय आत्मा को दमन करने का नही। बलिक उद्धार करके उसे ऊँचा उठाने का आदेश देता हो।

गांधीजी ने अपनी सूक्ष्म और तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि से यह सब देख लिया है और इसका उन पर मार्मिक आघात हुआ है। निरन्तर विरोध होते हुए भी उन्होंने उन करोड़ों पीडित मानवों को ऊँचा उठाने का और इस कलक से देश को छुड़ाकर उसे सभ्यता के ऊँचे आसमान की ओर ले जाने का अविराम और अथक प्रयत्न किया है और अब वह देख सकते है कि वह आन्दोलन धीर गति से जड़ पकड़ता जा रहा है, और अनुभव कर सकते है कि उसकी अंतिम सफलता अवश्यम्भावी है।

× × ×

सत्तर वर्षों के अपने जीवन का सिहावलोकन करते हुए क्या कोई दूसरा जीवित पुरुष इतने महान् कार्यो को देख सकेगा? उन्होने एक विशाल राष्ट्र की आत्मा का उत्थान करने और गौरव को बढ़ाने मे नेतृत्व किया; उन्होंने आज की तथा कल की दुनिया को यह दिखाने मे नेतृत्व किया कि सार्वजनिक कार्य-क्षेत्र मे केवल मानव आत्मा की शक्ति-मात्र से ही, पाशविक शक्ति का आश्रय लिये बिना बड़े-बड़े शुभ परिणाम निकाले जा सकते है; और उन्होंने अन्याय-पीडितो का सदैव से चली आ रही अपनी पतितावस्था से उद्धार करने में नेतृत्व किया।

सिंहावलोकन के इस क्षण मे गांधीजी अपने इस निरीक्षण से पूर्ण संतुष्ट हो सकते है; दूसरे लोग भी उनको अपनी-अपनी श्रद्धांजलियां अर्पण करें। उन्हें अक्सर

तीखे-तीखे कांटे चुभाये गये है। आइये, अब हम उन्हे कृतज्ञता के फल अर्पण करें।

: ४६ :

गोलमेज परिषद् के संस्मरण

लार्ड सैंकी

इस लेख मे मैं गांधीजी के जीवन की विवेचना या उनके सामाजिक और राजनैतिक विचारों की आलोचना नहीं करना चाहता। उनके चरित्र की शक्ति इस बात से काफी सिद्ध है कि उनके अनुयायी उनकी अमर्यादित प्रशंसा करते है और उनके विरोधी तीव्र निन्दा। प्रस्तुत लेख व्यक्तिगत है और एक ऐसे प्रशंसक के द्वारा लिखा गया है, जो उनके सब विचारों से पूर्णतः सहमत नही है।

मैं गांधीजी से पहली बार १३ दिसम्बर १६३१ को मिला। हम गोलमेज परिषद् की संघ-योजना कमेटी मे कुछ महीनों तक रोज घंटों एक-दूसरे के बराबर बैठते रहे। उसके बाद वह भारत लौट गए और फिर मुझे उनसे मिलने का मौका नही मिला। अत्यन्त कठिन विवाद के समय और अनेक चिन्तायुक्त क्षणों में एक आदमी के नजदीक बैठने के बाद या तो उसे आपको पसन्द करना होगा या नापसन्द, और मैं आशा करता हूँ कि मेरी गणना गांधीजी के मित्रों में की जा सकती है।

वह संघ-योजना कमेटी की बैठकों मे उपस्थित होने के लिए इग्लैड आये थे, और मेरा परिचय उनसे लन्दन के डोरचेस्टर होटल मे एक मुलाकात के समय हुआ। यह अफवाह फैल चुकी थी कि वह आनेवाले है, इसलिए बाहर बड़ी भीड़ जमा थी। उनका कद छोटा था, वह सफेद कपड़े पहिने थे, किन्तु वह इस तरह चलते थे मानो उन्हें अपने गौरव और ख्याति का भान हो। उनका बाह्य रूप चित्ताकर्षक था, किन्तु मुझपर सबसे ज्यादा असर डाला उनकी बड़ी-बड़ी और चमकीली आँखों ने, जिनसे आप कभी-कभी उनके भीतरी विचारों और विश्वासों का पता लगा सकते हैं।

मैं संघ-योजना कमेटी का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इसलिए कहा गया कि

उनके साथ कमरे में अलग एक तरफ एकान्त में स्थिति-चर्चा कर लें। वहाँ उन्होंने मेरे सामने विस्तार के साथ अपने विचार रक्खे। उन्होंने भारत को नीचा दर्जा मिलने की शिकायत की, किन्तु उनकी मुख्य चिन्ता का विषय सरकार का वह विशाल खर्चीलापन प्रतीत होता था, जिसके कारण, उन्होंने कहा, गरीबों पर भारी कर लद गए हैं। सारी बातचीत के दौरान में गरीबों के लिए उनकी चिन्ता ही उनका प्रधान विषय था। वह भारत के देहातों में रहनेवालों के भाग्य के बारे में विशेष रूप से चिन्तत थे और इस बात से सहमत थे कि अति उद्योगीकरण एक बुराई है। उन्होंने मुझे सत्याग्रह का अपना मर्म समझाया और जब भारत की रक्षा का सवाल उठा तो उन्होंने हिन्दुओं के अहिंसा-सिद्धान्त पर खास तौर पर जोर दिया।

ऐसी लम्बी मुलाकात के अन्त में उनके बारे में बहुत निश्चित विचार न बना लेना असंभव था। शुरू में, अखीर में और हर घड़ी उनकी धार्मिक भाव-प्रवणता स्पष्ट थी।

मुझे अनुभव हुआ कि टॉल्स्टॉय के लेखोंका उनपर असर पड़ा है। उनके खयाल से सामाजिक बुराइयों का इलाज था सादे जीवनको लौट जाना। दूसरे वह मुझे महान् हिन्दू देशभक्त प्रतीत हुए। उनके हृदय में अपने देश का प्रेम प्रज्ज्वलित था और थी उसकी प्रतिष्ठा और ख्याति को बढ़ाने की कामना एवं गरीबों और पीड़ितोंकी सहायता पहुँचाने की लगन। अन्तिम बात यह है कि वह निर्विवाद रूप से एक महान् राजनैतिक नेता थे; क्योंकि यह स्पष्ट था कि न केवल अन्तिम ध्येय के बारे बल्कि उसको सिद्ध करनेवाले साधनों के बारे में भी उनका विश्वास सच्चा और दृढ़ था।

कमेटी की पहली बैठक लन्दन के सेंट जेम्स पैलेस में १४ सितम्बर को हुई वह गांधीजी का मौन-दिवस था। अतः वह एक शब्द भी नहीं बोले। मंगलवार ता० १५ को उन्होंने अपना पहला भाषण किया और उस समय लिया हुआ डायरी का यह नोट शायद मनोरंजक प्रतीत होगा—"गांधीजी बहुत धीमे और विचार-पूर्वक बोले, एक मिनिट में ५७ शब्द बिना किसी नोट के वह करीब एक घंटे तक बोलते रहे। शुरू करने से पूर्व उन्होंने अपने दोनों हाथ जोड़े और ऐसा मालूम पड़ा कि जैसे वह प्रार्थना कर रहे हैं। वह मेरी बगल में बैठे थे। पैरों में चप्पल, घुटनों के ऊपर तक धोती, और एक बड़ा सफेद शाल ओढ़े हुए थे।" उन्होंने भारत को आजादी और सेना तथा अर्थ पर भारतीयों को नियंत्रण देने की मांग की। उस अवसर पर शारीरिक और मानसिक श्रम को गांधीजी ने कैसे सहन किया, इसका मुझे सदा आश्चर्य रहा है। वह बिला-नागा सारे दिन शुरू से अखीर तक वहां

बैठे रहते थे। उस समय जो नोट किया गया था, उससे पता चलता है कि कभी-कभी नित्य अस्सी हजार शब्द वहाँ बोले जाते थे।

किन्तु गांधीजी का असली काम तब शुरू हुआ जब परिषद स्थगित हो गई। रात को बहुत देरतक और सबेरे बड़े तड़के वह घण्टों विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों के साथ बातचीतें और मुलाकातें करते और उन्हें अपने विचारों का बनाने का शक्ति-भर प्रयत्न करते। प्रधान मंत्रियों और अधिनायकों के पास तो अपने लोगों पर अपने विचार थोपने के साधन और अवसर होते हैं, किन्तु गांधीजी के अतिरिक्त कभी कोई ऐसा आदमी हुआ हो, जिसने लाखों आदमियों को अपने जीवन और प्रयत्नों के उदाहरण से अपने पक्ष में कर लिया हो, इसमें मुझे सन्देह है।

यह मेरा सौभाग्य था कि परिषद के दौरान में मुझे भारतवर्ष के अनेक विशिष्ट पुरुषों, बूढ़ों और जवानों तथा सभी सम्प्रदायों और श्रेणियों के लोगों से मिलने का अवसर मिला। वे सब गांधीजी से सहमत रहे हों, या न रहे हों पर उनके असाधारण व्यक्तित्व से सभी प्रभावित थे।

समय-समय पर वह अन्तर की आवाज से प्रेरित होते प्रतीत होते थे। संसार के इतिहास के विभिन्न समयों में अन्य महान् पुरुषों को भी ऐसा ही अनुभव हुआ है। उदाहरण के लिए सुकरात और संत पॉल के नाम लिये जा सकते हैं। कौन जाने ऐसे व्यक्ति पागलों के स्वप्न देखते हैं अथवा अलौकिक बुद्धिमानी के अधिकारी होते हैं, किन्तु कम-से-कम वह उन लोगों पर, जो उनके सम्पर्क में आते हैं, आदेशात्मक प्रभाव रखते प्रतीत होते हैं। गांधीजी राजनैतिक योगी हैं, कभी असम्भव किन्तु हमेशा धार्मिक, और इस बात के लिए सदा उत्सुक कि भारतवर्ष और गरीबों के लिए उनसे क्या किया जा सकता है।

उनके राजनैतिक जीवन के बारे में कुछ कहना मेरा काम नहीं है। राजनीतिज्ञों के साथ कभी-कभी कठोरता का व्यवहार किया जाता है। अपने 'सीसेम एण्ड लिलीज' ('Sesame and Lilies') नामक ग्रंथ में एक प्रसिद्ध स्थल पर जॉन रस्किन कहते हैं—"हम यदि किसी मंत्री से दस मिनट के लिए बात करें तो हमें ऐसे शब्दों में उत्तर मिलेगा जो भ्रामक होने के कारण मौन से भी बदतर होंगे।" यदि रस्किन स्वयं राजनीतिक नेता हुए होते तो उन्होंने इससे कुछ अच्छा व्यवहार किया होता, इसमें शक है। और जब पश्चिमी राजनीतिज्ञ गांधीजी के राजनैतिक जीवन की कुछ कटु आलोचना करते हैं तो उन्हें यह अनुभव करना चाहिए कि जो लोग काँच के मकान में रहते हैं उनका दूसरों पर पत्थर फैंकना कहां तक ठीक हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि गांधीजी के आदर्श उच्च हैं, किन्तु कभी-कभी मैं आश्चर्य करता हूँ कि यदि उनको न केवल अपने लोगों में बल्कि भारतवर्ष की विशाल जन-संख्या पर जिसमें अनेक धर्म और जातियाँ हैं, सत्ता प्राप्त होती और उनकी जिम्मेदारी उनके सिर पर होती तो वह क्या करते ? ऐसी परिस्थिति में राजनीतिज्ञ को उपायों और साधनों का विचार करना पड़ता है। किन्तु उपाय और साधन दैवी पुरुषों के लिए नहीं होते और अन्त में आमतौर पर राजनीतिज्ञों पर दैवी पुरुष विजयी हो जाते हैं ।

यदि मेरा विचार पूछा जाय तो जब गांधीजी का जीवन पूर्ण हो जायगा तो यह आमतौर पर माना जायगा कि अपने प्रयत्नों के फलस्वरूप वह दुनिया को उससे अच्छी अवस्था में छोड़ गये, जो कि उनके आगमन के समय थी ।

: ४७ :

हिन्दुत्व का महान अवतार

डी० एस० शर्मा

एक अमेरिकन यात्री ने एक बार कहा कि वह हिन्दुस्तान में तीन चीजें देखने आया है—हिमालय, ताजमहल, और महात्मा गांधी। हम इस देश में महात्मा गांधी के इतने निकट हैं कि उनके व्यक्तित्व को वास्तविक रूप में नहीं देख सकते और न यही समझ सकते हैं कि जिन्हें वह अपने 'सत्य के प्रयोग' कहते हैं, उनका मानव-इतिहास में क्या महत्व है। उन्होंने खुद कहा है कि उनका संदेश सार्वभौम है, भले ही वह भारत में और भारतीय राजनीति के क्षेत्र में दिया गया है। किन्तु जिस मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य मानव-जाति को उच्च नैतिक और आध्यात्मिक सतह पर ले जाना हो उसके लिए राजनीति तो गौण या आनुषंगिक प्रवृत्ति है।

हमने इस युग में आकाश-विजय को देखा है। हम उन साहसी स्त्री-पुरुषों की नित्य ही बातें सुनते हैं, जो भयंकर खतरों का जरा भी खयाल किये बिना थल और जल पर हजारों मील उड़कर एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप को जाते हैं। जैसा कि हम सब जानते हैं, वायुयान के आविष्कार ने और युद्ध तथा शांति के कामों के लिए राष्ट्रों द्वारा उसको तेजी के साथ अपना लेने के इतिहास का नया

पृष्ठ खोल दिया है। किन्तु महात्मा गाधी का आविष्कार मनुष्य-जाति के लिए वायुयान से भी अधिक महत्वपूर्ण है और उसके भाग्य पर शताब्दियो तक असाधारण प्रभाव डालेगा। उनका सत्याग्रह आध्यात्मिक आकाश-विद्या के अलावा और कुछ नही है। जब हम उसे ठीक रूप मे समझ लेंगे और उस पर सही-सही आचरण करेंगे तो वह न केवल व्यक्तियो को, बल्कि राष्ट्रों को मनुष्यो मे बास करनेवाले सिंह और बन्दर के स्वभाव से उडकर उस रहस्यमयी आध्यात्मिक पूर्णता की ओर ले जायगा, जिसे हम ईश्वर कहते है। कुछ लोग उनके अहिंसा के सिद्धान्त पर जिसे वह आत्म-शक्ति कहते है, हँस सकते है और पूछ सकते है कि जब उसे मशीन-गन या विध्वसक बम का सामना करना पडेगा तो उसका क्या होगा? स्पष्ट है कि उन्होने ईसाइयत की गाथा को नही समझा है। वह हमको पार्लमेण्ट के उस सदस्य की याद दिलाते है—वह शायद नरम दल का प्रतिनिधि था—जिसने नव-आविष्कृत रेलवे एंजिन के बारे मे बहस करते हुए कहा था कि यदि प्रस्तावित पटरी पर किसी क्रुद्ध गाय ने उस पर हमला किया तो क्या होगा? किन्तु सौ वर्ष बाद, अथवा सम्भवत हजार वर्ष बाद, क्योकि मनुष्य आध्यात्मिक जगत में अभी निरा शिशु है, जब यूरोप के आज के तमाम सैनिक अधिनायक अपने जैसे विचारवालो के साथ अपनी कब्रो मे मिट्टी हो चुकेंगे, और वह बर्बर शस्त्रास्त्रों का ढेर भी जिसे वह बढ़ाये जा रहे है, नष्ट हो चुका होगा, तब इस कृशकाय हिन्दू द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक शस्त्र जगद्व्यापी बन जायगा और दुनिया के राष्ट्र उसे आशीर्वाद देंगे कि उसने उन्हें श्रेष्ठतर मार्ग बताया—ऐसा मार्ग जो मानव-प्राणियों के लिए वस्तुत. उपयुक्त है। उस समय उसको सब लोग परमात्मा का सच्चा दूत मानेंगे, जिसका सन्देश बुद्ध, ईसा अथवा मुहम्मद की भांति एक देश या जाति के लिए सीमित नही है।

हिन्दू-धर्म दुनिया का सबसे पुराना धर्म है। उसके पीछे चालिस शताब्दियों का अटूट इतिहास है। उसके दर्शन और उपनिषद अभी बन्द नही हुए है। वह सदा नवीन सिद्धान्तो की घोषणा, नये नियमों के प्रचार और नये ऋषियों और अवतारों के आगमन की कल्पना करता है। एक शब्द में वह सत्य की उत्तरोत्तर सिद्धि है, और वह पुनर्जीवन के युग में से होकर गुजर रहा है और उसके इतिहास में एक स्मरणीय अध्याय जोड़ा जा रहा है। क्योंकि महात्मा गांधी, जो हिन्दू आध्यात्मिकता के सच्चे अवतार है और प्राचीन ऋषियो की शृंखला की प्रत्यक्ष कड़ी है, हिन्दू-धर्म के शाश्वत सत्यों की पुनर्व्याख्या कर रहे है और उनको मौजूदा दुनिया

की परिस्थितियों पर आश्चर्यजनक मौलिक रूप में घटित कर रहे हैं। उनका सत्याग्रह का सन्देश, जैसा कि वह स्वयं कहते हैं, हिन्दू-धर्म के 'अहिंसा' सिद्धान्त का केवल विस्तार है और राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर लागू किया गया है। भारतवर्ष के अलावा आवश्यक धार्मिक पृष्ठ-भूमि रखनेवाला कोई देश नहीं है, जहाँ कि इस महान् सिद्धान्त को जिसका उद्देश्य मानव में देवत्व जगाना है, विस्तृत और परिपूर्ण बनाया जा सके। उनका स्वराज्य, जो अहिंसा द्वारा प्राप्त किया जायगा और जिसमें सब धर्मों के साथ समान व्यवहार किया जायगा और सब समाजों को समान अधिकार और सुविधायें प्राप्त होंगी, '**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**' इस हिन्दू-सिद्धान्त की राजनैतिक व्याख्या-मात्र है। उन्होंने अस्पृश्यता निवारण और आधुनिक जाति-पाँति की असमानताओं को दूर करने के लिए जो महान् आन्दोलन शुरू किया गया है, उसका उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म-भावना की मौलिक पवित्रता को पुनः स्थापित करना है, जो उनके विचार में पृथ्वी का सबसे बड़ा साम्यवाद है। उन्होंने भारत के देहातों में चर्खे और कर्घे के पुनरुद्धार की हार्दिक अपील की है और इस देश में सम्पूर्ण मद्य-निषेध के लिए जो दलीलें दी हैं वे हमको भारतीय सभ्यता के उस स्वरूप की याद दिलाती हैं, जिसे हमको हर हालत में कायम रखना है। और सबसे अधिक, वह जिस प्रकार सब राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं को धार्मिक दृष्टिकोण से देखते हैं, जीवन के हर क्षेत्र में सत्य और अहिंसा पर जोर देते हैं और दैनिक जीवन की हर प्रवृत्ति में मनुष्य-मात्र की आध्यात्मिक एकता को स्वीकार करते हैं, ये सब हिन्दू-धर्म के उत्कृष्ट पहलू हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने साधु-सदृश आचरणों, उपवास, तप और त्याग-मय जीवन के द्वारा आधुनिक जगत में जहां हमारी इन्द्रियों को पथ-भ्रष्ट करने के अनेक साधन उपलब्ध हैं, हिन्दू-धर्म के ब्रह्मचर्य, तपस्या और वैराग्य के प्राचीन आदर्शों को प्रस्थापित किया है। इस प्रकार महात्मा गांधी, वचन और कर्म दोनों के द्वारा, हिन्दुत्व के उस भविष्य की ओर इंगित कर रहे हैं जो उसके भूतकाल के समान ही उज्ज्वल होगा। निस्सन्देह हिन्दू धर्म के इतिहास में महात्मा गांधी महान् रचनाशील महापुरुषों में से एक हैं और उनके भाषण और लेख हिन्दुओं के पवित्र धर्म-ग्रंथों के अंग बन कर रहेंगे।

: ४८ :

महात्मा : छोटा पर महान्

क्लेयर शेरीडन

कोई भी व्यक्ति जो उस छोटे-से महान् महात्मा से नहीं मिला है, उसके लिए उनके असली व्यक्तित्व को समझना प्रायः असम्भव है।

इंगलैण्ड में समाचारपत्र जानबूझ कर उनके विषय में गलत बातें लिखते हैं यदि उनके साथ न्याय किया जाय तो उनका प्रकाशन कुछ उतना ही हो, जितना कि अधिनायकों (डिक्टेटरों) का होता है। मैंने बहुधा खयाल किया है कि यदि अमुक दिन और अमुक घंटे समुद्र पार से दिये जानेवाले आक्रामक और शेखीभरे भाषण सुनने के बजाय दुनिया महात्मा गांधी की आवाज और उनके कुछ विशुद्ध सत्यों को सुन सकती तो कितना आश्चर्य, कितना आनन्द उसे होता। वह वाणी कितनी प्रकाशदायक और कितनी शिक्षाप्रद होती—स्पष्ट स्पष्टीकरण, आदर्श संयत विचार, घृणा-द्वेष का नाम नहीं और न हिंसा की धमकी।

मुझे स्मरण है कि जब लार्ड लेण्डनडेरी ने मुझसे पूछा था कि 'क्या गांधी हमसे बहुत द्वेष करता है?' तो मुझे कितना आश्चर्य हुआ था।

गांधीजी व्यक्तिशः या सामूहिक रूप में घृणा या द्वेष भी कर सकते हैं, यह कल्पना ही प्रकट करती है कि हमने उनकी प्रकृति को समझने में गहरी भूल की है।

मुझे गोलमेज परिषद के दिनों उन्हें बहुत नजदीक से देखने का सुअवसर मिला है। मेरी मित्र सरोजिनी नायडू के द्वारा महात्मा जी से इस बात की स्वीकृति ली गई कि मैं उनकी प्रस्तर मूर्ति बना सकती हूँ।

यह काम आसान न था। वह मेरी इच्छानुसार बैठने को तैयार न थे। इसका कारण या तो उनकी विनम्रता हो, या कार्याधिक्य हो अथवा उनको कला में दिलचस्पी ही न हो। सम्भवतः तीनों ही कारण हों।

मुझे याद है कि लेनिन ने भी ऐसी ही शर्तें लगाई थीं, जबकि मुझे सन् १९२० में क्रेमलिन में उनके काम करने के कमरे में प्रविष्ट होने की आज्ञा मिली थी इन दोनों में एक विचित्र समानता है। दोनों ही तीव्र आदर्शवादी हैं, हालां कि हिंसा के सम्बन्ध में वे अलग-अलग मत रखते हैं।

जब पहली मर्तबा महात्मा के दर्शन हुए तो उन्होंने ठीक वही कहा जो लेनि

ने कहा था—"मैं रुक कर नहीं बैठ सकता। आप मुझे अपना काम करते रहने दें और फिर जितना सम्भव हो उतना अपना काम कर लें।"

गांधीजी फर्श पर बैठ कर कातने लगे । लेनिन अपने दफ्तर में कुर्सी पर बैठ कर पढ़ते रहे, थे।

दोनों अवसरों पर मुझे मौन अवज्ञा का भान हुआ, किन्तु दोनों ही उदाहरणों में, अंत पारस्परिक घनिष्ट मित्रता में परिणत हो गया। एक दिन गांधीजी ने लेनिन की ही भाँति प्रायः उन्हीं शब्दों और उसी व्यंगयुक्त मुसकराहट के साथ कहा—

"हां, तो तुम मि० विन्स्टन चर्चिल की भतीजी हो।"

यह वही पुराना विनोद था—विन्स्टन की एक सम्बन्धी उसके कट्टर शत्रु से मित्रता (हाँ ?) कर रही है। और गांधी ने बात आगे चलाई—

"तुम्हें मालूम है न, वह मुझसे मिलना नहीं चाहते ? किन्तु तुम उनसे मेरी ओर से कहना—कहोगी न ?—कि मैं तुमसे मिलकर कितना प्रसन्न हुआ हूँ।"

लेनिन ने करीब-करीब इसी तरह कहा था—"तुम अपने चचा से कहना . . . ." आदि।

जब मैंने उन दोनों के सिर पूरे बना लिए तो मैंने दोनों से यही प्रश्न किया—"आपका इस मूर्ति के बारे में क्या खयाल है ?" और दोनों ने एक सा उत्तर दिया—"मैं नहीं जानता। मैं अपने ही चेहरे के बारे मे क्या कह सकता हूँ, और मै तो कला के विषय में कुछ जानता भी नहीं। किन्तु तुमने काम अच्छा किया है।"

मैं कभी-कभी निर्णय नही कर सकती कि इन दोनों व्यक्तियो में से दुनिया पर कौन अधिक असर छोड़ जायगा।

जहां रूस का सम्बन्ध है, प्रतीत होता है कि लेनिन का सिवाय इसके, वहां कोई चिह्न नहीं छूटा है कि उसका शरीर कांच के सन्दूक में सुरक्षित रक्खा है। किन्तु अभी निर्णय करना बहुत जल्दी होगा। ईसाइयत को पैरों पर खड़े होने में दो सौ वर्ष लगे थे।

गांधीजी अभी क्रियाशील हैं । उनके काम का फल निकलना शुरू हुआ है । मेरी मान्यता है कि दोनों व्यक्तियों ने संसार को एक अजर-अमर संदेश दिया है । यह ऐसा संदेश है जो तिरस्कृतों और पददलितों को साहस प्रदान करता है। यह वह संदेश है जिसने झुके हुओं को सिर ऊँचा करने का सामर्थ्य दिया है और इस दुनिया में उन्हें अपने स्थान का ज्ञान कराया है।

गांधीजी के संदेश में आध्यात्मिकता की मात्रा है जो दैवी सतह पर पहुँचा देती है।

जो लोग लेनिन के उद्देश्य के लिए मरे, वे वीर मालूम होते हैं, किन्तु जो गांधी के नाम पर मरेंगे वे बहादुर और शहीद दोनों ही प्रतीत होंगे।

मुझे अमेरिकन मूर्तिकार जो डेविडसन के साथ अपने विचारों को मिलाने का अवसर मिला था। उन्होंने भी गांधीजी की प्रस्तर मूर्ति बनाई थी। वह इस युग के अनेक प्रमुख व्यक्तियों की मूर्तियाँ बना चुके हैं, और हम एकमत थे कि इन लोगों से मिलने पर निराश होकर लौटना पड़ता है। औरों में से तो, यदि उन्हें सन्तरियों की सुपरिचित सजधज और छीने हुए राजमहलों की भूमिका की दृष्टि से न देखा जाय, तो शायद ही कोई अपना असर छोड़ता है। किन्तु गांधी इन सबसे ऊपर उठे हुए हैं। वह छोटा-सा नंगी टाँगों वाला व्यक्ति, देह पर अपनी खद्दर लपेटे, अपनी महान् सादगी में गहरा असर डालता है। वह प्रभाव ऐसा है और इतनी आदर की भावना पैदा कर देता है कि मैंने अंतिम बार विदा होते समय श्रद्धापूर्वक उनका हाथ चूम लिया। उस समय उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि वह मुझसे (ईसा के अर्थों में) प्रेम करने लगे हैं और यह कि वह अपने मित्रों को कभी नहीं भूलते।

उनकी उस अवस्था की नन्हीं-सी मूर्ति, जबकि वह पलथी मारकर कातने बैठे थे, मेरी मेज पर रक्खी हुई एक आदरणीय वस्तु है। वस्तुतः वह कातने में तल्लीन होकर नीचे की ओर दृष्टि जमाये हैं। मुझे प्रतीत होता है मानो ध्यान-मग्न बुद्ध हों। उनकी शांत मुद्रा में से मुझे विश्वजनीन भावनाओं का स्रोत फूटता हुआ अनुभव होता है।

लन्दन-निवास के उन दिनों में उन्हें एक छोटी-सी दुनिया ही घेरे रहती थी, जो कि यों छोटी होने पर भी विविधता की दृष्टि से बड़ी दुनिया जैसी ही बड़ी थी।

प्रतिदिन प्रातःकाल दस से बारह बजे तक उनसे कोई भी मिल सकता था, जो उनकी सलाह लेना या उनके प्रति अपना आदर-भाव ही प्रकट करना चाहता हो। वह हरेक का बन्धुभाव और सहिष्णुता के साथ स्वागत करते, पर अपने कातने के कार्य में बाधा न पड़ने देते। केवल एक बार एक आगन्तुक का अभिवादन करने के लिए वह उठकर खड़े हुए। मैं नहीं मानती कि वह किसी

राजघराने के व्यक्ति के लिए भी उठते, किंतु चर्च ऑव इंग्लैण्ड के पादरी के लिए उठे। वह एक किताब लेकर आए थे। उन्होंने गांधीजी से अनुरोध किया कि "यह इसमें लिख दीजिए कि हमको अच्छे ईसाई बनने के लिए क्या करना चाहिए।"

मुझ पर इस बात का बड़ा असर पड़ा कि जो लोग बहुत देरतक ठहर रहते अथवा जिनके प्रश्न फिजूल या ऊटपटाँग प्रतीत होते, उनको गांधीजी किस दृढ़ता पर मृदुल ढंग से विदा कर देते थे।

एक सज्जन आये जो यह दावा करते थे कि वह उन्हें दक्षिण अफ़्रीका से जानते हैं और उन्होंने गांधीजी को अपनी याद दिलाने की निष्फल कोशिश की––

"गांधीजी, क्या आपको हमारी दक्षिण अफ़्रीका की बातें याद नहीं हैं?"

"मुझे याद है दक्षिण अफ़्रीका . . . . . ."

"क्या आपको डरबन के होटल का बगीचा याद नहीं है?"

"मुझे याद है कि मुझे होटल में इस शर्त पर दाखिल किया गया था कि मैं बगीचे में न जाऊं––होटल वाले एक हिन्दू को उसी दशा में टिका सकते थे जबकि वह अपने कमरे में पड़ा रहे––किन्तु इस सबमें कोई सार नहीं। मि० 'अ' मुझे आपसे मिलकर प्रसन्नता हुई। किन्तु यदि आपको जल्दी हो तो मैं आपको रोके रखना पसन्द न करूँगा। . . ."

मुझे मि० 'अ' की बेबसी पर रंज हुआ। किन्तु मैं नहीं मानती कि गांधीजी ने बात काटने के लिए प्रसंगावधान से काम लिया। शायद उनको 'दक्षिण अफ़्रीका की कुछ बातें' सचमुच याद थीं।

दूसरे आगन्तुक (ये एक के बाद एक आते रहते थे और गांधीजी का शिष्य-मंत्री उनकी सूचना देता रहता था) थे एक सुवेशभूषित नमूने के अंग्रेज, जिनका महात्मा गांधी ने बड़े मित्र-भाव से स्वागत किया। किन्तु बातचीत मौसम की हालत और इंग्लैण्ड की हरियाली के आगे न बढ़ी। यह आगन्तुक एक डाक्टर थे, जिसने मोमबत्ती के प्रकाश में अंतड़ियों के फोड़े (अपेंडिसाइटिस) का ऑपरेशन करके गांधीजी की जान बचाई थी।

डाक्टर के बाद एक फ़्रांसीसी वकील महिला आई। महात्माजी ने प्रश्न किया––"क्या फ़्रांस में अब भी युद्ध भावना विद्यमान है?" महिला विरोध प्रकट करती हुई बोली––"मोशिये गांधी, हमने युद्ध शुरू नहीं किया था। हमने

तो केवल आत्म-रक्षा की थी।" इस पर 'मोशिये गांधी' सहिष्णुतापूर्वक हँस दिये।

इसके बाद एक वामपक्षी साप्ताहिक के सम्पादक आए। जो प्रश्न मेरे भी मन में थे, वे सब चर्चा के लिए पेश हुए। सम्पादक के पास बहुत निश्चित दलीलें थीं। गांधीजी के पास भी हर दलील का उत्तर था। उनके उत्तर अकाट्य और सन्तोष-कारक थे।

सम्पादक महाशय की भेंट पूरी होने के पश्चात् पॉल रॉबसन की धर्मपत्नी गांधीजी के पैरों के पास फर्श पर आकर धम्म-से बैठ गईं और अमरीका की हब्शी-समस्या के बारे में उनकी राय पूछने लगीं। स्पष्टतः यह ऐसी समस्या थी, जिस पर विचार करने का गांधीजी को मौका न मिला था। किन्तु श्रीमती रॉबसन ने अंक सामने रक्खे और पूछा—"क्या आप समझते हैं कि किसी दिन हब्शियों का प्राधान्य हो जायगा?"

गांधीजी का ऐसा खयाल 'नहीं' था। वह आगे बढ़ीं।

"क्या आप समझते हैं कि हम हजम कर लिये जायंगे?"

"शायद......"

"और तब?......"

"ठीक, तो उस समय वह 'हब्शी' समस्या ही न रहेगी।"

अचानक एक नौजवान जर्मन महिला बिना सूचना दिये ही आ धमकी। वह महात्माजी से इतनी भलीभांति परिचित प्रतीत होती थीं कि उन्होंने शिष्टाचार के पालन की आवश्यकता न समझी। गांधीजी कातते हुए रुक गये और अपना सूखा किन्तु कोमल हाथ आगे बढ़ा दिया। उन्होंने अपने दोनों हाथों में उसे थाम लिया और इस तरह पकड़े रहीं मानो वह किसी पवित्र अवशेष को थामे हों।

गांधीजी ने पूछा—"क्या तुम जर्मनी जा रही हो?"

उसने अपना सिर झुकाया, उसके ओठ कांपे, किन्तु उत्तर नहीं दे सकी उसकी आँखों में आंसू छलछला आये।

"नमस्कार..."

उसने एक कदम पीछे हटाया। उसके हाथ अब भी आगे बढ़े हुए थे, और आंखें गांधीजी पर जमी हुईं एक प्रकार से आनन्द-मग्न थीं। उसने एक सिसकी ली और गायब हो गई।

आगाखाँ के पास से पगड़ी बाँधे हुए एक दूत आया—"बहुत जरूरी; हिज़ हाईनेस उम्मीद करते हैं कि आप पंचायत की बात मंजूर कर लेंगे. . . ।"

इसके बाद एक हिन्दू विद्यार्थी अपनी अमरीकन धर्मपत्नी को मिलाने के लिए लाया। गांधीजी ने एक निगाह से पत्नी की ओर देखा और युवक से पूछा—

"क्या तुम अपनी धर्मपत्नी को भारत लेजाने का विचार रखते हो ?"

उसके स्वीकारात्मक उत्तर में मुझे कुछ घबराहट-सी प्रतीत हुई। दुलहन निष्कपट, उल्लास और उमंग से भरी थी। "महात्माजी, आप अमरीका कब आ रहे हैं ?" उसने पूछा।

"अभी नहीं, . . ."

"वहां तो आपके लिए सब कोई पागल हैं।"

महात्माजी ने आंख मिचकाते हुए कहा—"मेरे जानकार मित्रों का तो कहना है कि मुझे वहां चिड़ियाघर में रख देंगे।" (विरोध और हंसी)

इसके बाद महात्माजी के जीवनी-लेखक सी० एफ० एण्ड्रूज सप्ताह के अन्त का कार्यक्रम स्थिर करने के लिए आये।

"हाँ, हाँ।"गांधीजी ने कहा। वह टूटे हुए धागे को जोड़ने में तल्लीन थे।

"और बापू, आज शाम को पन्द्रह अंग्रेज पादरी स्वागत करेंगे, यह न भूलियेगा। लन्दन के लाट पादरी सात बजे जरूरी काम से आपसे मिलने आने वाले हैं।"

गांधीजी न तीव्र दृष्टि से ऊपर देखा—"सात बजे की प्रार्थना का क्या होगा ?"

श्री एण्ड्रूज ने कहा कि आगे-पीछे कर लेंगे। गांधीजी ने फैसला किया—"मोटर में, रास्ते में ही कर लेंगे।"

कोई भी समझ सकता है कि पश्चिम की अशान्ति में पूर्वी संन्यासी का जीवन बिताना कठिन होगा। सोमवार के मौन-दिवस पर सतत आक्रमण होता रहता था और अत्यन्त दृढ़ प्रयत्न के द्वारा उसकी रक्षा करनी पड़ती थी। भोजन भी सदा चिन्ता का विषय बना रहता था।

सायंकाल की सात बजे की प्रार्थना में सम्मिलित होने की अनुमति मिलने पर जब मैंने अपना आभार प्रदर्शित किया, तो महात्माजी ने कहा—"वह तो सबके लिए खुली है। किन्तु यदि सुबह तीन बजे की प्रार्थना में उपस्थित रहना चाहो तो मैं अपने मित्रों को कहूँ कि किंग्सले हॉल में रात के लिए बन्दोबस्त कर

दें—पर अपना कम्बल साथ लेती आना; क्योंकि वह हम गरीबों की बस्ती है।"

'किंग्सले हॉल' कारखाने के मजदूरों में सेवा-कार्य करने वाली संस्था है। उसके लिये कुमारी लिस्टर ने अपना जीवन और संपदा उत्सर्ग कर दी है। कुमारी लिस्टर और उनके कार्य के प्रति अपनी पसन्दगी प्रकट करने के लिए ही महात्माजी ने अपनी इंग्लैण्ड की राजकीय यात्रा के समय किंग्सले हॉल का आतिथ्य स्वीकार किया था।

मैं कुहरे-भरी कड़कड़ाती रात में वहाँ पहुँची। मुझे एक कमरे में ले जाया गया। वह एक छोटा-सा सफेद सादा तिकोना कमरा था। उसमें छत पर खुली बारादरी में से होकर जाना पड़ता था। शुक्लवसना मूर्ति थी मीराबाई। दीवार के सहारे झुकी खड़ी वह एक प्राचीन संत जैसी दीखती थीं। उन्होंने मुझे ठीक तीन बजे से कुछ पहले जगा देने का वादा किया।

मैं उस रात्रि को कभी न भूलूँगी—अजीब रहस्यमयी सुन्दरता थी उसकी। अर्द्धनिद्रा में और बालोंवाला कोट पहने मैं मीराबाई के पीछे-पीछे महात्माजी की कोठरी में गई। वह छोटी, धवल और ठण्डी थी। वह फर्श पर एक पतली चटाई पर बैठे हुए थे। खद्दर ओढ़े हुए वह बहुत दुबले-पतले दिखाई देते थे।

हमारे साथ महात्माजी के हिन्दू मन्त्री भी आ सम्मिलित हुए। दीपक बुझा दिया गया और खुले हुए दरवाजे में से धुंधला, शीतल, नीला, कुहरा आ रहा था। दो हिन्दू और एक अंग्रेज सन्त ने प्रार्थना के मन्त्रों का उच्चार किया। मुझे लगा कि मैं स्वप्न देख रही हूं।

पांच बजे से कुछ पहले मीराबाई ने मुझे फिर जगाया। यह महात्माजी के घूमने जाने का समय था और उनके साथ बात करने का सबसे उत्तम अवसर समझा जाता था।

यह बिलकुल स्पष्ट था कि और किसी प्रदेश में तो यह जीवन सुंदर लग सकता है या कम कड़े कार्यक्रम के अनुकूल तो वह हो ही सकता है; पर महात्माजी अपनी लन्दन की राजनैतिक और दूसरी तमाम कार्य प्रवृतियों के साथ-साथ अपने धार्मिक संन्यस्त-जीवन को किस भांति निभा सके, मेरी कल्पना से तो इसका उत्तर उनका आध्यात्मिक अनुशासन ही है। किन्तु मैं, जिसने रत्ती भर अनुशासन का अभ्यास नहीं किया था, शीत, कुहरे और अनिद्रा के मारे मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक तीनों तरह से बिलकुल शिथिल हो गई

थी। मैं महात्माजी के प्रातःकालीन भ्रमण में उनका पीछा करके उसका लाभ न उठा सकी। मैंने पीछा करना शब्द का जानबूझकर उपयोग किया है; क्योंकि खद्दर अपने चारों ओर लपेटकर महात्माजी इतनी तेजी के साथ चलते हैं, कि वह कुहरे में गायब न होजांय, इस डर से हमें करीब-करीब दौड़ना पड़ता था। हमारे पीछे, हमने सुना कि, हांफते-हांफते दो गुप्तचर चले आ रहे थे, जिनको कि महात्माजी की रक्षा करने या उनपर पहरा रखने के लिए नियुक्त किया गया था।

गांधीजी को अपना मार्ग ज्ञात था। वह नहर के किनारे किनारे होकर जाता था। वह आंख बन्द करके उसपर से गुजर सकते थे। यद्यपि नहर दिखाइ न पड़ती थी, किन्तु पानी की आवाज सुनाई पड़ती थी, जो एक पनचक्की में जाकर जाकर गिरता था। इस रास्ते पर दो आदमी एकसाथ मुश्किल से चल पाते थे। मीराबाई ने मुझे आगे बढ़ाकर कहा—"बढ़ो, अब तुम्हारे लिए मौका है।" मुझे कुछ-कुछ याद पड़ता है कि हमने धर्म के बारे में बात की थी और उन्होंने बताया कि जो सत्य और ईमानदारी से प्रेम करते हैं, द्वेष और कटुता को छोड़ चुके हैं, वे सब दुनिया भर में एक दूसरे से मिलते-जुलते ही हैं, किन्तु वस्तुतः यह आवश्यक नहीं है कि गांधीजी किसी के साथ शब्दों द्वारा बात करें ही करें। उनके वातावरण में रहने मात्र से मनुष्य अपने-आपको उच्चतर सतह पर पहुँचा हुआ अनुभव करता है। उनके पास मौन रहकर चिन्तन करने मे काफी लाभ उठाया जा सकता है।

सात साल बाद, जबकि भावकुता शान्त होचुकी है और स्मृति एक स्वप्न रह गई है, मैं यह बिलकुल सही-सही कह सकती हूं कि गांधीजी से परिचय होने के कारण मुझ में कुछ परिवर्तन होगया है। जीवन में किसी कदर पहले से रस आगया है, कुछ वह वस्तु, उसकी आभा, मिली है जिसे दूसरे अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में हम 'प्रेरणा' कहते हैं।

: ४९ :

गान्धीजी की राजनीति-पद्धति

जे० सी० स्मट्स

यह उपयुक्त ही है कि मैं, जो एक पीढ़ी पहले गांधीजी का विरोधी था, आज तीन बीसी और दस वर्ष की आयु की शास्त्रोक्त सीमा पर पहुंचने पर उस भुक्तभोगी बूढ़े योद्धा को प्रणाम कर रहा हूँ। सामुद्रिक शास्त्री उस सीमा से आगे कृपा कम करते हैं, परमात्मा करे उनकी आयु लम्बी हो और आनेवाले उनके वर्ष संसार के लिए सफल सेवामय और उनके लिए मानसिक शान्ति से परिपूर्ण हों। मैं इस पुस्तक के अन्य लेखकों के साथ उनकी महान् सार्वजनिक सेवाओं को स्वीकार करने और उनके उच्च व्यक्तिगत गुणों की प्रशंसा करने मे हृदय से शामिल होता हूँ। उनके जैसे मनुष्य हम सबको साधारण स्थिति और निरर्थकता की भावना से ऊँचा उठाते हैं और हमें प्रेरणा देते हैं कि सत्कार्य करने में हमें कभी शिथिल न होना चाहिए।

दक्षिण अफ़्रीका यूनियन के प्रारम्भिक दिनों में हमारी जो लड़ाई हुई, उसका गांधीजी ने स्वयं वर्णन किया है, और वह सर्वविदित है। ऐसे व्यक्ति का विरोधी होना मेरे भाग्य में लिखा था, जिसके प्रति उस समय भी मेरे दिल मे अत्यधिक आदर भाव था। दक्षिण अफ़्रीका के लघु मंच पर जो संघर्ष हुआ, वह गांधीजी के चरित्र की उन विशेषताओं को प्रकाश में लाया, जो भारतवर्ष की बड़े पैमाने पर लड़ी गई लड़ाइयों में और भी प्रमुख रूप में प्रकट हो चुकी हैं; और उनसे यह प्रकट होता है कि जिन उद्देश्यों के लिए वह लड़ते हैं, उनके लिए यद्यपि वह सर्वस्व उत्सर्ग करने को तैयार रहते हैं, किन्तु परिस्थिति की मानव-भूमिका नहीं भुलाते, अपने मस्तिष्क का संतुलन कभी नहीं खोते, न द्वेष के वशीभूत ही होते हैं और अत्यन्त कठिन प्रसंगों में भी अपना मृदु-मधुर विनोद कायम रखते हैं। उस समय भी और उसके बाद भी उनका व्यवहार और उनकी भावना आज की निष्ठुर और नग्न पाशविकता से बिलकुल भिन्न थी।

मुझे खुले दिल से यह स्वीकार करना चाहिए कि उस समय की उनकी प्रवृत्तियां मेरे लिए अत्यन्त परेशान करनेवाली थीं। दक्षिण अफ़्रीका के अन्य नेताओं के साथ उस समय में पुराने उपनिवेशों को एक संयुक्त राष्ट्र में समा-

विष्ट करने, नवीन राष्ट्रीय तंत्र का शासन जमाने और बोअर-युद्ध के बाद जो-कुछ शेष बचा था, उसमें नये-नये राष्ट्रों का निर्माण करने में व्यस्त था। वह पहाड़ के समान भारी कार्य था और उसके लिए मुझे अपना हर क्षण लगाना पड़ रहा था। यकायक इस गहरी कार्यव्यस्तता के बीच गांधीजी ने एक अत्यन्त आफत-भरा प्रश्न खड़ा कर दिया।

हमारी आलमारी में एक कंकाल पड़ा था। वह था दक्षिण अफ्रीका का भारतीय प्रश्न। ट्रान्सवाल ने भारतीयों के आगमन को मर्यादित करने का प्रयत्न किया था। नेटाल में भारतीयों पर एक टैक्स लगता था, जिसका उद्देश्य था कि गन्ने के खेतों पर काम करनेवाले भारतीय अपने काम करने की मियाद पूरी होने के बाद अपने देश को लौट जावें। गांधीजी ने इस प्रश्न को हाथ में लिया और ऐसा करते हुए नई पद्धति का उदय किया। इस पद्धति को उन्होंने आगे चलकर अपने भारतीय आन्दोलनों से संसार-प्रसिद्ध बना दिया है। उनका उपाय यह था कि जान-बूझकर कानून को तोड़ा जाय और अपने अनुयायियों को आपत्तिजनक कानून के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध करने के लिए सामूहिक रूप मे संगठित किया जाय। दोनों प्रान्तों में घोर और चिन्ताजनक अशान्ति पैदा हो गई, गैर कानूनी आचरण के लिए भारतीयों को बड़ी तादाद में कैद करना पड़ा और गांधीजी को जेल में थोड़े काल के लिए वह आराम और शान्ति मिल गई, जिसकी निस्सन्देह उन्हें इच्छा थी। उनकी दृष्टि से सब बातें योजनानुसार हुईं। मेरे लिए, जिसे कानून और अमन की रक्षा करनी थी, परिस्थिति कठिनाइपूर्ण थी। मेरे सिर पर ऐसे कानून पर अमल करवाने का बोझा था, जिसकी पीठ पर दृढ लोकमत न था और जिसमें अन्त में, जबकी उस कानून को रद्द करना पडा, निराशा मिली। उनके लिये विजयी मोर्चा था। व्यक्तिगत लिहाज की भी कमी न थी, क्योंकि गांधीजी के तरीके में ऐसी कोई बात नही है जिसमें एक विशेष व्यक्तिगत स्पर्श या लिहाज न हो। जेल में उन्होंने मेरे लिए चप्पलों का एक बहुत ही उपयोगी जोड़ा तैयार किया और छूटने पर मुझे भेंट किया। उसके पश्चात् मैंने कितनी ही गर्मियो में उन चप्पलों को पहना है। हालांकि आज भी मैं यह अनुभव कर सकता हूं कि ऐसे महा-पुरुष के बनाये जूतों को पहनने के भी मैं योग्य नहीं हूँ। जो भी हो, यह थी वह भावना, जिसमें हमने दक्षिण अफ्रीका में अपनी लड़ाई लड़ी थी। उसमें घृणा, द्वेष या व्यक्तिगत दुर्भावना को कोई स्थान न था, मानवता की भावना

हमेशा विद्यमान थी। और जब लड़ाई खत्म हुई तो ऐसा वातावरण था कि जिसमें अच्छी संधि सम्भव थी। गांधीजी और मेरे बीच एक समझौता हुआ, जिसे पार्लमेण्ट ने मंजूर किया और जिसके कारण दोनों कौमों में वर्षों शान्ति बनी रही। वह भारत का भगीरथ कार्य हाथ में लेने और अपनी भावना और व्यक्तित्व को, जिसका आधुनिक भारतीय इतिहास में दूसरा कोई उदाहरण नहीं है, उस देश के जन-साधारण पर अंकित करने के लिए दक्षिण अफ्रीका से भारत के लिए रवाना हो गये। और इस सारे अर्से में वह अधिकांश में उन्हीं उपायों को काम में ला रहे हैं, जिनको की उन्होंने भारतीय प्रश्न पर हमारे साथ हुए संघर्षों में सीखा था। वस्तुतः दक्षिण अफ्रीका उनके लिए एक बड़ा भारी शिक्षण-स्थल सिद्ध हुआ, जैसाकि उन अन्य प्रमुख व्यक्तियों के लिए, जो कि समय-समय पर इस विचित्र आकर्षक और उत्तेजक महाद्वीपों में हमारे जीवन के भागीदार हुए हैं।

मैंने 'अधिकांश में' कहा है, सम्पूर्णतः नहीं। निष्क्रिय प्रतिरोध के पुराने तरीके के अलावा जिसका नाम अब 'असहयोग' रख दिया गया है, उन्होंने भारतवर्ष में एक नवीन विशिष्ट युक्ति ईजाद की है, जो बड़ी परेशानी में डालनेवाली, किन्तु प्रभावशाली है। सुधार की यह युक्ति अनशन द्वारा प्रतिपक्षी को सहमत करने का प्रयत्न करती है। सौभाग्यवश दक्षिण अफ्रीका में, जहां लोग अनावश्यक प्राण-हानि को भय की दृष्टि से देखते हैं, हमको इस युक्ति का सामना नहीं करना पड़ा। भारतवर्ष में उसने आश्चर्यजनक कार्य सम्पादित किये हैं और गांधीजी को ऐसी सफलतायें प्रदान की हैं जो सम्भवतः अन्य उपायों द्वारा असम्भव थीं।

इस अपूर्व युक्ति पर—खासकर राजनैतिक युद्ध में तो यह नई ही है—निकट से विचार करना दिलचस्प होगा। मैं कल्पना नहीं कर सकता कि ग्रेट-ब्रिटेन में विरोधी दल का नेता अधिकारारूढ़ सरकार को उसकी नीति की त्रुटि अनुभव कराने के लिए आमरण अनशन करेगा। हम यहां विचित्र प्रदेश में जनतन्त्र की पद्धति और पश्चिमी सभ्यता से भी दूर रहते हैं। मेरे विचार से युद्ध के इस रूप पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। मैं यहाँ इस-पर केवल विहंगावलोकन ही कर सकता हूं।

भारतीय आचार-विचार के लिए यह बिलकुल नया नहीं है। भारत में यह स्वीकृत पद्धति मालूम होती है कि लेनदार अनिच्छुक देनदार पर दबाव

डालने के लिए देनदार पर नहीं—बल्कि स्वयं अपने पर कष्टों को निमन्त्रित करे। देनदार को, जो कर्ज अदा न करना चाहता हो, हवालात में रखवाना पश्चिमी तरीका है या रहा है। किन्तु भारत में ऐसी बात नहीं होती। वहाँ लेनदार खुद जेलखाने चला जायगा या देनदार के दरवाजे पर अनशन करके बैठ जायगा, ताकि देनदार का हृदय पिघल जाय और उसकी या उसके मित्र की थैली का मुंह खुल जाय। गांधीजी ने इस भारतीय पद्धति को अपना लिया है और केवल उसका प्रयोग और परिणाम बदल दिया है। वह सरकार के या किसी पक्ष या वर्ग के दरवाजे पर अनशन करके, आवश्यक हो तो आमरण अनशन करके, बैठ जावेंगे ताकि वह उसको समझा सकें अथवा दूसरे शब्दों में, ठीक रास्ते पर आने के लिए उस पर दबाव डाल सकें। वह देनदार की भांति सफल होते हैं, दलील देकर या समझाकर नहीं, बल्कि अन्तस्तल में छिपे हुए भय, लज्जा, पश्चाताप, सहानुभूति और मानवता की भावनाओं को जगाकर—उन भावनाओं को भी, जो मानस में गहरी छिपी रहती हैं और जो दलील अथवा समझाहट से सामूहिक रूप में कहीं अधिक प्रभावशाली होती हैं। देनदार अर्थात्, विपक्षी सरकार या जाति नैतिक दृष्टि से खोखली हो जाती है और अन्त में इस भावनापूर्ण सामूहिक असर के आगे झुक जाती है।

कुछ दृष्टियों से यह युक्ति आधुनिक युग के विशाल परिमाण पर किये गए प्रचार के तरीकों से ज्यादा भिन्न नहीं है। वह लोकमत पर दलील के द्वारा नहीं, बल्कि भावनाओं के बल पर, जिनमें से कई बुद्धि-संगत नहीं भी होतीं विजय प्राप्त करने में वैसी ही कारगर होती है। कोई भी यह भलीभांति कह सकता है कि यह युक्ति भयावह है और इसका दुरुपयोग हो सकता है। यह ठीक उसी तरह की है जिस तरह की पश्चिमी दुनिया में लोकमत को भ्रष्ट और विषाक्त करने के लिए प्रचार को साधन बनाया जा रहा है। उद्देश्य चाहे योग्य हो अथवा घृणित, तरीका खतरनाक है; कारण कि वह तर्क और वैयक्तिक उत्तरदायित्व को जड़ से काटता है और व्यक्ति की आन्तरिक पुण्यप्रतिष्ठा पर जोकि समस्त मानव-स्वभाव का अन्तिम गढ़ है, प्रहार करता है।

किन्तु गांधीजी की अनशन की कला एक बहुत महत्वपूर्ण रूप में पश्चिमी प्रचार से भिन्न है। इस कला का दर्शन करनेवाला (यदि मैं इस शब्द का प्रयोग कर सकूं तो) अपने कष्ट सहन के विचार और दृश्य से समाज के अन्तःकरण को जाग्रत करने की कोशिश करता है। इस युक्ति का आधार कष्ट-सहन

का सिद्धान्त है। निःस्वार्थ कष्ट-सहन दूसरों की भावनाओं को शुद्ध बनाता है। उसका वैसा ही शुद्ध करनेवाला ऊंचा उठानेवाला असर पड़ता है जैसा कि अरस्तू की परिभाषा के अनुसार अति गम्भीर घटना का पड़ता है।

यहां हम केवल यूनानी गम्भीर या दुःखान्त घटना की भावना को ही नहीं, बल्कि अत्यन्त गहरे धार्मिक स्रोत को भी छूते हैं। विशेषकर ईसाई-धर्म में तो कष्ट-सहन का ही उद्देश्य सर्वोपरि या मुख्य है। क्रॉस समस्त मानव इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण गम्भीर घटना का प्रतीक है। इशियाह का तपस्वी सेवक और क्रॉस पर बलिदान होनेवाला शहीद अपने बन्धुओं के प्रति जब अपनी आत्मा को उत्सर्ग करता है तो भावनाएं इस कदर जाग्रत हो जाती हैं कि उनकी तीव्रगति सारी दलीलों अथवा बुद्धिमंगत युक्तियों को पीछे छोड़ जाती है। कष्ट-सहन की दलील संसार में सबसे अधिक प्रभावशाली है और रहेगी। प्रारम्भिक रोमन साम्राज्य में धर्मों के व्यूह में ईसाई धर्म कष्ट-सहन और बलिदान द्वारा ही विजयी हुआ था, न कि उसके समर्थकों की दलीलों से। और न ही उस उन्नत युग के आधुनिक दर्शनशास्त्रों ने उसकी प्रगति को रोका। इसी प्रकार आज यूरोप में निर्दय और नग्न अमानुषता अपने से भिन्न जाति, धर्म या विश्वास रखनेवालों पर बड़े पैमाने पर जो सितम बरसा रही है, हो सकता है कि वह उन महान् प्रणालियों का ही विध्वंस करदे, जिनका कि हमने इतने गर्व के साथ पोषण किया है।

इसी कष्ट-सहन के शक्तिशाली सिद्धान्त पर गांधीजी ने सुधार की अपनी नवीन युक्ति का आधार रक्खा है। जो उद्देश्य उनके हृदय को प्रिय है उसके प्रति दूसरों की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त करने के लिए वह स्वयं कष्ट-सहन करते हैं। जहां दलील और अपील के सामान्य राजनैतिक अस्त्र विफल होजाते हैं, वहाँ वह इस नई युक्ति का आश्रय लेते हैं, जोकि भारत और पूर्व की परम्परा पर आधारित है। जैसाकि मैं कह चुका हूँ इस पद्धति पर राजनैतिक विचारकों को ध्यान देना चाहिए। राजनैतिक उपायों में गांधीजी की यह विशिष्ट देन है।

एक विचार और कहकर मैं इसे पूरा कर दूंगा। बहुत-से लोग और कुछ वे भी जो सच्चे दिल से उनके प्रशंसक हैं, उनके कुछ विचारों से और उनकी कुछ कार्य-पद्धतियों से असहमत होंगे। उनके काम करने का ढंग उनका अपना मौलिक है और महापुरुषों की भांति सामान्य मापदण्ड से मेल नहीं रखता।

किन्तु हम उनसे चाहे कितनी बार असहमत हों, हमको सदा उनकी सच्चाई, उनकी निःस्वार्थता और सर्वोपरि उनकी मूलभूत और सार्वभौम मानवता का भान रहता ही है। वह हमेशा महामानव की भांति कार्य करते हैं। सभी वर्गों और कौमों के लिए और विशेषकर कुचले हुओं के लिए उनके हृदय में गहरी सहानुभूति रहती है, उनके दृष्टिकोण में वर्गीयता तनिक भी नहीं है बल्कि वह उस सार्वभौम और शाश्वत मानवी भाव से अलंकृत हैं जो कि आत्मा की महानता का परीक्षा-चिह्न है।

यह एक विचित्र बात है कि यूरोपीय अशान्ति और ह्रास के दिनों में एशिया किस प्रकार धीरे-धीरे आगे आ रहा है। वर्तमान विश्व के सार्वजनिक रंगमंच पर विद्यमान सबसे बड़े महापुरुषों में दो एशियावादी हैं—गांधी और चांगकाई शेक। दोनों ही विराट जनसमूह को उच्च मार्ग पर ऐसे लक्ष्य की ओर ले जारहे हैं जो मूलतः उच्च ईसाई आदर्श से मिलता है और जिसे पश्चिम ने प्राप्त तो किया है किन्तु जिसपर अब यह सच्चे हृदय से आचरण नहीं कर रहा है।

: ५० :

कवि का निर्णय

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

समय-समय पर राजनीति के क्षेत्र में ऐसे इतिहास-निर्माता जन्म लेते हैं, जिनकी मानसिक ऊंचाई मानवता की सामान्य सतह से ऊपर होती है। उनके हाथ में एक अस्त्र होता है, जिसकी वशीकरण और प्रभावात्मक शक्ति लगभग शारीरिक होती है, और होती है प्रायः निर्मम। वह मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं—लोभ, भय और अहंकार—से लाभ उठाता है। जब महात्मा गांधी ने पदार्पण किया और भारत की स्वतन्त्रता का पथ उन्मुक्त किया तब उनके हाथ में सत्ता का कोई प्रकट साधन न था, दबाव डालनेवाली जबर्दस्त सता न थी। उनके व्यक्तित्व से जो प्रभाव उत्पन्न हुआ, वह संगीत और सौन्दर्य की भांति अवर्णनीय है। उसने दूसरों पर इसलिए सबसे ज्यादा प्रभाव

डाला कि उसने स्वतः आत्म-समर्पण की भावना को प्रकट किया। यही कारण है कि हमारे देशवासियों ने विरोधी तत्वों को ठिकाने रखने में गांधीजी की स्वाभाविक चतुराई की ओर क्वचित् ही ध्यान दिया है। उन्होंने तो उस सत्य पर आग्रह रक्खा है जो उनके चरित्र में सहज स्पष्टता के साथ चमकता है। यही कारण है कि यद्यपि उनकी प्रवृत्तियों का क्षेत्र व्यावहारिक राजनीति है, तथापि लोगों ने उनके जीवन की तुलना उन महापुरुषों से की है जिनकी आध्यात्मिक-प्रेरणा मानवता के समस्त विविधरूपों का अपने में समन्वय करती हुई उनसे भी परे पहुंच जाती है और सांसारिकता को उस प्रकाश की ओर उन्मुख कर देती है, जिसका उद्गम ज्ञान के शाश्वत स्रोत में है।

: ५१ :

गांधी : चरित्र अध्ययन

एडवर्ड टॉमसन

प्रारम्भ में ही मैं अपनी एक कठिनाई प्रकट कर दूं। मैं गांधीजी से अच्छी तरह परिचित नहीं हूं और उनके हाल के कार्यकलाप और भारत से आनेवाले समाचारों ने मेरे हृदय में बेचैनी उत्पन्न करदी है। सौभाग्यवश उनके अब तक के कार्यों ने ही बहुत कुछ इतिहास का निर्माण कर दिया है और अपनी 'आत्मकथा' में उन्होंने स्वयं ही अद्भुत स्पष्टवादिता के साथ अपने चरित्र और उद्देश्य की गवेषणा करने का मसाला प्रस्तुत कर दिया है।

वह गुजराती हैं, अर्थात् ऐसी जाति में उत्पन्न हुए हैं जो युद्धप्रिय नहीं रही है और जो विशेषतया मराठों द्वारा बहुधा, पददलित की गई और लूटी गई है। पश्चिम में उनकी जाति का बहुत ही कम जिक्र किया जाता है; क्योंकि पश्चिमवाले इसके महत्व को समझते ही नहीं, परन्तु भारत में इन बातों को बहुत कम भुलाया जाता है। उन्होंने अपने आपको इस व्यंग्य का शिकार बना लिया है (यह उनके नैतिक साहस का एक अंग है कि वह इस बात को जानते हैं, लेकिन जानते हुए भी उससे विचलित नहीं होते) कि वह अहिंसा को जो इतना महत्व देते हैं वह उनके एक शान्तिप्रिय जाति में जन्म लेने

का लक्षण है। मेरा विचार है कि मराठे कभी इस बात को नहीं भूलते कि वे मराठे हैं और गांधी गुजराती है; गांधी के प्रति इन लोगों की भावनाएं उतरती-चढ़ती और डांवाडोल-सी रहती आई है। राजपूतों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है; क्योंकि वह भी एक युद्धप्रिय जाति है। मध्यभारत के एक राजा ने मुझसे कहा था—"एक राजपूत की हैसियत से मैं अहिंसा के सिद्धान्त को तो विचार में ही नहीं ला सकता। मारना और युद्धप्रिय होना तो राजपूत का 'धर्म' है!" इतने पर भी अहिंसा गांधी के उपदेशों का तत्व है और हालांकि उन्हें इसे कितने ही नये अनुयाइयों पर उनकी अनिच्छा रहते हुए भी लादना पड़ा है, परन्तु यही उनकी अनूठी विजयों का साधन हुआ है। मैं आगे चलकर फिर इसका वर्णन करूंगा और बतलाऊंगा कि यह बात सही है।

कोई भी व्यक्ति अपने वंश और संस्कारों के प्रभावों से पूर्णरूपेण नहीं बच सकता और कभी-कभी यह बात उस मनुष्य के प्रतिकूल भी पड़ती है कि उसका जन्म ऐसे राष्ट्र मे हुआ हो जिसमें राजनैतिकता और सैनिकता की भावना न हो, और फिर उस राष्ट्र की भी एक छोटी और महत्त्वहीन रियासत में। यह आदर्श भारतवर्ष मे सदा से चला आया है कि जब प्रजा पर अत्याचार हो तब राजा स्वयं उसकी शिकायतों को सुने। लेकिन जबतक कि संसार की सरकारों मे और उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रणालियों में आमूल परिवर्तन न हों तबतक यह आदर्श व्यावहारिक रूप में एक लुप्त युग की वस्तु है। यह तो पैरिक्लीज के एथेन्स में सम्भव हो सकता था, जहां हरेक प्रमुख व्यक्ति को लोग शक्ल से पहचानते थे और स्वतन्त्र जनसमुदाय बहुत कम था या गांधी के बचपन के पोरबन्दर (गुजरात की छोटी रियासत) में। गांधीजी की राजनीति उनके प्रश्नों का हल करने के लिए अपर्याप्त है, जो घरेलू या देहाती अर्थनीति से परे के हैं—जैसे एकसत्तात्मक शक्तियों से भरे संसार में भारत की रक्षा का प्रश्न। वह तो सिर्फ छोटी और आदिम इकाइयों का ही विचार करते है और ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक संसार की जटिलता को नहीं देखते (देखते हैं तो कुछ ऐसा मानकर कि उस सब से बचते और डरते रहना चाहिये—काश कि यह सम्भव होता!) वह सदा व्यक्ति का ही चिन्तन करते हैं। इसके विपरीत एक और आत्यंतिक दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार मनुष्य व्यक्ति नहीं, एक झुण्ड है (ऐसे वृक्षों का झुण्ड है जिनसे 'कर' झोरा जाता है); तोप का भोज्य, या जन-शक्ति के ढेर हैं, जिनमें से हजारों लाखों

या—कभी भी आर्थिक कारणों से मारे जा सकते हैं। गांधीजी का दृष्टिकोण यद्यपि इससे अच्छा है, परन्तु फिर भी यदि भारत का कल्याण अभीष्ट है, तो इस प्रकार की संकुचित व्यष्टिगत प्रणाली के स्थान में बड़ी-बड़ी समष्टिगत योजनाओं और कार्यवाहियों को ही अपनाना पड़ेगा।

परमात्मा की भारत पर बड़ी कृपा है कि उसने गांधी के बाद नेहरू को भी जन्म दिया। इस युवक से यह आशा की जा सकती है कि वह अपने पूर्वगामी के कार्य में जो कुछ महान और प्रभावशाली है, उसे कायम भी रक्खे और साथ-ही-साथ उस कार्य को उस दुनिया में भी ले जाने का साहस करे जिस पर उस वयोवृद्ध का विश्वास नहीं है।

कुछ तो इसी संकुचित दृष्टिकोण के कारण गोलमेज परिषद् में गांधीजी थोड़े असफल जान पड़े और उन विरोधियों की सतह तक कभी न पहुँच सके, जो मनुष्यों को दलों और समुदायों के रूप में देखते थे। आज की इस दुनिया में भी उन्हें कठिनाई पेश आरही है जहां कि एक के बाद एक गुट्ट बनाकर राष्ट्र दूसरे देशों पर टूट पड़ने के लिए तुले बैठे हैं। उनका अहिंसा का अस्त्र जो उनके हाथ में इतना तीक्ष्ण और बलशाली था, कुंद हो चुका है। मेरे घर में एक बातचीत के दौरान में यह उपमा दी गई थी कि वह एक कैंची की तरह है जिसमें दो फल आवश्यक हैं, एक विरोधी का, तो एक उनका। भारत में यह इस कारण सफल हुआ कि वह ऐसी सरकार के विरुद्ध प्रयुक्त हुआ जिसने—चाहे अपूर्णरूप से ही सही—इस बात को स्वीकार कर लिया कि विद्रोह और दमन के खेल में भी कुछ नियम होते हैं। उनके (गांधीजी के) शत्रु के हृदय में मनुष्यता और उदारता का कुछ अंश था। इसलिए जब राष्ट्रीय सेवकों की कतारें-की कतारें पुलिस की लाठियों की मार खाने को निर्भयतापूर्वक खड़ी हो गईं तो सरकार अन्त में निरुपाय हो गई और अंग्रेजदर्शक तो लज्जा के मारे दब गये तथा अमेरिका के संवाददाता अपनी घृणा और क्रोध के तार अपने देशों को देने के लिए दौड़े। यह ऐसी परिस्थिति थी कि यदि आपमें अन्त तक सहनशीलता की शक्ति हो तो अवश्य अन्त में आप बचे भी रह सकते थे और आपका काम भी सिद्ध हो जा सकता था।

वह सब परिस्थिति निकल गई और यह विश्वास करना कठिन है कि वास्तव में हमने ऐसा होते देखा था। गांधीजी ने कहा है कि अगर अबीसीनिया-निवासी शुद्ध अहिंसा का पालन करते तो उनकी विजय होती और जब (एका-

धिकार-युग के पूर्व जब उन दानव-स्वभाव व्यक्तियों का किसीको स्वप्न में भी विचार न था, जो आज हमारी आंखों के सामने घूम रहे हैं) उनको कैंचीवाली उपमा बतलाई गई तो उन्होंने उसे न माना। परन्तु निस्सन्देह पुराने धनुषों की तरह उनका अहिंसा का अस्त्र भी आज एक इतिहास की वस्तु बन गया है। यदि उनका मुकाबला किसी फासिस्ट या नात्सी शक्ति से पड़ा होता, या हिन्दुस्तान पर ऐसी सेनाओं ने आक्रमण किया होता, जो वायुयानों के द्वारा निर्दयतापूर्वक नगर-के-नगर विध्वंस कर देती है और युद्ध के बंदियों को गोली से उड़वा देती है, तो क्या हमको इसकी (अहिंसा की) मर्यादाओं का पता नहीं लग जाता? क्या यह आश्चर्य की बात है कि राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) में भी इसके सम्बन्ध में तीव्र मतभेद है तथा नवयुवकगण इसे प्राचीन काल के रेंकलों और तलवारों की भांति अजायबघर की वस्तु समझते हैं?

परन्तु इस सबका अर्थ तो इतना ही है कि गांधीजी एक लगातार दृढ़ शान्तिवादी हैं, जो कि मैं नहीं हूँ। मैं जानता हूँ कि आज से सौ वर्ष बाद भी लोग इनके व्यक्तित्त्व पर चकराते रहेंगे, हालांकि पुस्तक प्रकाशक "मो० क० गांधी की पहेली", "गांधीजी का रहस्य" "साम्राज्य से युद्ध करनेवाला मनुष्य", इत्यादि, पुस्तकों को पढ़ने की सिफारिश करते रहेंगे और समालोचकगण घोषणा करते रहेंगे कि आखिर अमुक चरित्र लेखक ने इनके जीवन का "रहस्योद्घाटन" कर दिया है।

दस वर्ष पूर्व, जबकि वह अपनी ख्याति के उच्च-शिखर पर थे, तब उनके दर्शनीय व्यक्तित्व के लिहाज से लोगों का ध्यान उनकी ओर बहुत अधिक आकर्षित हुआ था। इससे उनके कार्यों पर से तो लोगों की दृष्टि हट गई, परन्तु उनकी प्रीतिभाजनता और उनका सहज स्वभाव सामने आने में बहुत सहायता मिली। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सब बातों में उन्होंने खूब मजा उठाया, परन्तु वह कभी भी स्वयं अपनी गाथाओं से प्रभावित नहीं हुए। एक बार जॉन विल्क्स ने तृतीय जार्ज से कहा था, "मैं स्वयं कभी भी विल्क्सवादी नहीं रहा।" गांधी भी कभी गांधीवादी नहीं हुए। वह तो अपने भोले अनुयायियों के प्रति एक शान्त और कुछ उपेक्षापूर्ण रुख बनाये रहते हैं, और वह जानते हैं कि उनके बहुत से भक्तों ने उनके उद्देश्य को सहायता नहीं पहुँचाई है। चुलबुलापन उनमें एक आकृष्ट करनेवाला गुण है, और विनोद-प्रियता की भावना के कारण वह सदा प्रसन्न रहते हैं। यदि आप स्वाभिमान बनाये रक्खें तो वह आपसे अच्छी तरह

बातें करते रहेंगे और अगर आप मजाक करते रहें तो बुरा भी नहीं मानते। वह कभी बड़प्पन नहीं जताते (हालांकि उनमें बड़प्पन बहुत है)। वह आपका मजाक उड़ावेंगे और यदि आप बदले में उनका भी मजाक उड़ावें, तो उसमें वह रस लेंगे।

काल्पनिक और साहित्यिक व्यक्तियों को वह जरा शुष्क आर सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। कोई सम्मति अगर उनको नापसन्द हो तो वह मुसकराते हुए इन शब्दों के साथ उसे निपटा देंगे, "अच्छा, लेकिन आप जानते हैं आप कवि हैं!" उनके कहने के ढंग से यह स्पष्ट झलकता है कि वह कहना तो यह चाहते हैं "अच्छा आप जानते हैं, आप खब्ती हैं।" परन्तु शिष्टाचार उनको स्पष्ट कहने से रोकता है। उनके और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बीच जो सम्बन्ध है उसे देखने में बड़ा आनन्द आता है। इन दोनों व्यक्तियों की पारस्परिक श्रद्धा गम्भीर और अविचल है, यद्यपि ये दोनों एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न प्रकृति के हैं। भारत इनको वर्षों से देखता आरहा है और यह दृश्य इस देश की सम्पन्न सार्वजनिक-शिक्षा का बड़ा भारी अंग है। इसने इस गौरव की भावना को प्रोत्साहित किया है कि भारत में दो इतने महान् व्यक्ति हैं, यद्यपि ये दोनों एक-दूसरे से इतने भिन्न हैं और दोनों इस बात को इतनी अच्छी तरह जानते हैं कि राष्ट्र-निर्माण का जो कार्य दोनों को हृदय से प्रिय है उसके लिए हरएक कितना आवश्यक है!

"वह खिझा भी सकते हैं।" हममें से जिसका भी कभी उनसे साबका पड़ा है उनसे कभी-न-कभी यह बात कही है, और कही भी है तो बड़े प्रेम के साथ। वह तार भेजेंगे जिससे हजारों मील दूर किसी मित्र या साथी को कदाचित् किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए आना पड़े, और चर्चा करते-करते वह एकदम सिलसिला तोड़कर जो कुछ समय बचा हो उसीमें बात-चीत समाप्त कर देंगे, क्योंकि उनके रोगियों को दस्त के लिए पिचकारी देने का ठीक समय आ पहुंचा है। जो बात मैं कहना चाहता हूँ उसका यह एक मामूली उदाहरण है; क्योंकि उद्देश्य हमेशा यही होना चाहिए कि बात को बढ़ाकर नहीं, बल्कि घटाकर कहा जाय। उस वाद-विवाद के समय जिसका जिक्र मैं पहले कर चुका हूं, मैंने एक बार उनको देखा जब कि बैलियोल के मास्टर, गिल्बर्ट मरे, सर माइकेल सैडलर, सी. पी. लियन, इत्यादि के दल ने लगातार तीन घण्टे तक उनसे प्रश्नोत्तर और जिरह की। यह एक अच्छी-खासी थका देने वाली परीक्षा

थी; परन्तु एक क्षण के लिए भी वह न तो झल्लाये और न निरुत्तर हुए। मेरे हृदय में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न हुआ कि सुकरात के समय से आजतक आत्म-संयम और शान्तचित्तता में संसार में उसके बराबर दूसरा व्यक्ति देखने में नहीं आया। और एक-दो बार जब मैंने अपने-आपको उन लोगों की स्थिति में रखकर देखा जिनको इस अजित गम्भीरता और धीरता का सामना करना पड़ रहा था, तो मैंने विचार किया कि मैं समझ गया कि एथेन्स निवासियों ने उस "मिथ्या हेतुवादी शहीद" को जहर क्यों पिलाया था? सुकरात की तरह इनके पास भी कोई 'प्रेत' है? और जब अन्दर का प्रेत बोल चुकता है तो वह न तो तर्क से विचलित होते हैं और न भय से। लिंडसे ने किस हताशवाणी से प्रेसबिटीरियन पादरियों के सम्मुख की गई क्रॉमवैल की इस अपील को दुहराया था, "ईसा मसीह की दुहाई देकर मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप इस बात को समझें कि सम्भव है कि आप गलती पर हों।" ये शब्द अब तक मेरे कानों में गूँज रहे हैं। लिंडसे ने आगे चलकर कहा था, "गांधीजी, इसे सम्भव मानिये कि आप गलती कर रहे हों।" परन्तु गान्धीजी ने इसे सम्भव नहीं माना; क्योंकि सुकरात की तरह उनके पास भी एक 'प्रेत' है और जब वह 'प्रेत' बोल चुकता है, तो भले ही मृत्यु महात्माजी के चेहरे में अपने पंजे घुसेड़ दे या सारा-का-सारा विश्वविद्यालय अपना तर्क सामने लाकर रखदे, तो भी गांधी विचलित नही हो सकता।

अंग्रेजी मुहाविरो पर उनका अद्वितीय अधिकार कुछ-कुछ इस कारण है कि उनको अपने मस्तिष्क पर पूरा काबू है। विदेशियों के लिए हमारी भाषा में सबसे कठिन वस्तु सम्बन्ध-बोधक अव्ययों का प्रयोग है। मुझे आजतक ऐसा कोई भारतवासी नहीं मिला जिसने गांधी के बराबर इनपर पूरा-पूरा अधिकार कर लिया हो। यह बात मुझे गोलमेज परिषद् के समय मालूम हुई जब उन्होंने दो-तीन बार मुझसे अपने किसी वक्तव्य का मसविदा तैयार करने के लिए कहा। यदि आप पेशेवर लेखक हैं तो आप सम्बन्धबोधक अव्ययों के विषय में सावधान रहने का प्रयत्न करे। और मैं स्वीकार करता हूँ कि इन मसविदों के बनाने में मैंने बहुत परिश्रम किया। गांधीजी मेरे कार्य को देखते जाते थे और कभी-कभी इन अव्ययों का केवल एक सूक्ष्म परिवर्तन कर देते थे—(यदि आपका अंग्रेजी का ज्ञान खूब गहरा न हो तो) आप शायद यह विचार करें कि वह परिवर्तन बहुत साधारण था; परन्तु वह अपना काम कर दिखाता था।

कदाचित् उससे कहीं कोई गुंजाइश निकल आती थी, (क्योंकि राजनीतिज्ञों को शायद गुंजाइश रखना पसन्द होता है।) कुछ भी हो, उस परिवर्तन से मेरा अर्थ बदलकर गांधीजी का अर्थ बन जाता था। और जब हमारी निगाहें मिलती थीं तथा हम एक दूसरे को देखकर मुसकराते थे तो यह जाहिर होता था कि हम दोनों इस बात को जान गए हैं।

हां, वह वकील हैं, और वकील लोग खूब खिजा सकते हैं। राष्ट्र-संघ (लीग-आव-नेशन्स) को भी यहां अनुभव हुआ, जबकि इंग्लैण्ड का प्रतिनिधित्व वहां वकीलों द्वारा किया गया। जब किसी देश में क्रांति होती है और वहां का अधिकार अन्त में जनता के हाथ में आता है तो सबसे पहला सुधार सदा यह होता है कि वकीलों को यमघाट पहुंचा दिया जाता है। बहुधा यह ही ऐसा एक सुधार है जिसके लिए आगामी सन्तति को कभी पछताना नहीं पड़ता।

और भारत में ब्रिटिश सरकार करती क्या जब उसका पाला एक ऐसे वकील के साथ पड़ा, जिसने उससे लड़ते-लड़ते धीरे-धीरे अंग्रेजी शब्दों के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अर्थों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जो अपने लिए तो भय या चिन्ता ही नहीं करता था, परन्तु साथ ही जो वाद-विवाद की धारा के बिलकुल अकल्पित-स्वरूप धारण कर लेने पर भी हराया नहीं जा सकता था। और इससे भी बुरी बात यह थी कि इस व्यक्ति की विनोद की भावना इस प्रकार की थी कि वह स्वयं ही आपके सामने इच्छापूर्वक अपनी क्षुद्रता स्वीकार कर लेता था और आपको मौका नहीं देता था कि आप उसी के अस्त्र से उस पर वार कर सकें। और सबसे बुरी बात यह थी कि वह तो एक दूसरा एन्टीयस ही था जिसकी शक्ति पृथ्वी माता को छूते ही अजेय हो जाती थी। गांधी को सदा सहारा प्राप्त था पूर्व के अमित धैर्य, वैराग्य और प्रतिरोध के परीक्षित उपायों का।

वास्तव में उन दिनों भारत का निस्तार अहिंसा अर्थात् "अहिंसात्मक-अप्रतिरोध" के कठोर पालन में ही था, और जब गांधी ने दूसरों से पहले इसे अनुभव किया तो यह आन्तरिक-प्रेरणा का ही प्रकाश था। "इस लक्षण से तेरी जीत होगी।" बेशक! जब आपको ऐसा प्रतिद्वन्द्वी मिल गया जो इस तरह के आक्रमण के लिए तैयार न था, जो इससे भौंचक हो गया हो, जो अस्पष्ट-रूप से यह महसूस करे कि वह ऐसे शत्रु पर आघात नहीं कर सकता, जो बदले में आघात करने से इन्कार करे, तो वास्तव में आपने एक अस्त्र पा लिया और दुर्बल और निरस्त्र भारत के पास दूसरा कोई अस्त्र था भी नहीं।, अगर आपके

पास केवल तीर-कमान हैं तो इनको लेकर मशीन-गनों का मुकाबिला करना मूर्खता है। आप केवल शत्रु को "आत्म-रक्षा के निमित्त" मशीनगनें प्रयोग करने का मौका दे सकते हैं, जबकि वह उनको दूसरे निमित्त से प्रयोग करने में लज्जा अनुभव करे। आज 'अहिंसा' चाहे जितनी निष्क्रिय हो गई हो, अपने समय में इसने अपना काम कर दिखाया।

और लाचारी तथा निराशा के कारण उत्पन्न हुई इस आन्तरिक-प्रेरणा के साथ एक दूसरी प्रेरणा और आई। भारत की आत्मा ने चुपके से कहा—"धरना दो!" मेरे विचार मे शायद सबसे पहले रशब्रुक विलियम्स ने यह पता लगाया था कि गांधीजी की इस राजनैतिक-चाल का सम्बन्ध 'धरना देने' की पुरानी प्रथा से है। यह प्रथा, जो जॉन कम्पनी के दिनों में हिंदुस्तानमें एक आफत हो गई थी, ऐसी थी कि कर्ज देनेवाला किसी नादिहन्द कर्जदार के द्वार पर, सताया हुआ व्यक्ति किसी अत्याचारी या शत्रु के द्वार पर, अनशन करके बैठ जाता था, जबतक मृत्यु या उसकी इच्छा-पूर्ति उसे छुटकारा न दिला दे। यदि मृत्यु होजाती तो सदा के लिए उसका भूत एक निर्दयी छाया की तरह बैठा रहता, जो अब अपील और पश्चात्ताप दोनों के दायरे से बाहर थी। यह थी गांधीजी की क्रिया, जो ठेठ देसी और शानदार क्रिया थी। वह लगभग चालीस वर्षों से, रह-रहकर ब्रिटिश-साम्राज्य की देहली पर धरना देते आये हैं। दो-एक बार तो उनका भूत हमारे सिरपर आता-आता रह गया है—'अहिंसात्मक-असहयोग।' जब आयर्लैण्ड के नवयुवक झाड़ियों के पीछे से बम और रिवाल्वर चलाते थे और रेल-गाड़ियां उलट देते थे, तब भारत के नवयुवक बड़े चाव से इन बातों को देखते थे। परन्तु इससे भी अधिक दुखभरी दिलचस्पी के साथ सारे भारत ने तब देखा जब कार्क के लार्डमेयर मैक्स्विनी ने भूख-हड़ताल करके जान देदी। १९२९ में राजनैतिक हत्या के अभियुक्त एक भारतीय विद्यार्थी ने भी ऐसा ही किया था और पंजाब से उसके घर कलकत्ता तक उसका शव जिस समारोह के साथ ले जाया गया वह भुलाया नहीं जायगा। विदेशी सरकार के साथ, भारतीय हथियारों से, आमरण युद्ध किया जा रहा था। ये हथियार पश्चिम में भी पहुंच चुके थे और वहां सफल भी हुए थे। पहले नॉन कन्फार्मिस्ट—निष्क्रिय प्रतिरोधी फिर स्त्री-मताधिकार के पक्षपाती (जो भूख-हड़ताल की सोचकर एक कदम और भी आगे बढ़ गये थे परन्तु शायद वे पूर्णतया "अहिंसात्मक" नहीं थे) और इनके बाद आयर्लैण्ड के रूप में देखने में आये। यह आमरण "अहिंसा थी!"

गांधीजी के विषय में एक महान् भारतीय ने एकबार मुझसे कहा था, "वह नीतिवान् हैं, परन्तु आध्यात्मिक नहीं है।" दूसरे भारतीय ने कहा—"वह पकड़ में नहीं आते, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह सबसे ऊंचे दरजे के सत्य का पालन कर सकते हैं।" और मेरे देश में यह हुआ। गोलमेज-परिषद् के दिनो जो कुछ लोग उनसे मिले, उन्हें निराशा हुई। उन्होंने आश्चर्य के साथ कहा—"यह तो सन्त नहीं हैं!" मैं भी उनको सन्त नहीं समझता और स्पष्ट बात तो यह है कि मुझे इसकी चिन्ता भी नहीं कि वह सन्त हैं या नहीं। मैं समझता हूं कि वह इससे भी कठोर कोई वस्तु है, और ऐसी वस्तु हैं जिसकी सन्तों से अधिक इस निराशा के युग को, जिसमें हम रह चुके हैं—आवश्यकता है। "वह सबसे ऊंचे दरजे के सत्य का पालन करने में समर्थ हैं।" वह वास्तव में समर्थ हैं, वह उदात्त चरित्रता की असाधारण ऊंचाई तक उठ सकते हैं। दक्षिण अफ्रीका का असहनीय अन्याय के विरुद्ध किया हुआ सारा हिन्दुस्तानियों का वह संघर्ष, जिसके वह केन्द्र और सब-कुछ थे एक ऐसी महान् घटना है कि मैं उसकी क्या प्रशंसा करूं? और केवल उनका साहस ही अपार न था, बल्कि उनकी उदारता भी अपार थी। भारतवासियों की विशाल हृदयता मुझे जीवन के प्रत्येक पल में आश्चर्य से भर देती है। उन्होंने व्यक्तिगत और जाति गत दोनों पहलुओं से यह बतला दिया है कि वह क्रोध से ऊपर उठ सकते हैं, जैसा कि मैं, एक अंग्रेज, महसूस करता हूं कि यदि उनकी जगह पर मैं होता तो कभी न कर सकता। गांधीजी चाहते तो वह हरेक गोरे को जीवन-भर घृणा की दृष्टि से देखते, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वास्तव में, जैसा कि बहुत दिन हुए एडमण्ड कैन्डलर ने देखा था, वह अंग्रेजों से काफी प्रेम करते हैं। इसके बाद नेटाल में जूलुओं का कथित विद्रोह हुआ, जिसका प्रारम्भ बारह जूलुओं की फांसी से हुआ और जिसमें गोलियों से उड़ा देने का और चाबुकों की मार का हृदय-विदारक दौर-दौरा रहा। गांधी जी ने यह दिखलाने के लिए कि वह ब्रिटिश-विरोधी न थे और घोर संकट के समय वह तथा उनके साथी अपने हिस्से का कर्तव्य पूरा करने के लिए प्रस्तुत थे, आहतों के उपचार के लिए अपनी सेवाएं अर्पित कर दीं। सुसंस्कृत मूर्खता (मैं इसको इसी नाम से पुकारूंगा) के फलस्वरूप उनको उन जूलुओं के उपचार का कार्य सौंपा गया जिनके शरीर फौजी कानून के मातहत दी गई कोड़ों की मार से क्षत-विक्षत हो गए थे। यह अच्छी शिक्षा थी, यदि इसका अर्थ

यह हो कि भारतवासी पहले से ही इस बात पर कड़े हो जावें कि जब सरकारें डट जाती हैं तो वे क्या कर सकती हैं! वह वास्तव में इस विषय में कड़े हो गए, परन्तु और बातों में नहीं। गांधीजी ने अपना यह विश्वास कायम रक्खा कि यदि अंग्रेज को समझाया जावे और उसकी निष्पक्ष भावना को जागृत किया जावे तो उसका हृदय पसीज सकता है। अप्रैल १९१९ में जनरल डायर ने अमृतसर में जलियांवाला के उस नीचे बाग के मौत के पिंजरे में, दो हजार आदमियों को गोली से उड़ा दिया। और घायलों को रात भर वहीं तड़पने और कराहने के लिए छोड़ दिया। इसके बाद ब्रिटिश पार्लमेण्ट के दोनों हाउसों में निन्दनीय वाद-विवाद जोर-शोर से आया और एक नीचतापूर्ण आन्दोलन हुआ जिसने "डायर टर्स्टीमोनियल फण्ड" के लिए २६, ००० पौण्ड का चन्दा खड़ा कर दिया। कांग्रेस ने पंजाब के इन कांडों पर अपनी रिपोर्ट तैयार करने के लिए गांधी और जयकर को नियुक्त किया। इनपर सिलसिलेवार और ब्यौरेवार साक्ष्य (जिस पर उस दुःख और जिल्लत के समय में सहज ही विश्वास कर लिया गया) यह प्रमाणित करने के लिए लादी गई कि जनरल डायर ने जान-बूझकर भीड़ को उस नीचे बाग में 'छल-से-जमा' (lured) किया था कि उनकी हत्या करे। इस साक्ष्य के पीछे अनियंत्रित क्रोध और पीड़ा की उकसाहट थी। गांधीजी ने इसका तिरस्कार किया। उन्होंने अपने ही जातिभाइयों के दबाव की अवहेलना की। उन्होंने कहा—"मैं इस पर विश्वास नहीं करता, और यह बात रिपोर्ट में नहीं लिखी जायगी।"[१] उनके आत्म-निग्रह की इससे बड़ी विजय दूसरी नहीं हुई और ऐसी परिस्थिति में आत्म-निग्रह बड़ी ऊँची नैतिक विजय होती है। यदि आपको गत महायुद्ध का अनुभव हो तो आप जानते हैं कि क्रोध और देश-भक्ति से विचलित हो जाना और फिर भी न्याय का पक्ष लेना कितना कठिन है। गांधीजी ने इसमें सफलता प्राप्त की, और ऐसी अपमानजनक परिस्थिति में प्राप्त की जिसका किसी अंग्रेज को आज तक अनुभव नहीं हुआ है, अर्थात् एक पददलित राष्ट्र में उत्पन्न होना। यह है "सब से ऊंचे दरजे का सत्य"—यह 'करनी' का सत्य था, 'कथनी' का नहीं।

मेरा अन्तिम उदाहरण है, १९२२ में उनका मुकदमा। यह घटना उनके और उनके विरोधियो दोनों के लिए गौरवपूर्ण थी—जिस उच्च श्रेणी

---

[१] यह बात मुझे एम० आर० जयकर से मालूम हुई।

की मानवी "संस्कृति" का इसमें दिग्दर्शन हुआ उसके कारण यह असाधारण और कदाचित अपूर्व थी और इसी बात ने इसे दोनों तरफ की ईमानदारी और निष्पक्षता का एक दैवी प्रकाश बना दिया था, हालांकि उस समय आग भड़का देने का इतना मसाला था। इस मुकदमे ने भारत में रहने वाली अंग्रेज जाति के (हृदय मे तो नहीं कहूंगा, बल्कि) रुख में वास्तविक परिवर्तन का अकुर उत्पन्न कर दिया। गांधीजी उनको चाहे जितना खिजावे, उन्होंने इनका आदर करना पहले ही सीख लिया था, और जब इस मुकदमे के अभिनय में (आगे सजा की बात तक गए बिना उससे बढ़ा-चढ़ा नाटकीय विशेषण देना तो शायद ठीक न होगा) उन्होंने देखी इस मनुष्य की विचित्र, व्यंग्यपूर्ण, पूर्णतया गौरव-मय और उच्चकोटि की अलौकिक तथा वीरतापूर्ण आत्म शक्ति। इससे अधिक हमने क्या-क्या देखा सो मैं नहीं कह सकता। मै, जो जॉनबुल का नमूना हो हूँ, तो अपनी कह सकता हू। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि उन्होंने ब्रिटिश राज्य को, ऐसी वस्तु दी जिसको हममें से बहुत से चुनौती देने का साहस करने की इच्छा रखते थे, उतनी नहीं दी जितनी कि सम्पूर्ण आधुनिक संसार को चुनौती दी जिसने मनुष्य-जीवन को मशीनमय बनाकर उसकी गति-वृद्धि को रोक दिया है। उनका हमारे साथ झगड़ा उससे कहीं अधिक गहरी और व्यापक वस्तु थी जितनी हम उसे समझते थे।

१२ जनवरी को अपैन्डिसाइटिस के ऑपरेशन के कारण उनको जल्दी मुक्त कर दिया गया। जेल के गवर्नर ने उनको छुट्टी दे दी कि वह चाहें तो अपने वैद्य का इलाज करा सकते हैं या अपनी पसन्द का कोई सर्जन बुला सकते हैं। शिष्टाचार में पीछे न रहने की इच्छा से गांधी ने अपने आपको गवर्नर के हाथों में सौंप दिया और कोई विशेष रियायत नहीं मांगी। सर्जन ने एक बिजली की टार्च का प्रयोग किया जो ऑपरेशन के मध्य में ही खत्म हो गई। नर्स ऑप-रेशन के अन्त तक एक हरीकेन लालटेन पकड़े रही। यदि रोगी की मृत्यु हो जाती तो हम जानते हैं कि भारत और संसार क्या कहता! मिस मेयो ने इस घटना का बड़ा उपहास से वर्णन किया है, परंतु गांधीजी ने इसको 'पवित्र' अनुभव बतलाया है जो उनके जेलर के लिए 'और, मुझे विश्वास है, मेरे लिए' प्रशंसा की बात थी। वास्तव में यह प्रशंसा की बात थी और इस संसार में जहाँ इतनी अप्रिय वस्तुएं हुआ करती हैं, यह दूसरी ही तरह की वस्तु थी।

मुझे समय नहीं है कि मैं चर्खे के सिद्धान्त के विषय में कुछ कहूं। मैं अनु-

भव करने लगा हूं कि यह विवेकपूर्ण और न्यायोचित था, यद्यपि इसे कभी-कभी निरर्थक चरम-सीमा तक पहुंचा दिया गया। उदाहरणार्थ जब उन्होंने रवीन्द्र बाबू से प्रतिदिन कातने के लिए कहा। उनमें निर्दोष आत्मपीड़न की जो झलक है, उसके विषय में भी मैं कुछ नहीं कहूंगा। जिसके कारण वह अपने देशवासियों द्वारा अछूतों अथवा दुधारू गायों के प्रति किये गए अत्याचारों के पश्चात्तापस्वरूप जान-बूझकर गन्दे-से-गन्दे भंगी का काम जो उन्हें अपने रोगियों के अस्पतालों में मिला करते हैं, और (फूका की निर्दय क्रिया के द्वारा गायों से जितना दूध वे दे सकती हैं उससे अधिक निकालने के विरोध स्वरूप) केवल बकरियों का दूध पीते हैं।

वह दूसरे लोगों को बड़ी खूबी के साथ जाँच सकते हैं। उनकी मानवता जिस गहरी-से-गहरी वस्तु से बनी हुई है उसका उदाहरण इतिहास में नहीं है। उनके हृदय में प्रत्येक कौम के लिए और सब से अधिक दीनों तथा दलितों के लिए दया और प्रेम है। वह सच्चे अर्थों में निष्काम हैं। सारा भारत जानता है कि उनकी दृष्टि में सब पुरुष और स्त्रियाँ समान हैं। स्वयं उनका पुत्र भी उनके लिए एक भंगी के पुत्र से अधिक नहीं है। उनको अपने लिए न कोई भय है, न कोई चिन्ता। वह विनोदी, दयामय, हठी और वीर हैं। भारतवर्ष इतना विदीर्ण विभाजित—दरारों से पूर्ण, टुकड़े-टुकड़े हुआ, चिप्पियां लगाया हुआ था—जितना इस पृथ्वी पर और कोई राष्ट्र न था। बुद्ध के बाद पहली बार उसे ऐसी हलचल का ज्ञान हुआ जो उसके कोने-कोने में फैल गई, ऐसे श्वास और स्वर का पता चला जिसका सब जगह अनुभव किया गया और सुना गया, यद्यपि उसके शब्द हरबार समझ में नहीं आये। राष्ट्रीय आंदोलन में अधिक अच्छे वक्ता तथा अधिक विद्वान् लोग हुए हैं, परन्तु ऐसा व्यक्ति एक ही है जिसने भारत के नर-नारियों के हृदय में यह बात जमा दी है कि उसका तथा उनका रक्त-मांस एक ही है। उन्होंने अछूतों में आशा का संचार किया है, डोम और पासी इस बात का स्वप्न देखने लगे हैं कि वे भी मनुष्यों की श्रेणी में गिने जाते हैं। उन्होंने ऐसी भावनाओं तथा आशाओं का क्रियमाण किया है जो किसी भी राजनैतिक दलबन्दी से अधिक व्यापक हैं। उन्होंने भविष्य के लिए भारतवासियों के मार्ग की दिशा ही निश्चयात्मक रूप से बदल दी है।

उन्होंने इससे भी कुछ अधिक करके दिखलाया है। मैंने राजनीतिज्ञ के रूप में उनकी आलोचना की है। परन्तु जैसा कि मैंने दूसरी जगह लिखा है,

"वह उन गिने चुने व्यक्तियों में माने जावेंगे जिन्होंने एक युग पर 'आदर्श' की छाप लगादी है। यह आदर्श 'अहिंसा' है जिसने दूसरे देशों की सहानुभूति को बलपूर्वक आकर्षित कर लिया है।" इसने "ब्रिटिश सरकार के 'दमन' पर भी एक पारस्परिक सहानुभूति की छाप दे दी है"—और यह बात, मालूम होता है, किसी के ध्यान में नहीं आई है। "भारतीय आन्दोलन के साथ रक्तपात और नृशंसता हुई है। परन्तु फिर भी दोनों ओर के गरम पक्षवालों की तमाम दलीलों पर विचार करते हुए भी इस आन्दोलन का व्यवहार इस मध्यवर्त्ती विश्वास को दृढ़ करता है कि इसके परिणामस्वरूप दोनों देशों में एक विवेकपूर्ण तथा सभ्यतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने की सम्भावना है।" यदि ऐसा हो कि संसार में आज जो अविवेक फैल रहा है वह दूर हो जावे, तो मेरा देश तथा भारतवर्ष दोनों इस पुरुष को अपना एक सबसे महान् और प्रभावशाली सेवक तथा पुत्र समझेंगे। इन्होंने भारत तथा इंग्लैण्ड के पारस्परिक झगड़े को एक पारिवारिक झगड़ा बना दिया है, जैसा कि वह सब प्रकार से है भी। कुटुम्बों में बहुधा बड़े बुरे व्यवहार होते रहते हैं, परन्तु ये झगड़े बहुत कम ऐसे होते हैं जिनका निपटारा न हो सके।

: ५२ :

सत्याग्रह का मार्ग

सोफिया वाडिया

गांधीजी एक व्यावहारिक रहस्यवादी सन्त-पुरुष हैं, जिनके जीवन का दर्शन तथा जिनका राजनैतिक कार्यक्रम एक साथ सहस्त्रों के लिए प्रेरणारूप तथा करोड़ों के लिए पहेली है। जहां एक ओर उनके आत्मिक जीवन के दर्शन का सिद्धान्त कोई भी बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है, तथा उनके नियमों का हरेक उत्साही तथा दृढ़निश्चयी व्यक्ति पालन कर सकता है, वहाँ उनका राजनैतिक कार्यक्रम तबतक पहेली बना रहेगा, जबतक कि उनको भारत के अत्यन्त अतीत काल में से स्वभावतः विकसित होनेवाले और भारत के वर्तमान इतिहास का निर्माण करनेवाली शक्तियों को सच्चे अर्थों में मूर्तरूप देनेवाले पुरुष के रूप में न देखा जावे।

आजकल का भारत ईरान या मिस्त्र की तरह, प्राचीन भूमि में उपजी हुई कोई नई सभ्यता नहीं है। बीसवीं शताब्दी की भारतीय चेतना की जीवन-धारा वही धारा है जो करोड़ों वर्षों से निरन्तर धीर गति के साथ बहती चली आरही है और अब भी गतिशील है। यहां तक कि भारत में पुरातत्त्व की खुदाई के परिणाम भी एक नया अर्थ ले लेते हैं तथा एक नया महत्त्व रखते हैं, जैसाकि कदाचित् सिवा चीन के और किसी जगह प्राप्त हुई वस्तुएं नहीं रखतीं। उदाहरणार्थ मिस्त्र के स्तूप उस देश के लुप्त प्राचीन गौरव की याद दिलाते हैं, परन्तु मोहेन्जोदड़ों में हम कह सकते हैं कि यह बात नहीं है, क्योंकि यह बात भग्नावशेष नहीं है, बल्कि भारत की जीवित-संस्कृति का एक सचेतन केन्द्र है।

वास्तव में जिस अर्थ में हम अर्वाचीन ईरान या आधुनिक मिस्त्र की बात कहते हैं उस अर्थ में अर्वाचीन भारत है ही नहीं, भारत तो उस अर्थ में भी अर्वाचीन नहीं है जिस अर्थ में जापान माना गया है, अर्थात् पुरानी वही जाति बिलकुल आधुनिकता में ढल चुकी है। नये सांचे में ढला हुआ भारत केवल बड़े-बड़े शहरों में ही पाया जाता है और वहाँ भी थोड़े से ही अंश में। अंग्रेजी जानने वाले बहुत से भारतीयों में "नवीन बनने" की प्रवृत्ति है। दुर्भाग्यवश यह प्रवृत्ति जोर भी पकड़ती जा रही है, यद्यपि गांधीजी के लेखों तथा कार्यों से इसकी गति रुक रही है। नई रोशनी का भारत तभी वजूद में आवेगा जब गांधी के प्रभाव को लोग न मानेंगे तथा उनके राजनैतिक तरीके निकम्मे होजावेंगे। यह भारत के लिए तथा संसार के लिए उससे भी महान् आपद् की घटना होगी जो भारत के सिद्धांतों को त्याग देने के कारण हुई थी। वह त्यागना बुरा और हानिकारक था, परन्तु उसने भारतीय संस्कृति का नाश नहीं किया; हां, उसने इसकी बढ़ती हुई लहर के वेग को रोक दिया तथा भारत को संसार की सेवा उतने बड़े पैमाने पर करने का मौका छीन लिया, जितनी वह कर सकता था।

गांधीजी के जीवन के कार्यकलाप को भारतीय इतिहास के एक लिखे जारहे विकासशील अध्याय के रूप में देखना आवश्यक है। हमारे देश का इतिहास मुख्यतः आध्यात्मिक व्यक्तियों द्वारा बनाया गया है। स्मरणीय कला तथा साहित्य-संयुक्त विशाल राजतन्त्र स्वभावतः उस आध्यात्मिक संस्कृति के मूल से उत्पन्न हुए और बढ़े जिसको इन व्यक्तियों ने मूर्त्तिमान किया तथा सिखाया।

उदाहरणार्थ, अशोक का साम्राज्य तथा अजन्ता की कला एक विशाल वृक्ष की एक ही शाखा के फल हैं; वह शाखा है गौतम बुद्ध। इस वृक्ष की अनगिनती शाखाएं हैं, और उसका मेरुदण्ड है उन समस्त पूर्ववर्त्ती बुद्धों की अविभाजन संस्कृति, जिसमें वैदिक ऋषियों तथा कवियों की भी गणना है। उसकी जड़ें पौराणिक गाथाओं में वर्णित शकद्वीप तथा श्वेतद्वीप की प्राचीनतर मिट्टी में दबी हुई हैं। यह आवश्यक है कि गांधीजी को भारतीय इतिहास के बीसवीं शताब्दी के उस चित्रपट पर एक जीवित केन्द्र-पुरुष के रूप में देखा जावे जिसकी पृष्ठभूमि में करोड़ों वर्षों की घटनायें स्थित हैं।

जिन शक्तिशाली आध्यात्मिक व्यक्तित्वों ने हमारे इतिहास में मुख्य भाग लिया है वे सदा योग-युक्त पुरुष रहे हैं। उन्होंने अपनी दुष्प्रवृत्त इन्द्रियों को अनुशासन में लाकर अपने में योग साधा है। हाथों की, मस्तिष्क की तथा हृदय की क्रियाओं का जितना ही अधिक समरूप एकीकरण होगा, उतना ही महान व्यक्तित्व होगा। उन्होंने बाहरी ऐश्वर्य से नहीं, वरन् आन्तरिक सम्पन्नता से अपनी प्रिय मातृभूमि की सेवा की है। आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने राम की तरह राजसी वस्त्र भी धारण किये हैं। दूसरे युग में राजकुमार सिद्धार्थ ने अपने राजदण्ड के बदले बुद्ध का भिक्षा-पात्र ले लिया। ये दोनों आत्मसाधक व्यक्ति थे। इनके अतिरिक्त और भी कवि, ऋषि, महर्षि हुए हैं, जो सब-के-सब बाह्य रूप में एक-दूसरे से भिन्न तथा विभिन्न परिस्थितियों में काम करने वाले रहे हैं; परन्तु आन्तरिक ज्ञान में सब एकसमान थे—इनके मानस आत्मा के प्रकाश से ज्योतिमान तथा हृदय तथागत की ज्योति से ओतप्रोत थे। इनके विषय में कहा जा सकता है कि वे इतने भारतीय इतिहास के बनानेवाले नहीं थे जितना कि संसार के इतिहास ने, अर्थात् भारतवर्ष कहलानेवाले तथा कर्मभूमि के नाम से विख्यात भूखण्ड की आत्मा की शक्ति ने, उनको बनाया। इन सबने भारत की वास्तविक प्रकृति, इसका आन्तरिक गुण, इसकी आध्यात्मिक नीति और व्यवस्था जो धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत हैं, सबकी रक्षा करके मनुष्य-जाति की सेवा की। यह विचारधारा कदाचित् कल्पनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से युक्तहीन प्रतीत हो। पाश्चात्य विद्वान् भारत के प्राचीन निवासियों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव की शिकायत करते हैं। इसमें वे भूल करते हैं, क्योंकि वे उसी तरह का ऐतिहासिक दृष्टिकोण तलाश करते हैं जिससे वे सबसे अधिक परिचित हैं। पाश्चात्य संस्कृति इतिहास को जैसा

समझती है तथा उसका जो अर्थ लगाती है, उसका वर्णन स्वयं गांधी जी ने इस प्रकार किया है :—

"इतिहास वास्तव में प्रेम की शक्ति अथवा आत्मा की एकरस होनेवाली क्रिया में प्रत्येक रुकावट का आलेख है....। चूंकि आत्मिक बल एक सरल स्वाभाविक वस्तु है, अतः उसका वर्णन इतिहास में नहीं किया जाता।"

इस उलटे अर्थ में हमारे प्राचीन आलेख बिलकुल अनैतिहासिक हैं, उनमें अधिकतर आत्मा के कर्मों का वर्णन है और नैतिक शक्तियों तथा आदर्शों पर सांसारिक बातों की अपेक्षा अधिक जोर दिया गया है। इस अर्थ में पुराण इतिहास हैं।

पाश्चात्य इतिहासकार की कठिनाइ कुछ परिवर्तित ढंग से आधुनिक राजनीतिज्ञों में—चाहे फिर वे ब्रिटिश हों या पश्चिमी मनोवृत्ति के—दुबारा प्रकट हो रही है; जिनका कहना है कि गांधीजी में राजनैतिक वृत्ति का अभाव है; क्योंकि आधुनिक राजनीतिज्ञ के लिए राजनैतिक वृत्ति की अभिव्यक्ति केवल एक ही प्रकार से हो सकती है, दूसरे प्रकार से नहीं। अयोध्या में दशरथ के परामर्शदाता वशिष्ठ की भांति राजाओं तथा सम्राटों के दरबार के महर्षि उच्चतम श्रेणी के राजनीतिज्ञ होते थे। परन्तु आज उनके उत्तराधिकारी इतने भी वोट एकत्र करने में सफल नहीं होंगे कि वे किसी पाश्चात्य देश की पार्लमेण्ट के सदस्य बन सकें।

गांधीजी की कथित असंगतियाँ तथा अव्यावहार्यतायें तभी समझ में आ सकती हैं जब हम उनको एक 'आत्मा' के रूप में देखें, और जब हम इस तथ्य को विचार में लावें कि वह उन व्यक्तियों में से हैं जो अपने मस्तिष्क तथा हृदय में समझौता करने से इन्कार कर देते हैं, जो अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध आचरण करने के लिये तैयार नहीं होते जो सब घटनाओं को सांसारिक दृष्टि कोण से नहीं देखते, बल्कि उनको अपने लिए आत्मज्ञान का तथा दूसरों के लिए आत्मिक-सेवा का मार्ग समझते हैं। वह अपने तत्त्वज्ञान के अनुसार चलते हैं, अपने सिद्धांतों का पालन करते हैं, और इसीलिए वह उन सभी के लिए थोड़ी-बहुत अविगत पहेली बने रहते हैं जो समझौता करते रहते हैं तथा इस कारण भ्रांति और इन्द्रियों की तथा इन्द्रिय-जगत की नैतिक शिथिलता की अस्तव्यस्त अवस्था में पड़े रहते हैं।

यदि हम इन दो बातों को समझ जावें कि गांधीजी (१) न तो राजनीतिज्ञ

हैं, न दार्शनिक, न धर्मशास्त्रवेत्ता, बल्कि आध्यात्मिक सुधारक हैं तथा, (२) वह भारत की आत्मा अथवा आर्य-धर्म के अवतार हैं और इस प्रकार भारत के वर्तमान-कालीन इतिहास का अध्याय• लिख रहे हैं तो हम उनके बहुमुखी कार्यकलाप का ठीक रूप से दर्शन कर सकते हैं।

संसार में गांधीजी भारत के राजनैतिक नेता के ही रूप में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। निस्सन्देह लोग उन्हें एक साधु तथा धार्मिक मनुष्य कहते हैं, परन्तु बहुधा उनका धर्म एक दूसरे दर्जे की महत्त्वपूर्ण बात समझा जाता है, तथा अंग्रेज लोग और स्वयं उनके बहुत-से देशवासी भी उनके वक्तव्यों को समझने में भूल करते हैं, क्योंकि वे उन वक्तव्यों को इस प्रकार सुनते हैं और प्रयोग करते हैं मानो वे किसी देशभक्त राजनीतिज्ञ के दिये हुए हों। वे गांधीजी के इस महत्त्वपूर्ण सिद्धांत को भूल जाते हैं कि "नैतिकता रहित राजनीति ऐसी वस्तु है जिससे बचना चाहिए।" जब वह यह घोषित करते हैं कि मेरी देशभक्ति सदा मेरे धर्म की चेरी है तो वह उस देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता को एक नई विशेषता देते हैं, जो आज संसार की गोलमाल और अशान्ति का मूल-कारण बनी हुई है। वह भारत के शत्रु को कोई हानि नहीं पहुंचावेंगे; क्योंकि किसी को हानि पहुंचाना अधर्म है।

अतः यह आवश्यक है कि हम गांधीजी के आन्तरिक धर्म के सम्बन्ध में जांच-पड़ताल करें। वह अपने-आपको हिन्दू कहते हैं, परन्तु वह हिन्दू केवल इसी अर्थ में हैं कि हिन्दू-धर्म में वर्णित सार्वभौम उपदेश उनको सबसे अधिक तथा सबसे प्रभावशाली रूपमें अच्छे मालूम होते हैं। वह लिखते हैं:—

"धर्म की सबसे उच्च परिभाषा के अन्तर्गत हिन्दू-धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म इत्यादि सब आ जाते हैं; परन्तु वह इन सबसे श्रेष्ठ है। आप उसे सत्य के नाम से भी पहचान सकते हैं, समयोपयोगिता की दृष्टि से प्रामाणिकता मात्र नहीं, बल्कि सदा-सर्वदा सजीव रहनेवाला सत्य जो प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है तथा जो सब प्रकार के विनाशों और परिवर्तनों के बाद भी जीवित रहता है।

"धर्म मुझे प्रिय है, और मेरी सबसे पहली शिकायत यह है कि भारत धर्महीन होता जा रहा है। यहां मैं हिन्दू या मुसलमान या पारसी धर्म का विचार नहीं कर रहा हूं, बल्कि उस धर्म का विचार कर रहा हूं जो सब धर्मों के मूल में है। हम परमात्मा से विमुख होते जा रहे हैं।"

गांधीजी परमात्मा की परिभाषा में कहते हैं कि वह "एक अवर्णनीय सर्वव्यापी गूढ़ शक्ति है।" वह वर्णन करते हैं :—

"मैं यह निश्चयपूर्वक अनुभव करता हूं कि जहाँ मेरे चारों ओर की प्रत्येक वस्तु सदा परिवर्तनशील तथा सदा नाशवान हैं, वहां इस समस्त परिवर्तन के मूल में एक सजीव शक्ति है, जो निर्विकार है, जो सबको धारण किये हुए है, जो सृष्टि की रचना करती है, प्रलय करती है तथा पुनर्रचना करती है। यह ज्ञानदाता शक्ति चैतन्य ही परमात्मा है।"

यह परमात्मा त्रित—सत्, चित्, आनन्द—है।

"'सत्य' शब्द 'सत्' से निकलता है, जिसका अर्थ है 'होना'। वास्तव में सत्य के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, अर्थात् किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है....। जहां 'सत्य' है वह 'चित्'—ज्ञान, विशुद्ध ज्ञान भी है। और जहां विशुद्ध ज्ञान है वहां सदा 'आनन्द' है।"

परमात्मा "घट-घट में है" तथा "प्रत्येक मनुष्य परमात्मा की प्रतिमूर्ति है।" अतः हममें से प्रत्येक के भीतर सत्-चित् आनन्द का अस्तित्व है—परन्तु उसका केवल कुछ ही अंश आवरणरहित है; क्योंकि वह अज्ञान तथा अविद्या के आवरण से ढका हुआ है। मनुष्यों को उचित है कि इस आन्तरिक देवता की शक्ति से जीवित रहने का प्रयत्न करें। जब गांधीजी शिकायत करते हैं कि भारतवासी परमात्मा से विमुख होते जा रहे हैं तो उनका तात्पर्य यह होता है कि वे लोग अपने भीतर की परमात्मा की शक्ति के द्वारा जीवित रहने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं। "मनुष्य पशु से ऊपर है" और "उसे एक दैवी कर्तव्य पूरा करना है"। "हम भूलोक को जानते हैं; परन्तु हम अपने अन्दर के स्वर्ग से अपरिचित हैं।"

मनुष्य का वह श्रेष्ठतर कर्तव्य क्या है? सच्चे ज्ञान से सत्य की खोज और केवल इसी के द्वारा नित्य आनन्द प्राप्त करना। "सत्य को पूर्णतया जान लेना अपने आपको साक्षात् कर लेना तथा अपने अदृश्य को पहचान लेना ही 'पूर्ण' बन जाना है।"

परन्तु मनुष्य में नीच पाशविक प्रवृत्ति है। अतः जिस मिट्टी से मनुष्य की देह बनी है उसपर अपूर्णता की छाप लगी हुई है। सबसे प्रथम आवश्यक कर्म है अपने में अन्तर्हित पूर्णता के अस्तित्व को तथा अपने चहुँओर छाई हुई अपूर्णता की कृति को पहचान लेना। हमारे अन्दर अपनी दो मुखी—दैवी तथा दानवी

प्रकृति का जो संघर्ष चलता रहा है उसका गांधीजी प्रभावशाली ढंग से वर्णन करते हैं—

"मुझे अपनी अपूर्णताओं का दुःखपूर्वक ज्ञान है तथा इसी में मेरा समस्त बल है; क्योंकि मनुष्य के लिए स्वयं अपनी मर्यादाओं को जान लेना एक दुर्लभ वस्तु है।"

चूंकि हम निश्चयरूप से स्वयं अपनी मर्यादाओं को नहीं जानते, अतः हमको भी अपने घर का 'देवता' दिखलाई नहीं पड़ता। हमारी दुर्बलतायें उनसे लड़ने तथा उनको परास्त करने का प्रश्न उठाती है और यह प्रश्न स्वभावतः ही हमको आत्मा तथा अन्तरात्मा की शक्ति तक ले जाता है। इन दुर्बलताओ को जीत लेने से ही "जीवन मृत्यु के ऊपर शाश्वत विजय प्राप्त कर लेता है।"

अपनी अपूर्णता पर विजय प्राप्त करने की रीति जिससे हमारी अन्तर्हित पूर्णता प्रकट हो जावे, गांधीजी के इस उपदेश में दी हुई है—"अपने अंदर की सुप्त अहिंसा को सचेतन करो और बढ़ाओ।" इसका भावार्थ ध्यान देने योग्य है—जो सुप्त है उसे प्रयत्न के द्वारा जाग्रत करने की आवश्यकता है। यह प्रयत्न किस प्रकार किया जाय?

"यदि मनुष्य को कोई दिव्य कर्तव्य पूरा करना है, ऐसा कर्तव्य जो उसके योग्य हो, तो वह अहिंसा है। हिंसा के मध्य में खड़ा हुआ भी वह अपने हृदय की ठेठ आन्तरिक गहराई में जाकर बस सकता है और अपने चारो ओर के संसार को यह घोषित कर सकता है कि इस हिंसामय जगत में उसका कर्तव्य अहिंसा है और जिस अंश तक वह उसे पालन कर सकता है, उसी अंश तक वह मनुष्य-जाति का भूषण है। अतः मनुष्य की प्रकृति हिंसा की नहीं, बल्कि अहिंसा की है, क्योंकि वह अनुभव के द्वारा कह सकता है कि मेरा आन्तरिक विश्वास है कि मैं देह नहीं, बल्कि आत्मन् हूँ और मुझे देह का उपयोग इसी उद्देश्य से करना चाहिए कि आत्मज्ञान प्राप्त हो।"

परन्तु इस निश्चय पर दृढ़ रहना चाहिए। जब मनुष्य अपने अन्तर में खोजता है तो उसे पुण्य और पाप दोनों मिलते है। जरथुस्त धर्म में वर्णित वोहू-मनो तथा अकेम-मनो दोनों मानस उसमें कार्य करते रहते हैं। मनुष्य का अपना अंतःकरण इसके लिए पर्याप्त नहीं है, हालांकि वह भी उसके आन्तरिक चैतन्य का ही रूप है। गांधीजी ठीक कहते हैं— अन्तःकरण सबके लिए एक-

नी वस्तु नहीं है।" तो मनुष्य के अन्तःकरण की सहायता करनेवाली कौन-सी ज्योति होनी चाहिए? एक निभ्रान्ति धर्मगुरु? कोई श्रुति? गांधीजी के लेखो के मूलमंत्र- जैसा वचन देखिए—

"मैं इस बात का दावा नहीं करता कि मेरी मार्ग-प्रदर्शिता तथा आन्तरिक प्रेरणा निर्भ्रान्त है। जहां तक मेरा अनुभव है, किसी भी मनुष्य का यह दावा करना कि वह निर्भ्रान्त है, मानने के योग्य नहीं है; क्योंकि आन्तरिक प्रेरणा भी उसीको हो सकती है जो द्वन्द्वों से मुक्त होने का दावा करे और किसी भी अवसर पर यह निश्चय करना कठिन है कि द्वन्द्व मुक्त होने का दावा ठीक है या नहीं। अतः निर्भ्रान्ति का दावा सदा एक भयंकर दावा रहेगा। परन्तु यह बात नहीं है कि इससे हमारे लिए कोई मार्ग ही न रहा हो। संसार के ऋषि-महर्षियों के अनुभवों का संचित कोष हमको प्राप्त है तथा भविष्य में सदा प्राप्त होता रहेगा। इसके सिवा मूल सत्य अनेक नहीं हैं, केवल एक ही मूल सत्य है, और वह स्वयं सत्य ही है। जिसका दूसरा रूप अहिंसा है। परिमित ज्ञानवाली मनुष्य-जाति सत्य और प्रेम का पार पूर्णरूप से कभी नहीं पा-सकेगी; क्योंकि ये स्वयं अपरम्पार है। परन्तु हमें अपने मार्गप्रदर्शन के लिए उसका काफी ज्ञान है। हम अपने कार्यों में भूल करेंगे और कभी-कभी भयंकर भूल करेंगे। परन्तु मनुष्य एक स्वशासित प्राणी है और स्वशासन में आवश्यक रूप से भूल करने का अधिकार भी उतना ही शामिल है जितना, जितनी बार वे भूलें हों उतनी ही बार उनको सुधारने का।"

क्या गांधीजी ने भूलें की हैं? भूलें सबसे होती हैं। परन्तु भयंकर भूलों के किये जाने में मुख्य कारण क्या हैं? सब मनुष्य भूल करते हैं; परन्तु इन भूलों को पहचाननें की शक्ति कितनों में है? और इसके अतिरिक्त कितनों में इतनी साहसपूर्ण मनःशक्ति है कि जो भूलों को स्वीकार करलें। गांधीजी के स्वात्म-योग-युक्त होने का एक लक्षण यह है कि उनका स्वभाव है कि वह निष्कपट रूप से अपनी भूलों को स्वीकार कर लेते हैं। दूसरा लक्षण यह है कि वह अपने अनुयायियों के दोषों को अथवा अपने कुटुम्बियों के अपराधों को अथवा अपने राजनैतिक दल की कमजोरियों को निर्भयता-पूर्वक जाहिर कर देते हैं। वह अपने सहधर्मियों के धार्मिक दोषों को प्रकट करने से नहीं डरते। जो स्वयं अपने ही शरीर की शैतानी शक्तियों के विषय में लिखकर अपना ही असली-रूप जनता के सामने रखने में संकोच नहीं करता, जैसाकि उन्होंने 'मेरे सत्य के

प्रयोग अथवा आत्म-कथा' मे किया, तो वह एक शक्तिशाली साम्राज्यशाही सरकार को 'शैतानी' कहने से क्यों डरे ?

पूर्वोक्त मूलमंत्र मे हमको उनके स्वशासन के आदर्श की झाकी मिलती है। जो मनुष्य स्वयं अपने ऊपर शासन कर सकता है, वह सबसे उच्च श्रेणी का सुधारक है। यह आदर्श गांधीजी की फिलासफी का आधार है। आर्थिक सुधार, राजनैतिक सुधार, सामाजिक सुधार, धार्मिक सुधार, ये सब व्यक्तिगत सुधार के व्यापक रूप हैं। उदाहरणार्थ सबसे प्रत्यक्ष सुधार—अर्थात् आर्थिक, सुधार—के विषय मे वह कहते है—

"भारत की आर्थिक स्वतन्त्रता का अर्थ मै यह लेता हू कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, स्वयं अपने सजग प्रयत्न से अपनी आर्थिक उन्नति करे।"

इस सजग प्रयत्न मे उस मनुष्य का अपने समाज का संपर्क भी सम्मिलित है। इस आर्थिक समस्या का राष्ट्रीय पहलू बडे अच्छे ढग से समझाया गया है। वह फिर कहते है—

"वास्तविक समाजवाद हमको अपने पूर्व पूर्वजों से विरासत मे मिला है जिनका उपदेश है—

सबै भूमि गोपाल की, या मे अटक कहा ?
जाके मन मे अटक है, सोई अटक रहा।

'गोपाल' शब्दका शाब्दिक अर्थ है ग्वाला। इसका अर्थ परमेश्वर भी है। आधुनिक भाषा मे इसका अर्थ है राज्य, अर्थात् जनता। आज भूमि जनता की नहीं है यह बात, खेद है कि, ठीक है। परन्तु भूल इस देश की नही है। भूल उनकी है जिन्होंने इस उपदेश का पालन नहीं किया है।"

जिस समाज मे मनुष्य रहता है और उसपर अपना प्रभाव डालता है उसके तथा उस मनुष्य के बीच का सम्बन्ध कौटुम्बिक सम्बन्ध है। "यह विश्वास करने का कोई कारण नही है कि कुटुम्बों के लिए तो एक न्याय है तथा राष्ट्रो के लिए दूसरा" अतः सार्वजनिक कर्म का एक अत्यन्त व्यावहारिक तथा महत्वपूर्ण नियम इस प्रकार बतलाया गया है—

"सार्वजनिक सत्याग्रह के प्रत्येक उदाहरण की परीक्षा उसी भाति के एक कौटुम्बिक प्रश्न की कल्पना के द्वारा होनी चाहिए।'

अर्थात् सार्वजनिक मामलो को निपटाते समय प्रत्येक व्यक्ति को समस्त

मानव-समाज को अपने कुटुम्ब के रूप में देखना चाहिए। तब एक आदर्श सद्गृहस्थ जो परम दया-धर्म का पालन करना चाहता है, चोरों, बदमाशों, हराम-खोरों इत्यादि के साथ कैसा वर्ताव करे? श्रेष्ठ आर्य जातियां डिक्टेटरों तथा घृणा करनेवालों का क्या करें? उत्तर यह है—क्रांति करो परन्तु "उसमें हिंसा का अंश न हो।" क्या कोई मनुष्य या जाति आततायी को अपने ऊपर आ जाने दे? इस उचित प्रश्न के उत्तर में गांधीजी ने समस्त मनुष्य-जाति की सेवा की है और कर रहे हैं।

उत्पन्न होने वाली परिस्थितियां इतने प्रकार की हो सकती हैं कि उनकी गिनती नहीं की जा सकती। कौटुम्बिक सम्बन्धों में भी अहिंसा का पालन करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। सत्याग्रह के व्यवहारविज्ञान के अनुसार किसी विशेष परिस्थिति को किस प्रकार संभाला जावे? जिन्होंने थोड़े समय के लिए भी इसका प्रयत्न किया है, वे इस बात की साक्षी दे सकते हैं कि यह कोई आसान बात नहीं है; परन्तु उस कौम का काम तो और भी अधिक पेचीदा है, जो अहिंसा अथवा सत्याग्रह के आधार पर जीने तथा पुष्ट होने का आयोजन करती है। दक्षिण अफ्रीका में जो परिस्थितियां उत्पन्न हुईं, और भारत में भी वे जिस प्रकार उत्पन्न होती रही हैं, उनका मुकाबला करने में गांधीजी बदी का प्रतिरोध नेकी से, घूंसे का मुकाबला शांतिपूर्ण हृदय से, करने की तरकीब निकाल रहे हैं। केवल जाने हुए सार्वजनिक मामलों में ही नहीं, बल्कि खानगी तथा व्यक्तिगत जीवन में भी, प्रति सप्ताह, वास्तविक कार्य-व्यवहार में, गांधीजी यह बतलाते रहे हैं कि सत्याग्रह के चक्र को किस प्रकार चलाया जावे। उनका प्रिय चर्खा इसी चक्र की एक स्थूल अभिव्यक्ति है।

हमारे इस आधुनिक युग की संस्कृति की सहानुभूति अहिंसा अथवा सत्याग्रह के साथ नहीं है, न हो सकती है। परन्तु आधुनिक सभ्यता की असफलता तो स्पष्ट दिखलाई दे रही है और विचारवान सुधारक इस बात को स्वीकार करते हैं कि यदि इस सभ्यता को डूबने से बचाना है तो इसके काम करने के कितने ही प्राचीन मार्गों को, जीवन के कितने ही ढंगों तथा तरीकों को, छोड़ देना पड़ेगा।

ऐसे लोग क्या करें?

सत्याग्रह-शास्त्र के सिद्धांतों का अध्ययन प्रारम्भ करदें और जब मस्तिष्क में इसका स्पष्ट चित्र बन जावे तब अपने को अनुशासन में लावें। बुराई

की तीन शक्तियां हैं—संसार में ही नहीं, बल्कि मूलतः व्यक्ति में। इसलिए 'काम' 'क्रोध', 'लोभ' ये संसार में फूलते-फलते है। संसार राष्ट्रों में बंटा है और राष्ट्रों द्वारा इन्हें पोषण मिलता है। प्रत्येक जाति में ये वर्ग-युद्ध तथा तबाही उत्पन्न कर देते हैं; परन्तु इनकी असली जड़ व्यक्ति में होती है। जब किसी मनुष्य के अन्दर ही ये शक्तियां क्रियाशील होकर उसकी शांति को नष्ट करदें, उसके मस्तिष्क में गड़बड़ उत्पन्न करदे, उसके हृदय को समस्त मानव-मण्डल के विरुद्ध नहीं तो उसके अधिकांश व्यक्तियों के विरुद्ध कठोर बना दें, तो वह मनुष्य संसार में शान्तिपूर्वक नहीं रह सकता।

वह प्रधान गुण, जो प्रत्येक सच्चे सत्याग्रहियों के आचरण का सिद्धांत है, साहस है। इस साहस का उपयोग केवल अपनी ही नीच प्रवृत्ति का मुकाबला करने में नहीं, बल्कि उन लुभावनी वस्तुओं के विरुद्ध भी करना चाहिए जो ऐसे संसार में उत्पन्न होती है, जहां 'काम' को गलती से प्रेम मान लिया जाता है, तथा लोभ जीवन की प्रतियोगिता का एक आवश्यक बल बनकर फूलता-फलता है; जहां वे ही सफल प्रतियोगी जीवित रहने के योग्य होते हैं जो अपने प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध क्रोध के बल का प्रयोग करते हैं—उसका वेष चाहे जितनी खूबी के साथ बदल दिया गया हो। हमको पग-पग पर आत्मा के उस साहस की आवश्यकता होती है जो हमारे तथा हमारी विश्वात्मा से अभिन्न अंतरात्मा के एकीकरण से उत्पन्न होती है।

सत्याग्रही का मार्ग कायर का मार्ग नहीं है। इस बात पर गांधीजी ने इतना जोर दिया है तथा इसने कितने ही यूरोपियनों को असमंजस में डाल दिया है, अतः इस सम्बन्ध में गांधीजी के ही शब्दों को उद्धृत करना श्रेयस्कर है—

'मैं यह पसन्द करूँगा कि भारतवर्ष अपने गौरव की रक्षा के लिए शस्त्रों का सहारा ले, बजाय इसके कि वह कायरता के साथ स्वयं अपने ही गौरव को असहाय की भांति मिट्टी में मिलता देखे।

"यदि हम कष्ट-सहिष्णुता के बल से अर्थात् अहिंसा से, अपनी-अपनी स्त्री-जाति की तथा अपने देवालयों की रक्षा नहीं कर सकते तो, यदि हम मनुष्य हैं तो, हममें कम-से-कम लड़कर इनकी रक्षा करने की योग्यता होनी चाहिए।"

कुछ दिन हुए, कुछ चीनी अतिथियों के प्रश्नों के उत्तर में गांधीजी ने बतलाया था कि बतौर एक राष्ट्र के अब चीन के लिए समय नहीं रहा कि अहिंसा का संगठन करे और जापान चीन में जो खराबी फैला रहा है उसका

मुकाबला करे। शान्ति की सेना एक दिन में तैयार नहीं की जा सकती है और उसके सिपाही जितनी शीघ्रता से बन्दूक चलाने के भद्दे कौशल को सीख सकते हैं उतनी शीघ्रता से बुराई का सामना करने की उदात्त कला को नहीं सीख सकते। चीन में केवल व्यक्ति अहिंसा का पालन कर सकते हैं और यदि स्वर्गीय साम्राज्य[1] के लोग पर्याप्त संख्या में सत्याग्रह के सच्चे स्वर्गीय विज्ञान को सीखना तथा पालन करना सीख लें तो समय आनेपर—और समय कभी भी आ सकता है—वे चीन की आत्मा को बचा सकेंगे। गांधीजी ने समझाया कि "किसी राष्ट्र की संस्कृति उसकी जनता के हृदयों तथा आत्मा में निवास करती है. . . । जापान तलवार के जोर से दवा न पीनेवालों के गले में जबरदस्ती दवा नहीं डाल सकता।"

उन्होंने अपने अतिथियों से कहा कि आप अपने देशवासियों से कहें. . . . "जापान के लोग हमारी आत्मा को भ्रष्ट नहीं कर सकते। यदि चीन की आत्मा को हानि पहुंची तो वह जापान के द्वारा नहीं पहुंचेगी।" यह सत्य सब राष्ट्रों पर लागू होता है, परन्तु ऐसे भी राष्ट्र हैं, जैसे इंग्लैंड, जो जल्दी से शान्ति की फौज खड़ी करके अपने घर का बन्दोबस्त कर सकते हैं, और इस प्रकार दूसरे लोगों को बचाने में सहायक हो सकते हैं। यदि इंग्लैण्ड का शस्त्रनिर्माण कार्यक्रम दूसरे लोंगो को नकल करने के लिए प्रेरित कर सकता है, तो सत्याग्रह के पालन में उसका संगठित प्रयत्न दूसरों को भी ऐसा ही करने की स्फूर्ति क्यों नहीं दे सकता? उसे उचित है कि वह "सीधे-सादे तथा दिव्य-जीवन से उत्पन्न होनेवाले शान्ति के मार्ग" पर चलने का संगठित आयोजन करे।

: ५३ :

हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए गांधीजी का अनशन

फॉस वेस्टकॉट

मुझसे श्री मोहनदास करमचन्द गांधी के जीवन और उनके कार्य के किसी पहलू की महत्ता पर संक्षेप में कुछ लिखने को कहा गया है। मैं समझता

---

[1] चीनवाले अपने देश को स्वर्गीय साम्राज्य कहते हैं—अनु०

हूं उसके उत्तर में मैं सितम्बर १९२४ में उन्हें जिन कारणों से इक्कीस दिन का उपवास करना पड़ा और उसके जो परिणाम हुए, उनका वर्णन करने से बढ़कर और कोई कार्य नहीं कर सकता।

उस वर्ष के ग्रीष्मकाल में हिन्दू-मुस्लिम तनाव भयावह स्थिति तक पहुंच चुका था। इसका आंशिक कारण था वह शुद्धि-आन्दोलन, जो स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली के आस-पास के नव-मुस्लिमों में आरम्भ किया था। महात्मा गांधी के लिए, जैसा कि उन्होंने कहा है, गत तीस वर्षों से हिन्दू-मुस्लिम एकता की चिंता का एक प्रमुख विषय रहा है, इसलिए यह साम्प्रदायिक संघर्ष उन्हें अत्यन्त क्लेश का कारण था। ज्यों-ज्यों एक के बाद दूसरा दंगा होता जाता था, उनका क्लेश बढ़ता जाता था। यहांतक कि अन्त में १७ दिसम्बर को उन्हें यह प्रेरणा हुई कि उन्हें २१ दिन का उपवास करना चाहिए। इस पर लिखते हुए उन्होंने कहा था—"मेरा प्रायश्चित्त अनिच्छापूर्वक किये गए अपराधों के लिए की गई एक दु:खित हृदय की प्रार्थना है।" इस तरह उन्होंने, जिन अपराधों के लिए हिन्दू दोषी थे, उनसे अपने को सम्बन्धित किया और उनकी जिम्मेदारी अपने पर ली। उन्होंने कहा—"एक-दूसरे के धर्म की निन्दा करना अन्धाधुन्ध अथवा गैर जिम्मेदाराना वक्तव्य देना, असत्य कहना, निर्दोष व्यक्तियों के सिर फोड़ना और मन्दिरों अथवा मसजिदों का अपवित्र किया जाना ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करना है।" जब उन्होंने अपने मित्रों पर अपना अनशन करने का विचार प्रकट किया तो उनका उपवास छुड़ाने की हर तरह कोशिश की गई, लेकिन चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो, वह अपने निश्चय के पथ से विचलित न होने का राम का, उदाहरण देकर अपनी बात पर अड़े रहे। १८ सितम्बर को उनका उपवास शुरू हुआ और उसी दिन हकीम अजमलखां, स्वामी श्रद्धानन्द और मौ० मोहम्मदअली ने सब प्रकार के राजनैतिक विचारों के प्रमुख हिन्दुओं, मुसलमानों और दूसरी जातियों, यूरोपियन और हिन्दुस्तानी दोनों, के नाम एक पत्र लिखा, जिसमें उन्हें बहुत जल्दी दिल्ली में होनेवाली शांति-परिषद् में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया था। करीब तीन सौ व्यक्तियों ने, जिनमें दोनों जातियों के अधिकांश नेता शामिल थे, निमन्त्रण स्वीकार किया; क्योंकि भारत के सब वर्गों के लोगों में गांधीजी के प्रति अगाध और स्नेहपूर्ण आदर-भाव था, राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप में गांधीजी का जो अमूल्य मूल्य था और उपवास से उनके जीवन के खतरे में पड़ने की आशंका थी ही,

अतः उसके कारण को दूर करने में जो भी प्रयत्न सम्भव हों, करने के लिए सब इकट्ठा हुए। गांधीजी ने खुद अपने मित्रों से कहा था, "मैंने यह उपवास मरने के लिए नहीं, बल्कि देश और ईश्वर की सेवा में उच्चतर और पवित्रतर जीवन व्यतीत करने के लिए किया है। इसलिए अगर मैं ऐसे संकटकाल के निकट पहुंचा (जिसकी कि एक मनुष्य की नाईं बोलते हुए मैं किसी प्रकार की कोई सम्भावना नहीं देखता) जबकि मृत्यु और भोजन दो में से किसी एकको चुनना होगा, तब निश्चय ही मैं उपवास भंग कर दूगा।" अन्त में २६ सितम्बर को संगम थियेटर में शान्ति-परिषद् का अधिवेशन आरम्भ हुआ। विस्तृत जन-समूह, मंच के सामने खुली जमीन पर बैठा था, मंच पर ईसा के सूलीपर लटकते हुए दृश्य का परिचायक एक धुंधला-सा पर्दा लटका हुआ था, और मंच के एक ओर गादी पर गांधीजी का मढ़ा हुआ एक बड़ा चित्र रक्खा था। स्वागताध्यक्ष मौ० मोहम्मद अली ने उपास्थत सज्जनों का स्वागत किया **और** संक्षेप में परिषद् का उद्देश्य बतलाया। इसका क्षेत्र सीमित था और वह था साम्प्रदायिक झगड़ों के धार्मिक कारणों पर विचार करना। यह तो ज्ञात ही था कि इन झगड़ों के राजनैतिक और आर्थिक कारण भी हैं; पर उनपर बाद को विचार किया जाने को था। पं० मोतीलाल नेहरू सर्वसम्मति से परिषद् के सभापति चुने गये। कुछ प्रारम्भिक भाषणों के बाद इस परिषद् का पहला काम था करीब ८० सदस्यों की एक 'विषय निर्वाचिनी समिति' नियुक्त करना, जो एक छोटी समिति के द्वारा बनाये गए मसविदों को प्रस्तावों के रूप में तैयार करने की मुख्य जिम्मदारी ले ले।

परिषद् की कार्रवाई शुरू होने से पहले गांधीजी ने एक सन्देश भेजकर इस बात पर जोर दिया था कि "जिस चीज की जरूरत है वह है हृदय की एकता। प्रत्येक व्यक्ति ने सत्य को जैसा देखा—समझा हो, उसे वही कहना चाहिए। यहांतक कि अगर इसमें दूसरों के उपासना-स्थानों को अपवित्र करना भी शामिल हो तो उन्हें वह भी वैसा ही कहना चाहिए। मैं उनकी इस ईमानदारी की कद्र करूँगा, हालांकि इससे मैं यह जान लूंगा कि उस हालत में अपने इस अभागे देश के लिए शान्ति नहीं है।"

सभापति की ओर से रक्खा गया वह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ जिसमें गांधीजी के धर्म में **"मनः पूतं समाचरेत"** के सिद्धान्त को स्वीकार और उपासना-स्थानों के अपवित्र किये जाने, सच्चे दिल से और ईमानदारी के साथ

अपना धर्म-परिवर्तन करने के कारण किसी भी व्यक्ति के सताये जाने और जबर्दस्ती धर्मान्तरित किये जाने की निन्दा की गई थी।

परिषद् के आरम्भ होने से पहले चारों तरफ से इस बात की तरफ हमारा ध्यान दिलाया जारहा था कि हिन्दू-मुस्लिम-एकता प्रस्ताव पास कर लेने से नहीं, बल्कि एक मात्र हृदय-परिवर्तन से ही हो सकती है। और शुरू के दिनों के वाद-विवाद पर दृष्टि डालने से, मुझे मालूम हुआ कि, धीरे-धीरे वही हृदय-परिवर्तन हो रहा है। पर जिस समय हमने विषय-निर्वाचिनी समिति में छोटी कमेटी द्वारा तैयार किये गए प्रस्तावों पर विचार करना शुरू किया, भावों की कटुता और तीव्रता एकदम स्पष्ट दिखाई देने लगी, जिसके साथ-ही-साथ गहरे सन्देह की भावना लगी हुई थी। सद्भावना प्रदर्शित करनेवालों को अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता था और उदारतापूर्वक बढ़ाये गये हाथ को बदले में अधिक लाभ उठाने की चाल समझा जाता था। लेकिन पांचवें दिन स्पिरिट में एक निश्चित परिवर्तन दिखाई दिया और जब मौलाना अबुल कलाम आजाद के अपना भाषण समाप्त कर चुकने के बाद, जिसकी कि उत्कृष्ट वाग्मिता और भावों की उदारता के कारण मुक्तकण्ठ से प्रशंसा हुई, एक प्रश्नकर्ता ने उनसे पूछा कि बदले में उन्हें क्या-क्या रिआयतें मिलने की आशा है, तो सभा में चारों तरफ से उनके प्रति तिरस्कारपूर्ण आवाजें उठने लगीं। यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि बदले की पुरानी भावना का स्थान सहिष्णुता की भावना लेती जा रही है और धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाजों के मतभेद उचित सम्मान के योग्य समझे जाने लगे हैं। बहस के शुरू में वक्ता मुख्यतः अपने अधिकारों पर जोर देते थे, लेकिन अब उनमें अपनी जिम्मेदारियों और अपने आवश्यक कर्तव्यों की भावना दिखाई देने लगी।

उपवास के ग्यारहवें दिन गांधीजी की हालत कुछ चिन्ताजनक होगई और बैठक के बीच ही मुझे श्री० सी० एफ० एण्डरूज का जरूरी पैगाम मिला कि मैं फौरन आ जाऊं। मैंने रास्ते में डॉ० अब्दुल रहमान को अपने साथ ले लेना मुनासिब समझा और उन्होंने उस शाम को और जांच करने के लिए कहा। इस बीच परिषद् काफी देर तक रुकी रही। तबतक गांधीजी ने श्री एण्डरूज को और मुझे उनकी शाम की प्रार्थना के समय हम ईसाइयों का प्रसिद्ध अंग्रेजी भजन, जो इधर अर्से से उनका प्रिय भजन था, गाने को कहा। वह है :—

लिये चलो ज्योतिर्मय, मुझको सघन तिमिर से लिये चलो !
रात अंधेरी, गेह दूर है, मुझे सहारा दिये चलो ! !
थामो ये मेरे डगमग पग,
दूर दृश्य चाहे न लगें दृग—
मुझे अलं है देव, एक डग !
कभी न मैंने निस्सहाय हो मांगा—'मुझको लिये चलो !'
निज पथ आप खोजता-लखता ! पर तुम अब तो लिये चलो !
लिये चलो, ज्योतिर्मय मुझको सघन तिमिर से लिये चलो !
प्यारा था मुझको जगमग दिन
हेय मुझे थे ये भय अनगिन
अहंकार से गया सभी छिन
मेरे पिछले जीवन को प्रिय, मन में रखकर अब न छलो !
लिये चलो, ज्योतिर्मय, मुझको सघन तिमिर से लिये चलो !
जबतक है तेरा बल सिर पर,
हूंगा मैं गतिशील निरन्तर,
बीहड़-दलदल, शैल-प्रलय पर,
तबतक, जबतक रात अंधेरी रम्य उषा में आ बदलो,
चिरप्रिय खोये देवदूत वे, मुसकाते फिर मुझे मिलो !
लिये चलो, ज्योतिर्मय मुझको सघन तिमिर से लिये चलो ! [१]

---

[१] मूल अंग्रेजी कविता इस प्रकार है:—

Lead, kindly Light, amid the encircling gloom
Lead Thou me on.
The night is dark and I am far from home,
Lead thou me on.
Keep thou my feet, I do not ask to see
The distant scene; one step enough for me
I was not ever thus, nor prayed that thou
Shouldst lead me on;
I loved to choose and see my path: but now

कमरे का मन्द प्रकाश, पलंग पर सहारे से अधलेटी वह दुर्बल-मूर्ति! एक विलक्षण मर्मस्पर्शी दृश्य था।

डाक्टर की रिपोर्ट मिलने पर खैर निश्चिन्तता हुई। कष्टदायक लक्षण निश्चित रूप से कम हो गये थे, और भय का कोई कारण नहीं रह गया था।

परिषद् के परिणामों का चारों तरफ हार्दिक समर्थन के साथ स्वागत हुआ, यद्यपि यह आम धारणा थी कि हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित होने का काम समय लेगा। ८ अक्तूबर को मनाये गए 'एकता-दिवस' पर कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' में जिन बहुत से प्रसिद्ध लेखकों के सन्देश प्रकाशित हुए थे, उनमें एक लेखक ने बड़ी अच्छी तरह इस बात को व्यक्त किया था। लिखा था—"जहां सुस्पष्ट और प्रबल राजनैतिक युक्तियां सर्वथा असफल हुई, वहां गांधीजी के उपवास से उत्पन्न धार्मिक भावनाएं सफल होगई। लेकिन लाखों आदमियों में सहिष्णुता से काम लेने की आदत डालने का कहीं अधिक कठिन कार्य अभी बाकी पड़ा है।" बाद की राजनैतिक घटनाओं के कारण, जिन्होंने राजनैतिक और आर्थिक तनातनी को और अधिक बढ़ा दिया है, यह कार्य सरल नहीं हो सका। अगर शान्ति का राज्य स्थापित करना है तो गांधीजी ने जिस, मानव-मात्र के हृदय में ईश्वर को प्रस्थापित करने के उद्देश्य से उपवास आरम्भ किया था, वह अवश्य पूरा किया जाना चाहिए; क्योंकि एकमात्र इसी तरीके से मनुष्य की परस्पर विरोधी इच्छाओं को ईश्वर की एक सर्वोपरि इच्छा के नियंत्रण में लाया जा सकता है।

Lead thou me on.

I loved the garish day, and spite of fears,
Pride ruled my will : remember not past years.
So long Thy power hath blest me, sure it still
Will lead me on,
O'er moor and fen, o'er crag ahd torrent till
The night is gone;
And with the morn those angel faces smile,
Which I have loved long since and lost awhile

: ५४ :

महात्मा गांधी और कर्मण्य शान्तिवाद

जैक सी० विसलो

महात्मा गांधी के चरित्र और शिक्षा से खुद मुझको जो प्रेरणा मिली है, उसके सम्बन्ध में मैं बहुत कुछ लिख सकता था। उनके साथ परिचय, मेरे जीवन का परम सौभाग्य है। लेकिन इस संक्षिप्त लेख में मैं सिर्फ एक विषय पर जोर देना चाहता हूं, और वह यह कि उन्होंने संसार को इस तरह का शांतिवाद बतलाया है, जो सचमुच युद्ध का स्थान ले सकता है।

वह शांतिवाद जो पश्चिम में अक्सर प्रकट हुआ है, सफलता-पूर्वक युद्ध प्रणाली का स्थान नहीं ले सकता। अवश्य ही युद्ध का निषेध करने में और अपने इस विश्वास में वह सही है कि युद्ध विजयी और विजित दोनों ही के लिए समानरूप से केवल और अधिक तबाही ही लाता है। उसका यह प्रतिपादन भी सही है कि अहिंसा का मार्ग उच्चतर मार्ग है। लेकिन पश्चिमी शांतिवाद में एक दोष यह है कि उसमें बुराई के मुकाबले में सुदृढ़ और सफल आक्रमण करने की शक्ति नहीं है। वह बड़ी आसानी से निष्क्रियता में डूब जाता है। जिन लोगों का खून अत्याचारों के खिलाफ गुस्से से उबल रहा है और जो हमलों को रोकने का कोई उपाय करने के लिए उतावले हो रहे हैं, वे शांतिवादी को ऐसी ज्यादती के सामने आत्म-तुष्ट और निकम्मा बना बैठा मानते हैं (और उनका ऐसा मानना सर्वथा अनुचित भी नहीं है)। उनकी दृष्टि में शांतिवादियों का तरीका ऐसे कामों का मुकाबला करने की आशा नहीं दिलाता जैसे इटली का अबिसीनिया पर आक्रमण अथवा जर्मनी में यहूदियों के खिलाफ अमल में लाये गए तरीके। यही कारण है कि अपने पीछे उच्च नैतिक बल होने का दावा करने पर भी वस्तुतः पश्चिमी शांतिवाद को सच्चे ईसाइयों तक का पूर्ण या व्यापक समर्थन प्राप्त नहीं है। शांतिवादी आमतौर पर यह धारणा बना लेता है कि बहुसंख्यक ईसाई उसके मार्ग का परित्याग इसलिए करते हैं कि वह जो नैतिक मांगें करता है, वे उनके लिए बहुत ऊंची हैं। जब कि वास्तव में बहुत से उसका परित्याग इस कारण करते हैं, कि उनकी नजरों में वे मांगें बहुत नीची दिखाई देती हैं। कई ईसाइयों की दृष्टि में शान्तिवादी

नैतिक अपराधों के प्रति ऐसी उदासीनता रखने के अपराध के अपराधी हैं, जो कि सत्यनिष्ठता और प्रेम के उच्चतम आदर्श से गिरी हुई है। मंगलमय ईश्वर अमंगल और अनीति के साथ कभी समझौता नहीं करता है और उन ईसाइयों की शान्तिवादियों से मांग है कि उनमें भी बुराई के प्रति ऐसे ही प्रबल विरोध के भाव की झलक मिलनी चाहिए।

इसी रूप में महात्मा गांधी की आक्रामक शान्तिवादिता पश्चिम के साधारण शांतिवाद से उच्चतर सिद्ध होती है। अवश्य ही गांधीजी के सत्याग्रह में शान्तिवादी का चाहा हुआ अहिंसा का सारा तत्त्व मौजूद है, और वह तत्त्व सर्वोच्च और सर्वाधिक सक्रियरूप में है। गांधीजी लिखते हैं "अंग्रेजी में 'अहिंसा' शब्द का वास्तविक अनुवाद 'प्रेम या उदार हृदयता' है।" "अपने सक्रिय रूप में अहिंसा का अर्थ है विशाल-से-विशाल प्रेम, बड़ी-से-बड़ी उदार हृदयता।" "मेरे लिए ईश्वर को जानने का एकमात्र उपाय है—अहिंसा, प्रेम।" विरोधी के प्रति केवल सब प्रकार की हिंसा से ही नहीं, बल्कि सब प्रकार की दुर्भावनाओं और कटु विचारों से भी दूर रहना तथा प्रेम और आत्मपीड़न के द्वारा उसे जीतने की लगातार कोशिश करना सत्याग्रह का सार है। इतने पर भी सत्याग्रह अपने में निर्भय आक्रामक गुण भी रखता है। वह गुण है बुराई के विरोध में अपने पास के आत्म-बल का अधिक-से-अधिक प्रयोग; और वह शक्ति जबतक उस बुराई पर विजय प्राप्त नहीं कर लेती, चैन नहीं लेगी, चाहे उसकी प्राप्ति के लिए जरूरत हो तो मौत भी मिले।

भारत पर अंग्रेजों के आधिपत्य को एक अभिशाप, और उसे अपने देश और खुद अंग्रेजों के लिए हानिकर मानकर गांधीजी ने अपने-आपको, अपनी आत्म-शक्ति को पूरे जोर के साथ अंग्रेजी राज्य के अन्त करने के लिए लगा दिया। विदेशी के प्रति घृणा न रखते हुए, उसके प्रति एकमात्र प्रेम और सद्भावना रखते हुए भी अपने इसी विश्वास के कारण वे विदेशी जुए को उखाड़ फेंकने के लिए डटकर खड़े हो गए। उन्होंने अपने देश-भाइयों को पश्चिमी आधिपत्य की नैतिक बुराइयों के मुकाबले में बिना विरोध किये निष्क्रिय होकर बैठ जाने की सलाह नहीं दी। वरन् इसके विपरीत उन्होंने अपनेको इस 'गुलाम-मनोवृत्ति' को तोड़ने में लगा दिया; जिसे वह नैतिक दृष्टि से बलात् विरोध से भी गिरा हुआ समझते थे, और अपने अहिंसात्मक असहयोग के द्वारा उन्होंने भारत को स्वतंत्रता-प्राप्ति का एक ऐसा उपाय बतलाया जिसमें एक ही साथ बदी को ललकार

थी और घृणा का लेश न था। इसमें विदेशी शासन पर हिंसात्मक युद्ध के जैसी निश्चित दृढ़ता के साथ प्रचण्ड आक्रमण की आवश्यकता होती है और इतने पर भी वह चाहता है कि इसमें भाग लेनेवालों में उच्चतम आत्मानुशासन स्वयं कष्टसहन और प्रेम का भाव हो।

यह ध्यान रखना चाहिए कि सत्याग्रह का यह तरीका ईसा के तरीके के बहुत-कुछ समान है। महात्मा गांधी ने ईसामसीह को 'सत्याग्रहियों का राजा' माना है। यह सच है कि ईसा ने अपने को रोमन आधिपत्य मिटाने के काम में कभी नहीं लगाया। उन्हें विदेशी आधिपत्य की बुराइयों के मुकाबले अपने ही लोगों और नेताओं के पाप एवं अपराधों का अधिक खयाल रहा। लेकिन इन पापों के खिलाफ उन्होंने कड़े-से-कड़ा विरोध प्रदर्शित किया, जिसके परिणाम में अन्त में उन्हें अपनी जान तक देनी पड़ी। इतने पर भी इन पापों के भागियों के प्रति उन्होंने जो प्रेम प्रदर्शित किया उसमें कभी भी हिचकिचाहट नहीं आई, बल्कि वह अधिक बढ़ा ही, और अंत में तो उन्होंने उनको और सब मनुष्यों के हृदय को जीतने और उनका उद्धार करने के लिए उनके हाथों प्रसन्नतापूर्वक चरम-सीमा तक कष्ट-सहन कर कठोरतम दण्ड सहा। मेरा विश्वास है कि यूरोप को और दुनिया को आज उन बुराइयों के मुकाबले में जिनसे मानव-समाज के लिए अकथनीय आपदाओं का खतरा है, निष्क्रिय नहीं, बल्कि आक्रामक शान्तिवाद की जरूरत है। वह है ईसा का यह सत्याग्रह, जिसे महात्मा गांधी ने उनसे 'पर्वत पर के उपदेश' और टॉल्स्टॉय से (साथ ही स्वयं अपने हिन्दू धर्मशास्त्र से) सीखा है।

यूरोप की आज की हालतों में इस सिद्धान्त का अमल में लाया जा सकना आसान नहीं है। उदाहरण के लिए, जर्मन और आस्ट्रियावासी यहूदियों के खिलाफ जिन दमनकारी उपायों को काम में लाया गया, उन्हें उन उपायों का अहिंसात्मक मुकाबला करने के लिए संगठित करना उनके नेताओं के लिए कुछ हलका या आसान काम नहीं होता। यह सर्वथा निश्चित था कि इसका मतलब होता उनमें से कुछ का बलिदान। लेकिन संसार में इस प्रकार के बलिदान का जो नैतिक और आध्यात्मिक असर होता उसका परिणाम अपार महत्त्व का होता जैसा कि अभी भी जेलों में पड़े जर्मन पादरियों के मूल बलिदान का हो रहा है। फिर भी, अगर सत्याग्रह के तात्कालीक प्रयोग का समझ में या व्यवहार में आ सकना आसान न हो, तो भी स्वयं उसका सिद्धांत तो निश्चय ही

सब सन्देहों से परे है और मेरे विचार में भावी संकट से अधिकाधिक सजग दुनिया के लिए वही अपने में एकमात्र कुंजी या चाबी रखता है, जो पागलखाने से मुक्त होकर विवेक और शान्ति के प्रकाश में आने के द्वार को खोल सकती है।

बहुत दिनों से मेरे दिमाग में यह विचार चक्कर काट रहा है कि क्या महात्मा गांधी के लिए, इस आयु में जब कि वह अपनी सब प्रवृत्तियां छोड़कर अपनी अन्तिम मुक्ति के लिए संन्यासी की-सी शांति की साधना के अधिकारी हैं, अपने समस्त जीवन के कार्य को सफल बनाने के लिए, अब भी, यहां पश्चिम में, यूरोप के सब राष्ट्रों के नेतृत्वहीन उन लाखों-करोड़ों लोगों का, जो बिना युद्ध और वैर के प्राप्त की गई न्याययुक्त और स्थायी सुलह और शांति चाहते हैं, नेतृत्व करके यह बताने का काम बाकी नहीं है कि हमें कौन-कौन-सा काम और क्या-क्या कष्ट सहन या बलिदान करना चाहिए जिससे कि उपर्युक्त शान्ति प्राप्त हो सके?

: ५५ :

गांधीजी का नेतृत्व

एच० जी० वुड

फूल-मालाएं गूंथना एक भारतीय कला है, और एक कोरा अंग्रेज अगर किसी महान् नेता की प्रशंसा में श्रद्धा की एक अञ्जलि समर्पित करने का प्रयत्न करे तो उसमें उसके असफल होने की सम्भावना रहती है। अगर वह किसी विशेष सावधानी और गम्भीरता के साथ लिखता है तो उसमें वास्तविक गुणग्राहकता का अभाव दिखाई देता है। अगर वह अपने को अंधाधुन्ध प्रशंसा के लिए खुला छोड़ देता है तो उसमें वास्तविक सचाई का अभाव प्रतीत होगा। फिर भी, मेरी भेंट कितनी ही तुच्छ और नगण्य क्यों न हो, गांधीजी के इकहत्तरवें जन्म-दिवस पर पहुंचने पर, मैं उन्हें बधाई देने के निमन्त्रण को अस्वीकार नहीं कर सकता। इससे कम-से-कम इतना तो होगा कि भारतीय जनता का उन्होंने जो नेतृत्व किया है और उसका मुझ पर जो प्रभाव पड़ा है, उसके सम्बन्ध में मुझे कुछ कहने का मौका मिल जाता है।

इतिहास में मनुष्य की महत्ता आमतौर पर उसके चरित्र और गुणकी अपेक्षा उसके प्रभाव के विस्तार और पायेदारी से नापी जाती है। यह एक माप है जिसे इतिहासकार भुला नहीं सकता और जिससे कि साधारण बुद्धि का समाधान हो जाता है। इस तरह के माप से नापे जाने पर—हिटलर, स्टालिन, मुसोलिनी आदि डिक्टेटर आज दुनिया के महापुरुष हैं। खासकर हिटलर कोलोसस[१] की तरह हमारी छोटी-सी दुनिया पर सवारी गांठे हुए है। आदमियों के मन और जीवन पर उसका ऐसा दबदबा है कि अगर भीषणता का खयाल न करें तो वह हास्यप्रद ही लग सकता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उस व्यक्ति में अवश्य महानता के कुछ तत्त्व हैं, जिसके कार्यों का इतने सारे लोगों के भाग्यों पर असर पड़ता है। फिर भी ईसाई के लिए इस तरह की महानता न तो परम साध्य है, न प्रशंसनीय। ईसा के समय में दुनिया भर में सिकन्दर महान् समझा जाता था। कुशल सेनानी और शाही शासक के रूप में उसके उल्का के समान चमकीले एवं द्रुत जीवन ने मनुष्य की कल्पनाओं को प्रभावित और उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को प्रज्वलित कर दिया था। जूलियस सीजर जब तैंतीस वर्ष की अवस्था में स्पेन में सरकारी खजाञ्ची था, इस खयाल से शोकाभिभूत होगया कि यद्यपि मैं उस उम्र तक पहुंच गया हूं जिसमें कि सिकन्दर मर गया था, फिर भी मैंने कोई महान् कार्य नहीं किया। ईसा के समय के राष्ट्रों में जिनकी गिनती महान् राष्ट्रों में की जाती थी, वे, वे राष्ट्र थे जिन्होंने विस्तृत भूभागों को हड़प लिया था और बहुसंख्यक लोगों पर शासन करते थे। किन्तु ईसा ने हमारे सामने दूसरे ही आदर्श रक्खे—जो बड़ा या उच्च होना चाहता हो वह सेवक बने। मनुष्यों के हृदय में से अभी प्राचीन मूर्ति-पूजा का उन्मूलन नहीं हुआ, लेकिन जिस तरह सिकन्दर ने यूनान और रोम की, दुनिया की, कल्पनाशक्ति को मोह लिया था, उस तरह नेपोलियन उन्नीसवीं सदी के यूरोप पर अपना जादू नहीं चला सका। ईसा ने विजेता की शान को धूमिल किया और सेवक के दर्जे को ऊंचा चढ़ा दिया। ईसा के सब अनुयाइयों की दृष्टि में महानता प्रभुताधारियों में नहीं, बल्कि उन लोगों में है जो अपने को दीन और दलितों की सेवा में लगा देते हैं। कोढ़ियों के बीच रहनेवाले पादरी डेमीन और अफ्रीका में सेवा के लिए अपना जीवन खपा देनेवाले डेविड लिविंग्स्टन

---

[१] रोडस द्वीपस्थ एपोलोदेव की विशाल मूर्ति।

जैसे व्यक्ति वास्तविक महानता की प्रतिमूर्ति समझे जाते हैं। अपने समकालीन व्यक्तियों में लेवरडोर के श्री डबल्यू० टी० ग्रीनफेल में, जापान के टी० कागावा में और पश्चिमी अफ्रीका के प्राचीन जंगलों में बसे अलबर्ट स्विट्जर में सच्ची और स्थायी महानता दिखाई देगी।

गांधीजी की यह विशेषता है कि दोनों ही सूचियों में उनका स्थान है। जो लोग राजनैतिक दृष्टि से महान् हैं, उनकी सूची में भी और जो आध्यात्मिक दृष्टि से महान् हैं, उनकी सूची में भी दोनों में उनका एक-सा स्थान है। प्रायः दोनों तरह की महान्ताएं एक साथ किसी व्यक्ति में नहीं आतीं और वास्तव में एक-दूसरे के साथ शायद आसानी से मेल भी नहीं खातीं। गांधीजी ने सार्वजनिक विषयों पर और भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों पर ऐसा प्रभाव डाला है कि जिसके कारण वर्तमान युग के रजनैतिक इतिहास में उनका एक अनुपम स्थान बन गया है; यह बात भारतीय जनता के लिए बड़े श्रेय की है। उसने एक सच्चे नेता को पहचाना और उसका अनुगमन किया है। गांधीजी के नेतृत्व ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को वर्तमान युग के भयावह राष्ट्रवाद की सतह से ऊँचा उठा दिया है। यह राजनैतिक अनीतिवाद की, जो पश्चिमी सभ्यता को खा जाने को तुली है, अत्यावश्यक और प्रेरणाप्रद प्रतिक्रिया का एक अंग है।

हिटलर और मुसोलिनी 'निरंकुश राष्ट्रवादी' अहंभाव तथा नग्न और निर्लज्ज पाशविक राजनैतिक सत्ता के पोषक हैं। जिसे वे स्वजाति के हित में समझते हैं, उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में उन्हें किसी बात की हिचकिचाहट नहीं होती और उसके लिए वे किसी तरह के नैतिक नियमों का बंधन स्वीकार नहीं करते। प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन का झुकाव इस चरमसीमा तक पहुंच जाने की ओर होता है और अधिकांश राष्ट्रों के स्वतन्त्रता-प्राप्ति के आन्दोलनों पर संगठित भीषण अत्याचारों और राजनैतिक हत्या के अपराधों की छाप लगी हुई है। आयरलैंण्ड की स्वतन्त्रता के उद्देश्य में आयरिश बन्दूकधारियों की हलचलों से बड़ी क्षति पहुंची, और आतंकवादी, प्रत्येक कार्य को, जिसे वे सहायता पहुंचाना चाहते हैं, नीचे गिरा देते हैं। इतने पर भी जिस समय राष्ट्रीय भावनाएं उभार पर होती हैं, यह याद रखना आसान नहीं रहता कि कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें कि एक व्यक्ति को अपने देश के हित में नहीं करनी चाहिए। और जब नेता ही भूल जाते हैं तब सैनिकों और अनुचरों से कठोर नियमों के पालन की आशा नहीं की जा सकती। भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन भी

अत्याचारों और ज्यादतियों से रहित नहीं रहा है, लेकिन कम-से-कम उनके पास एक ऐसा नेता है, जिसने अपनी आवाज इन चीजों के खिलाफ उठाई है। इस समय जर्मन और इटालियन जनता का नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथ में है, जिनका कोई भी तटस्थ दर्शक आदर नहीं कर सकता, और न जिनके शब्दों पर कोई व्यक्ति भरोसा ही कर सकता है। भारत की राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व अब भी एक ऐसे व्यक्ति के हाथों में है, जिसके उद्देश्यों की कदर की जाती है और जिसकी सचाई पर वे लोग भी सन्देह नहीं करते, जिनके लिए कभी-कभी उनके विचारों की दिशा को समझ सकना कठिन हो जाता है, या जो उनके वास्तविक निर्णयों को गलत समझते हैं। परिणाम यह हुआ कि भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन ने उन लोगों तक से बहुत हद तक सम्मान प्राप्त किया है, जो उसे नापसन्द करते हैं और उसका विरोध करते हैं।

अहिंसात्मक असहयोग की विधि अहिंसा के सिद्धान्त के आधार पर है, जो कि भारत की धार्मिक और नैतिक परम्पराओं में बहुत अधिक व्यापक है। इस प्रकार इस उपाय को अमल में लाने की गांधीजी की कोशिशों से भारत की भावना विशेषतः प्रतिबिम्बत हुई है। भारतीय विचार और जीवन में अहिंसा के जिस पूर्ण या निरपेक्ष रूप की कल्पना की गई है, पश्चिम ने उसे ज्यों-का-त्यों कभी भी स्वीकार नहीं किया है। इसकी सम्भावना नहीं है कि उसे कभी निरपेक्ष रूप में माना जायगा, क्योंकि वह आमतौर पर व्यक्तित्व के मूल्य की अपेक्षा सामान्य जीवन के मूल्य को ऊंचा चढ़ाती प्रतीत होती है। लेकिन राजनीति में अहिंसा के प्रयोग के सिद्धान्त ने पश्चिम के बहुत-से लोगों में एक नई अन्तर्दृष्टि और भारत के हृदय के बारे में एक नई उच्च धारणा पैदा की है।

लेकिन गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग में किये गये इन प्रयोगों में एक महान् भारतीय परम्परा की महत्ता के प्रकाश में आने के सिवा कुछ और भी चीज मौजूद है। उन्होंने अन्याय के विरोध और न्याय की प्राप्ति के लिए नया ही तरीका बतलाया है। वास्तव में हमें अहिंसा के बारे में अतिरंजित दावा नहीं करना चाहिए। कल्पना यह है कि जो लोग इस उपाय को ग्रहण करते हैं वे स्वयं कष्ट झेलना और दूसरे को कष्ट पहुंचाने से बचाना स्वीकार करते हैं। व्यवहार में दूसरी शर्त को पूरा करना बड़ा कठिन है। अहिंसात्मक असहयोग का सबसे अधिक प्रकट रूप है आर्थिक बहिष्कार, और इसमें हमेशा किसी-न-किसी हदतक दूसरे को कष्ट पहुंचाना शामिल रहता है। और न इसी आधार पर हम अहिंसा को तरजीह दे

सकते हैं कि उनके हिंसा की बनिस्बत ज्यादा कारगर होने की संभावना है। ऐसी दुनिया में, जहां कि कुछ आदमियों ने परपीड़न को धर्म और पाशविकता को एक प्रथा बना लिया है, अहिंसात्मक असहयोग का, कम-से-कम तात्कालिक परिणाम तो प्रत्यक्षत: निरर्थक बलिदान होगा। लेकिन सब कुछ कहे जाने के बाद, अहिंसात्मक असहयोग के तरीके युद्ध की सामूहिक विषमताओं और बुराइयों की अपेक्षा अपरिमित रूप से स्वच्छतर और उच्चतर हैं। और हमारी दुनिया को गांधीजी की यही चुनौती है,—'क्या बुराइयों का मुकाबला करने और अन्यायों को ठीक करने के लिए पाशविक शक्ति के प्रयोग और युद्ध के वर्तमान भयंकर शस्त्रों के सिवा और कोई मार्ग नहीं हैं? और अगर कोई है तो क्या वे लोग जो मानवता की रक्षा के लिए चिंतित हैं, उसकी तलाश करने और उसपर चलने के लिए बाध्य नहीं हैं? सब के ऊपर क्या उन लोगों को जो ईसा के आत्म-बलिदान में विश्वास रखते हैं, अपने को उससे बंधा हुआ नहीं समझना चाहिए? गांधीजी का नेतृत्व युद्ध के भय और उसके लिए होनेवाली तैयारियों से परेशान दुनिया के लिए एक चुनौती और आशा की एक किरण के समान सामने आता है।

अगर गांधीजी डिक्टेटरों जैसे राष्ट्रीय नेताओं की अपेक्षा अधिक ऊंची सतह पर माने जाते हैं, तो इसका एकमात्र कारण यह है कि उन्होंने राजनैतिक आन्दोलन के क्षेत्र में नैतिक सिद्धान्तों को अपनाया है; बल्कि उनकी दरिद्र और पीड़ितों के उन सेवकों में गिनती किया जाना भी है, जो ईसा के माप से नापे जाने पर महान् ठहरते हैं। कुछ भी हो, गांधीजी की स्वराज्य की मांग भारत की पतनकारी दरिद्रता के साथ जबर्दस्त मुकाबले की आशा से प्रेरित रही हैं। उनकी ब्रिटिशराज्य की मुख्य आलोचना इस आधार पर नहीं हैं कि वह ब्रिटिश या विदेशी राज्य है, जितनी इस आधार पर कि उसने गरीबों की अवहेलना की है। जिन बातों की उन्हें निश्चित चिन्ता रहती है, वह हैं दरिद्रों की, मनुष्यता को ऊंचा उठाना, गांव के संघ-जीवन का पुनरुद्धार और बहिष्कृतों की समाज के अंग के रूप में पुन: प्रतिष्ठा। इन सबमें गांधीजी कागावा और स्वीट्जर के समकक्ष हैं, और वह खुद इस बात को स्वीकार करेंगे कि कम-से-कम कुछ हद तक उनकी प्रेरणा का स्रोत वही है, जो कि इनका है। यहां उनका जीवन और कार्य स्पष्टत: ईसा की, जो कि अपराधियों और पापियों का मित्र कहा जाता है, भावना से मिलता हुआ है। शोषित और पीड़ित वर्ग के प्रति उनकी आत्मोत्सर्गमयी सेवा—निष्ठा में प्रकट होनेवाली उनकी इस वास्तविक महत्ता पर ही उनकी चिरस्थायी कीर्ति कायम रहेगी।

अहिंसा (प्राणों को आघात न पहुंचाना) और सत्याग्रह (आत्मिक बल पर निर्भर रहना) उच्च सिद्धान्त हैं और राजनैतिक व्यवहार के लिए एक नये रूप में उन्होंने कुछ शानदार कोशिशों की प्रेरणा की है। लेकिन दोनों में से कोई भी सिद्धान्त तब तक अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति और पूर्ण चरितार्थता को नहीं पहुंचता जब तक कि वह पाप के प्रति क्षमाशीलता में लीन नहीं हो जाता। अपने दोषों को स्वीकार करने की तत्परता और अपने प्रति किये गये अपराधों को क्षमा करने की सदिच्छा के वास्तविक आधार पर ही राजनीति, स्थिर राष्ट्रीय जीवन और विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की नींव खड़ी की जानी चाहिए। गांधीजी का सत्याग्रह क्षमादान की इस व्यवस्था के बिलकुल निकट आता है। लेकिन फिर भी वह उसमें पूर्णरूपेण मूर्तिमान नहीं हैं। किसी सुनिश्चित योजना की अपेक्षा दैवयोग के कारण प्रायः दो शताब्दियों से भारत और ग्रेट-ब्रिटेन का भाग्य आश्चर्यजनक रूप से एक-दूसरे के साथ गुथा हुआ है। ब्रिटिश कारनामों में ऐसी बहुत बातें हैं, जिन्हें क्षमा कर देने की जरूरत हैं। साम्राज्यवादिता के कारण भारतीय और ब्रिटिश जनता के सम्बन्ध विषाक्त हो गये हैं और कदाचित् पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद ही उस विष को दूर कर सकता है। और स्पष्ट ही वह समय आ गया है जबकि भारत को अपनी पसन्द के नेताओं की अधीनता में अपने भाग्य का निर्णय कर लेना चाहिए। अवश्य ही अगर हमें जुदा होना हो, तो क्या हम क्षमा और सहिष्णुता की भावना के साथ जुदा नहीं हो सकते? और अगर हम भारतीय और ब्रिटिश दोनों ही सच्चाई के साथ और व्यवहारतः अपराधों की क्षमा के सिद्धान्त में विश्वास रखते हों, तो क्या हमें जुदा होने की कोई आवश्यकता भी है? राष्ट्रीय अहंभाव से पीड़ित और थकित दुनिया को कितना प्रोत्साहन मिले, अगर ब्रिटिश साम्राज्यवाद और अहिंसात्मक असहयोग दोनों ही लुप्त हो सकें और भारत और ब्रिटेन के बीच, पूर्व और पश्चिम के बीच, हार्दिक साझेदारी उनका स्थान ले सके। गांधीजी की इकहत्तरवीं जन्मतिथि मनाने अथवा अपने देशवासियों और मानव-समाज के प्रति की गई उनकी सेवा के लिए ईश्वर का गुण मानने के लिए मेरी कल्पना में इससे बढ़कर और कोई मार्ग नहीं हो सकता कि उक्त दोनों ही देशों की जनता के हृदयों में क्षमादान की वह भावना उत्पन्न होने की कल्पना करूं, जो सम्भव है सच्ची सुलह और सुस्थायी मैत्री के रूप में फलीभूत हो।

: ५६ :

गांधीजी—सैंतालीस वर्ष बाद

फ्रांसिस यंगहस्बैण्ड

महात्मा गांधी अब संसार भर में प्रसिद्ध हो चुके हैं। उनकी यह प्रसिद्धि इसलिए नहीं है कि उन्होंने भय और आशंकाओं का ऐसा वातावरण पैदा किया जो राष्ट्रों को शस्त्रास्त्रों की होड़ में सबसे आगे रहने के भीषण संघर्ष की ओर धकेलता है, बल्कि इसलिए हुई है कि उन्होंने स्वयं अपने देशवासियों में साहस उत्पन्न कर उन्हें नैतिकता के पथ पर अग्रसर किया। लेकिन पहलेपहल जब मुझे उनका परिचय हुआ, वह एक सर्वथा मामूली शिष्ट और अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त नवयुवक थे। यूरोप आनेवाले हजारों दूसरे भारतीयों और उनमें एक रत्ती भी अन्तर नहीं मालूम होता था। उनकी आयु तीस वर्ष के भीतर थी, और दूसरे लोगों की तरह अंग्रेजी पोशाक पहने हुए थे। उनमें कोई खास बात दिखाई नहीं देती थी।

पर उस समय भी वह अपने में वह साहस, अपने उद्देश्य पर कठोरता से डटे रहने की दृढ़ता और सबसे अधिक पीड़ितों के प्रति वह अद्भुत अनुकम्पा दिखाने लग गए थे, जो हमारे दक्षिण अफ्रीका में डरबन में पहली बार मिलने के बाद से इन सैंतालीस वर्षों में और अधिक वृद्धिगत और घनीभूत ही हुई है। भारतीयों के नेटाल के प्रवास का प्रश्न उस समय का गर्म सवाल था। नेटाल अपने को एक समृद्ध उपनिवेश बना रहा था। वह भारतीयों की एक थोड़ी-सी संख्या को आने देने के लिए तैयार था, अपरिमित संख्या को नहीं। दक्षिण अफ्रीकावासियों ने उसे बसाया था और वे उसपर प्रधानतः अपना ही प्रभुत्व रखना चाहते थे। इसलिए जब भारतवासियों ने इस तेजी से आना शुरू किया कि जल्दी ही वहाँ उनकी संख्या अत्यधिक बढ़ जाती, तो नेटालवासियों ने उन पर रोक लगाने का निश्चय किया। यह मामला ठीक-ठाक हो सकता था लेकिन भारतीयों को उस दुर्व्यवहार से, जो उनके साथ किया गया, गहरा असन्तोष हुआ। अमीर और गरीब, शिक्षित और अशिक्षित, सबको एक समान 'कुली' की श्रेणी में रक्खा गया। गांधी जी एक 'कुली' थे, मालदार व्यापारी 'कुली' थे। जिस तरह चीन में सब यूरोपियन् 'विदेशी शैतान' कहे जाते थे, यहीं सब भारतीय 'कुली' थे।

यद्यपि गांधीजी उस समय नवयुवक ही थे, फिर भी भारतीयों के अधिकारों

की हिमायत करने से वह भारतीय जनता के नेता बन गये थे। वह डरबन की एक अच्छी सुसज्जित अंग्रेजी कोठी में रहते थे, और एक भोज के समय जब कि उन्होंने मुझे 'टाइम्स' के संवाददाता के रूप में निमन्त्रित किया था, मैंने उन्हें "एक ख़ास तौर पर बुद्धिमान और सुशिक्षित व्यक्ति" पाया। लेकिन बाद में उन्होंने जो कुछ किया, उसके लिए महज बुद्धिमत्ता और शिक्षा के अलावा और भी बहुत कुछ चाहिए था। दक्षिण अफ्रीका में फैला हुआ जाति-विद्वेष उस समय भीषण रूप धारण किये हुए था। बोअर और अंग्रेजों के बीच, दक्षिण अफ़्रीकावासियों और नीग्रो जातियों के बीच, और अंग्रेज और भारतीयों के बीच विरोध फैला हुआ था। एक नौजवान भारतीय वकील का उसके साथ मुकाबले के लिए खड़ा होना एक ऐसे साहस और चरित्रबल का परिचायक था, जो कितनी ही बौद्धिक शिक्षा के मुकाबले में कहीं अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ।

अपने लाभकारी पेशे का बलिदान करने और भारतीय हितों की हिमायत में जेल जाने और बदनामी सहने की अपनी तैयारी के कारण वह अपने भारतीय बन्धुओं की प्रशंसा के और अन्त में उनकी श्रद्धा के भाजन बन गये।

लेकिन उनका सबसे बड़ा काम तो उनके अपने ही देश में होने को था। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने भारतीयों के लिए जो कुछ भी किया, उससे यह जाहिर हो गया था कि वह एक नेता और अगुआ हैं। जब वह दक्षिण अफ्रीका छोड़कर हिन्दुस्तान में लौटे, तो वहां उन्होंने अपने काम के लिए और भी अधिक विस्तृत क्षेत्र पाया। उनका देश एक विदेशी जाति द्वारा शासित था। वह चाहते थे कि हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी ही शासन करें। हिन्दुस्तानी स्वयं हिन्दू और मुसलमान दो बड़ी जातियों में बंटे हुए थे। वह उनको एक ही भारतीय सूत्र में बांध देना चाहते थे। उनकी अपनी हिन्दू जाति में ही अस्पृश्य जातियों की दुर्दशा, स्त्री-समाज की स्थिति, गांवों की दरिद्रता आदि अनेक प्रकार की बड़ी सामाजिक बुराइयां थीं। वह इन सबको सुधारना चाहते थे पर सुधारना चाहते थे अन्दर से।

उन्होंने स्वयं सरकार को चुनौती देने का साहस किया और उसके कानून तोड़ने के अपराध में जेल भुगती, मरणासन्न स्थिति पर पहुंच जाने तक उपवास किया। सारे देश का दौरा किया। उन्होंने जन-साधारण का-सा जीवन व्यतीत किया और अछूतों के बीच में और बिल्कुल उनके-से बनकर रहे। आत्म-बलिदानपूर्ण उनके जीवन ने अबतक अपने देशवासियों पर विजयी प्रभाव छोड़ा है। उनके व्यक्तित्व, उनकी देशभक्ति, उनकी भावना का असर सब जगह देखने में आता है। भारतीय

एक महात्मा के रूप में उनकी पूजा करते हैं। बल-प्रयोग की अपेक्षा नैतिक प्रबोधन का उनका सिद्धान्त विजयी सिद्ध हो रहा है। उन्होंने अपने देश को आदरास्पद बना दिया है।

हम अंग्रेज सदा यह आशा रक्खेंगे कि भारत साम्राज्य के अन्दर बना रहे। लेकिन कम-से-कम मैं यह आशा करता हूं कि यह उसकी अपनी इच्छा से ही हो। उसने अपने लिए जो सम्मान प्राप्त कर लिया है, उसी सम्मान के साथ उससे व्यवहार किया जाय।

: ५७ :

देशभक्ति और लोकभावना

एल्फ्रेड जिमेर्न

भारत पर यूरोप के राजनैतिक विचारों का बहुत असर पड़ा है। फिर भी अफ्रीका के सम्भावित अपवाद के सिवा, यूरोप—१९३९ का यूरोप—राजनैतिक दृष्टि से क्या बाकी पांचों महाद्वीपों में सबसे पिछड़ा हुआ नहीं है? राजनीति खुशहाली की दोनों कसौटियों, दोनों स्पष्ट राजनैतिक गुणों—न्याय और स्वातंत्र्य—का क्या आज अधिकांश यूरोप में पददलन नहीं हो रहा है? यूरोप के अधिकांश, बड़े और छोटे दोनों राज्य, उन्हें जिस तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, क्या वह अंशतः पर जरूर बड़े अंश में, यूरोप के राजनैतिक विचारकों के सिद्धान्तों और शिक्षा का प्रतिबिम्ब ही नहीं है? क्या यह सब यह सूचित नहीं करता कि भारत को उन राजनैतिक विचारों पर सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए जोकि यूरोपीय प्रायद्वीप से बहने वाली पश्चिमी हवा के साथ बहकर इस देश में आते हैं?

एक या दो वर्ष पहले प्रेसिडेण्ट रूजवेल्ट ने कहा था—"नव्वे फीसदी मानव-समाज शान्ति चाहता है।" सम्भवतः यह संख्या असलियत से कम है। तब, प्रश्न उठता है कि संसार में यह अशांति क्यों है? शांतिप्रिय नव्वे फीसदी लोग, जिनका की उपद्रवकारी लोगों की तरह उनकी उपद्रवकारी योजनाओं से कोई निकट या हार्दिक सहयोग होने की सम्भावना नहीं है, उपद्रवकारी दस फीसदी लोगों पर अपनी इच्छा क्यों नहीं लागू करते?

उत्तर है, **'गलत विचार सरणी।'** अवश्य ही नव्वे फीसदी में बहुत-सी बुराइयां हैं। उनमें से कुछ आलसी हैं, दूसरे कायर हैं और अधिकांश स्वार्थी हैं। लेकिन, अगर इन सब के पीछे एक तरह का 'बौद्धिक' गोलमाल न होता तो इन बुराइयों का, जिनमें कि कुछ तो खुद अपने-आप मिट जातीं, इतना अनर्थकारी परिणाम न होता जितना कि हम देख रहे हैं। यह बौद्धिक गोलमाल ही है, जो तथाकथित शांति-प्रेमियों में एकता स्थापित करने के प्रयत्नों को निकम्मा कर देता है। यही मुट्ठी-भर उपद्रवकारियों को नेतृत्व पर बलपूर्वक अधिकार करने और उसे अपने कब्जे में रखने का मौका देता है और नव्वे फीसदी के लिए दीन-हीन स्थिति में बने रहने का कारण बनता है।

अगर हम वर्तमान राजनैतिक समस्या को घटाकर एक अकेले शहर—मान लीजिये लन्दन या दिल्ली—की परिधि में सीमित कर दें, तो हम यह आसानी से देख सकेंगे कि इस तरह के आदमी के साथ, जोकि यूरोप को एक मुसीबत में फंसाये हुए है, व्यवहार करने का सही तरीका क्या है। सब नागरिक ऐसे व्यक्ति को अव्वल नम्बर का सार्वजनिक शत्रु मानेंगे और उनमें बहुतेरे हट्टे-कट्टे लोग अपने-आपको सार्वजनिक शान्ति के लिए जिम्मेदार अधिकारियों को अपनी स्वयं सेवाएं देने को तैयार हो जांयगे। उपद्रव-प्रिय दस फीसदी लोगों के बुरे इरादों को समाज के बचे हुए लोगों की सार्वजनिक भावना विफल कर देगी।

वही पद्धति यूरोपीय महाद्वीप के विस्तृत क्षेत्र पर कारगर क्यों नहीं होती? क्यों हम छोटे राज्यों को भयत्रस्त स्थिति में रहते और कुछ को बेरहमी के साथ मानचित्र पर से मिट जाते हुए देखते हैं?

उत्तर है, क्योंकि आज की दुनिया में और खासकर यूरोप में पर्याप्त **लोकभावना** नहीं है।

लेकिन क्या यूरोप-निवासी, प्रायः बिना किसी अपवाद के, अत्यन्त देशभक्त नहीं हैं? क्या वे एक साथ अपने-अपने देश के लिए मर-मिटने को तैयार नहीं हैं? क्या एक पीढ़ी पहले उन्होंने बहुत भारी संख्या में ऐसा नहीं किया था।

अवश्य किया था लेकिन लोक-भावना और देशभक्ति-भावना एक ही तरह की वस्तु नहीं हैं। लन्दन या दिल्ली में होनेवाली डकैती को वहां की जनता अपनी सार्वजनिक भावना से रोक देती है। क्या ऐसी सार्वजनिक भावना सारी

दुनिया में या यूरोप में मौजूद है? इसे ही अगर दूसरे शब्दों में रक्खा जाय, तो, क्या वास्तव में कोई विश्व-समाज या यूरोपीय-समाज है?

एकबारगी इस रूप में प्रश्न किये जाने पर यह स्पष्ट है कि उसका उत्तर नकारात्मक होगा। डाकू अपनी डकैतियां इसीलिए जारी रख पाते हैं कि हर गृहस्थ एक-एक कर देश-भावी तो है,—अपने निज के घर, परिवार और सम्पत्ति की रक्षा के लिए मर-मिटने के लिए तैयार है,—लेकिन नगर में सामूहिक रूप में लोक-भावना का अभाव है। इस प्रकार लुटेरे आराम के साथ तबतक एक घर से दूसरे घर पर धावा बोलते रहते हैं जबतक लूट के माल से उनका जी नहीं भर जाता। तब उन्हें भी यह मालूम होने लगता है कि उनकी तात्कालिक योजनाओं की सफलता के बावजूद, उनकी व्यापक-योजना में कुछ-न-कुछ गलती है; क्योंकि बीसवीं सदी की दुनिया में शासक लोग लूट के माल पर अपना गुजारा नहीं कर सकते। समाज-विरोधी उपायों से वे अनिश्चित समय तक शासन नहीं कर सकते। विश्वास, साख और परस्पर-निर्भरता के तत्त्वों की वे अवहेलना नहीं कर सकते।

लेकिन हमें डाकुओं की गलत राजनैतिक विचार-सरणी के सम्बन्ध में परेशान होने की जरूरत नहीं है। घटनाचक्र के निष्ठुर-प्रवाह से वह जल्दी ही काफी स्पष्ट हो जायगी। हमें तो उन्हीं लोगों की राजनैतिक विचार-सरणी से मतलब है जो उनके शिकार होते हैं।

अलग-अलग गृहस्थ आपस में मिलकर नागरिकों की तरह विचार और कार्य क्यों नहीं कर सकते, इसके दो कारण हैं। एक प्रथा से उत्पन्न हुआ है और दूसरा सजग विचार से। बेलजियमवासी यह सोचने के आदी नहीं हैं कि वे ऐसे ही शहर में रह रहे हैं जैसे कि हालैण्डवासी। हालैण्ड और बेलजियम दो स्वतंत्र देश हैं। प्रत्येक हालैण्डवासी हालैण्ड का और बेलजियमवासी बेलजियम का होकर सोचने का आदी है।

इस मामले में प्रथा बहुत अधिक अरसे से नहीं चली आ रही है, क्योंकि बेलजियम का राज्य मुश्किल से एक सदी पुराना है। लेकिन स्वतः यह बात कि उन्नीसवीं सदी में, यानी ठीक उस समय जबकि औद्योगिक-क्रान्ति परस्पर-निर्भरता की एक विश्व-व्यापी प्रथा स्थापित करती हुई जान पड़ती थी, उस राज्य की स्थापना हुई। इस बात का प्रमाण है छोटी-छोटी इकाइयों से चिपटे रहने यानी अपने-अपने घरों में रहने की इच्छा की प्रबलता।

मैंने 'इच्छा' शब्द का प्रयोग किया है। इसके बजाय मैं 'सहज-प्रवृत्ति' शब्द का प्रयोग कर सकता था। अवश्य ही मनुष्य-स्वभाव में—मानव-समुदाय में कुछ अपवादों को छोड़कर सबके स्वभाव में—एक वृत्ति गहराई से जड़ पकड़े हुए होती है, जो एक तरह के लोगों को छोटे-छोटे समाजों के रूप में एकत्र करती और पराये या, जैसाकि हम कहते हैं, 'विदेशी' के विरुद्ध रुकावट खड़ी करती है। बड़ी दुनिया में लोक-भावना की उत्पत्ति में यही बड़ी मानसिक अड़चन है। सन्तति-क्रम से खून में ही चलते आने के कारण वह अड़चन आनुवंशिक भी है। अगर इकाई काफी छोटी हो तो मनोविकास की दृष्टि से देश भावी-होना आसान है। देश-भावना सुगम है। लोक-भावना कठिन है। विश्व-बन्धुत्व एक दुष्कर भावना है।

यह तो हुआ प्रथा की कठिनाई के सम्बन्ध में। अब दूसरी को लें। अधिक व्यापक सार्वजनिक भावना के मार्ग की दूसरी रुकावट शुद्ध बौद्धिक है।

इस क्षेत्र की कठिनाई का सार यह है कि वर्तमान यूरोप के राजनैतिक सिद्धांत—वे सिद्धांत जिनमें कि यूरोप के राजनीतिज्ञ और नागरिक पले हैं—पुराने पड़ गय हैं। वे इस युग की स्थिति के अनुकूल नहीं हैं। कोई भी राजनैतिक सिद्धांत पूर्ण या पवित्र नहीं कहा जा सकता। राजनैतिक सिद्धान्त की सव रचनाओं का आधार इसके सिवा और कुछ नहीं है कि उसके दो महान् आधारभूत तत्त्व, न्याय और स्वाधीनता, किस स्थिति में किस प्रकार प्रयुक्त होते हैं। वर्तमान यूरोप का यह दुर्भाग्य है कि उसकी जनता के मस्तिष्क और हृदय पर आज जिन धारणाओ का साम्राज्य है वे वास्तविक स्थिति के अनुपयुक्त हैं। वे उस जमाने के बने हुए हैं जब प्रत्येक व्यक्तिगत राजनैतिक इकाई अपने ही में मस्त और निश्चय ही, एक काफी हद तक, आर्थिक दृष्टि से स्वयं तुष्ट रहने में समर्थ हो सकती थी। "Sovereignty" (एकच्छत्र सत्ता) शब्द, जो आज भी यूरोपीय राजनीतिज्ञों और पार्लमेण्टेरियनों को प्रिय हैं, सोलहवीं सदी की उपज है। अवश्य ही उस समय वह नूतन और क्रान्तिकारी था। वह उस जमाने की परिस्थिति के उपयुक्त था। आज की परिस्थिति के वह उपयुक्त नहीं है।

यूरोप के देश-प्रेम—यानी राष्ट्र की ममता—की मिश्रित भावना में यह दूसरा तत्त्व इतना पुराना नहीं है। अपने वर्तमान यूरोपीय रूप में वह अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण से पुराना नहीं है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से कुछ वर्ष

पहले ही राजनैतिक विचारकों ने राज्य और राष्ट्र को अभिन्न बनाना शुरू किया। फ्रांस की क्रान्ति ने फिर उस अभेद को पकड़ा, जकड़ा और उसे यूरोप-भर के 'प्रगति' वादी दल का प्रचलित और कट्टर सिद्धान्त बना दिया। Nation State (राष्ट्र-शासन) के सिद्धान्तवादियों ने इस बात की कुछ परवा नहीं की कि एक ऐसे महाद्वीप की परिस्थिति के लिए, जहां कि राष्ट्र अविभाज्य रूप से एक-दूसरे में मिले-जुले रहते हैं और जहां कुछ सबसे अधिक प्रबल राष्ट्रों की आबादी कुछ लाख से अधिक नहीं है, उक्त सिद्धान्त सर्वथा अनुपयुक्त है। इसी से यूरोप का कोई टुकड़ा लीजिए, महल और झोंपड़े का अजीब जमघट आपको मिलेगा। महलों को हम 'बड़े राज्य' कहते हैं, झोंपड़ों को 'छोटे राज्य'; पर दोनों में ही रहनेवालों को अपनी हिफाजत की चिन्ता है। सबको समान सुरक्षा चाहिए। एक-सी पुलिस चाहिए, आग-बचाव के एक-से साधन—आने जाने को एक सकड़, एक मार्ग।

जब तक ये अपने में नागरिकता का भाव पैदा न कर लेंगे तबतक ये चीजें न पा सकेंगे। कुछ जगह तो यातनाएं सहनी पड़ रही हैं और सर्वत्र जो व्यग्रता फैली हुई है, उसके कारण उनमें ये चेतनता पैदा होती जा रही है।

बीसवी सदी की दुनिया में जीवन के आधार के लिए नागरिकता का भाव जाग्रत रहना अनिवार्य है।

क्या उत्तरीय अमेरिका और भारत जैसे महादेश इसे प्रत्यक्ष करने में यूरोप की अपेक्षा आगे बढ़े हुए नहीं है?

अगर ऐसा है तो वह इसलिए है कि वे या तो उत्तर अमरीका की तरह अधिक आधुनिक स्थिति में बढ़े हैं या फिर भारत की भांति उन्होंने ऐसे व्यक्तियों की शिक्षा से लाभ उठाया है, जिनके विचार स्वाभावतः ही नगर, प्रान्त अथवा राजधानियों की संकुचित परिधि में सीमित न रहकर विशालतर और उच्चतर जगत् में विचरते हैं। अगर महात्मा गांधी हमारे युग के महापुरुषों में एक हो गये हैं तो इसका कारण यह है कि वह भारत और भारत से बाहर के लाखों के लिए जबर्दस्त विचारों के, जो अक्सर एक-दूसरे से अलग या एक-दूसरे के विरोधी समझे जाते हैं, संयुक्त रूप में सजीव प्रतीक हैं। वे दो विचार हैं; एक तो सार्वजनिक कर्तव्य की भावना, जो 'अखिल भारतीय' शब्द से प्रकट होती है; दूसरी मानव-बन्धुत्व की भावना, जो अधिकार-विहीन और समाज की सेवा के लिए किये गए उनके कार्यों से व्यक्त होती है। और यह उदाहरण

है कि किस प्रकार एक कृशकाय मानव प्राणी की निर्भीक एवं अजेय आत्मा स्वातन्त्र्य और न्याय के नित्य-प्रति काम आनेवाले परिचित शब्दों में नया अर्थ डाल सकती है।

: ५८ :

गांधीजी के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश

आरनल्ड ज़्वीग

जब हम महासमर से निवृत्त हुए तो दुनिया में आकांक्षाओं की सीमा नहीं थी। रक्तपात के पागलपन का, उससे होनेवाले मदोन्माद का और पशुबल उन्मत्तता का अन्त होने को था। ऐसा जान पड़ता था कि भावना को सार्वजनिक कार्यों में व्यवहृत होने का इससे बढ़कर सुयोग कभी नहीं मिला था। संसार अधिक न्यायशील, अधिक सहिष्णु, अधिक अच्छा और अधिक दयालु होने को था। मध्ययूरोप के उच्च कोटि के सभ्य देशों—विशेषतया जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया और पोलैण्ड में तो उन बेहद मुसीबतों का नतीजा कम-से-कम यही होना था। मगर इतने विपुल रक्त का अर्घ्य देने पर भी समाज का मूल कायापलट नहीं किया जा सका—जैसा कि रूस के बारे में कहा जा सकता है—तो कम-से-कम हमें बल-प्रयोग के युग का अन्त कर देना था और सद्भावना के युग का सूत्रपात।

तब गांधी—जैसे नक्षत्र का उदय हुआ। उन्होंने दिखला दिया कि अहिंसा का सिद्धान्त सम्भव कोटि का है। ऐसा जान पड़ता था कि मानो वह अपने सिद्धान्तों के अनुकूल, किन्तु वस्तुतः उस नींव पर ही जो ईसाईमत के पुरातन सिद्धान्तों से टॉल्स्टॉय और प्रिंस क्रोपाटकिन जार के रूस में रख चुके थे, मानव-समाज का नवनिर्माण करने आये हैं। जर्मनी में भी इस विश्वास में निष्ठा रखने वाले लोग विद्यमान थे। कुर्ट आइज़नर, गुस्टाफ लाण्डॉयर, कार्ल फॉन ओस्सिट्ज्की, एरिक मूहसाम और थ्योडोर लेस्सिंग जैसे व्यक्ति कुछ और नहीं चाहते थे। जब गांधीजी हिन्दुस्तान में सफल हो गये तो वह जर्मनी में असफल हो सकते थे?

अब हम इस प्रयास का परिणाम तो जानते ही हैं। यह सब-के-सब बल-प्रयोग के विरोधी—जिनके नाम आदर पूर्वक ऊपर लिये गए हैं—नृशंसता-पूर्वक मार डाले जाकर एक ही कब्र में दबे पड़े हैं। हाँ, ओस्सिट्ज्की के मामले में तो हत्याकारी की गोली की जगह क्षय ने ले ली थी। परंतु ये सब हत्या कारी—उदाहरण के लिए राटेनाउ के हत्याकारी या माट्टेऑट्टि की हत्या को उत्तेजना देने वाले—आदर और शान का उपयोग करते हैं। जहां एक समय असमय में ही आध्यात्मिकता का राज्य हो गया था वहां अब सिंहासन पर पशुबल का सम्मान हो रहा है, उसकी पूजा हो रही है और उसे चिरञ्जीवी बनाया जा रहा है। प्रकृति और प्राकृतिक वस्तुओं के झूठे आशय बताये गए। जीवन-संघर्ष के नाम से चलने वाले सिद्धान्त की इकतरफी व्याख्या हुई और दुहाई दी गई कि उससे छंटाव होगा और ऐसे ही मनुष्य उन्नत होंगे। और इस प्रचार का समर्थन लेकर स्तूप की भांति चंगेजखां के नये-नये संस्करण उठ रहे हैं। आये साल नये के नाम पर उन वाद-प्रवादों से पढ़ाई की किताबों में जहर भरा जाता है जो मैसोपोटामिया के हम्मूरब्बी के नीति-संग्रह के वक्त ही झूठे और जीर्ण पड़ चुके थे।

हमें यहां यह दिखाने के लिए आधुनिक जीव-विज्ञान का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं कि पशु-बल के पुजारी के सिद्धान्त मिथ्या हैं और प्रकृति के बारे में उनके लगाए हुए अर्थ भी त्रुटिपूर्ण हैं। आज हम गांधी को इसी पर बधाई देंगे कि वह हिन्दुस्तान में जन्मे और रह रहे हैं और अंग्रेजों से उनका व्यवहार पड़ा है, मध्य-यूरोपीयनों से नहीं; क्योंकि उन पशुओं से जो आज वहां राज्य कर रहे हैं उनकी मानवता के प्रति कुछ भी आदर की आशा नहीं की जा सकती, मगर हम यहां उनकी ओर दुःख और अनुपेक्षणीय कृतज्ञता से देखते हैं। बीस वर्ष पहले उस तेज-बिम्ब को जो उनके चारों ओर था, हमने नवयुग का उषाकाल समझा था। आज हम असमंजस में हैं कि कहीं वह उस युग का संध्यालोक तो नहीं था, जो विश्व-युद्ध के साथ ही बीत गया और जिसके पीछे ऐसी नृशंस बर्बरता का युग आया जिसकी हमने कल्पना तक नहीं की थी। उन स्थानों तक में, जहाँ यहूदी पैगम्बर और ईसाई-मत के दिव्य संस्थापक रहते थे और विचरण करते थे, आज 'त्रास' का राज्य है, वहां शस्त्रहीन निर्बलों का रक्तपात मचा हुआ है और पाशविकता राजनैतिक अस्त्र समझी जा रही है। शायद भूमध्यसागर के देशों के भाग्य में शांतिपूर्ण जनता की हत्या

का जमाना ही लिखा है, जिसे आज स्पेन और चीन में शक्तिशाली राष्ट्र भुगत रहे हैं। जिस निरे उल्लास से उन्मत्त होकर इटली के हवाई जहाजों ने अबीसीनिया में बम-वर्षा की, उसने शायद हमारी उस समूची सभ्यता को ग्रस लिया है, जिसे हमारी गौरवशील अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों ने बड़े-बड़े प्रयत्नों से सिरजा और यूरोप में विजयोत्कर्ष तक पहुंचाया था; यह हम नहीं जानते। परन्तु हम, जिनकी शक्ति शब्द हैं और जिनकी जिन्दगी बिना पशु-बल का आश्रय लिये बीत रही है, अपने उच्च-स्वर से समुद्र पार के वासी उस महात्मा का अभिनन्दन करते हैं तथा उन्होंने जो हमें हमारी भूलें बतलाई हैं और अपने व्यक्तित्व एवं जीवन के द्वारा हमारे युग को पूर्णता की दिशा में बढ़ाया है उसके लिए उनका गुण मानते हैं।

गलतियां! कौन जानता है? जैसे कि बीसवीं सदी के यूरोप में सामर्थ्य था कि वह उन पवित्र सिद्धान्तों की नकल कर सकता और ब्रिटिश साम्राज्य की भूमि भारत देश को, जिसने गौतम बुद्ध और उनका काल देखा है, ऐसे व्यक्ति प्रदान कर सकता, क्योंकि विश्व-इतिहास को देखते हुए तानाशाहों, उनके अनुचरों और उनके तलुए चाटनेवाले गुलामों की फौजों के संदेश पालन करने की बनिस्बत सभ्यता की भूलें कर जाना कहीं अच्छा है।

परन्तु गांधीजी को अपने ७१वें वर्ष में बल प्राप्त है उस सब शक्ति का जो मानवार्जित शक्तियों में श्रेष्ठतम और उत्कृष्टतम है। जीवनारंभ में जिसे प्रारंभ किया उसी की परिपूर्णता में वह अथक भाव से लगे हैं। हम उनके अनुगामी हैं, इसका उन्हें निश्चय है।

: ५९ :

सत्य की हिन्दू धारणा

जे० एच० म्यूरहेड

इस अभिनन्दन-ग्रन्थ में कुछ पंक्तियाँ भी लिखकर योग देने का अवसर पाना मेरे लिए बड़े गौरव की बात है। यह उस पुरुष का अभिनन्दन है जिसने सामयिक इतिहास को अपने विलक्षण प्रकार में ऐसी प्रभा दी है जैसी कि कोई और नहीं दे

सका। उसमें रोम्याँ रोलाँ के शब्दों में 'तीस करोड़ से ऊपर अपने देशबन्धुओं में एक जाग्रृति पैदा कर दी है, ब्रिटिश-साम्राज्य को हिला दिया है और मानव-राजनीति में उस जबर्दस्त आन्दोलन का सूत्रपात किया है कि इधर दो हजार वर्षों से विश्व ने जिसके तुल्य और कुछ नहीं देखा।' ऐसे समय में जब एक ओर दूसरे देशों में नेता लोग या तो मानवीय न्याय-जैसी चीज की या विश्वराज्य की नैतिक सत्ता को ललकार रहे थे या फिर समाज के एक वर्ग को मटियामेट करके दूसरे वर्ग के प्रति न्याय करने का प्रयत्न कर रहे थे, तब दूसरी ओर गांधीजी मानव-मात्र की एकता और स्वर्गीय राज्य (रामराज्य) के नाम पर भारत को दूसरे राष्ट्र की अधीनता से तथा भारत की किसी भी जाति को दूसरी जाति की गुलामी से मुक्त करने के लिए धर्मयुद्ध करने में व्यस्त थे। और इसके अलावा धर्मों के परमध्येय 'सत्य' तथा परिपूर्णता प्राप्त करने के उसके आमंत्रणों की मानवात्मा में जो प्रतिध्वनि होती है उसके संबंध में 'दर्शनशास्त्र ने जो कुछ सर्वश्रेष्ठ कहा है, उसको, उन्होंने 'कालातीत' भारतदेश ही में नहीं, संसार भर में युगयुगान्तर तक उल्लेखनीय रूप से जीवन में प्रत्यक्ष कर दिखाया है।'

मैं भला इन पंक्तियों में ऐसा क्या कह सकता हूँ जो इसी ग्रंथ में अन्यत्र अधिक सुन्दरता से न कह दिया गया होगा? पर हिन्दू-शास्त्र की सारभूत शिक्षा में, और विशेषतया गांधीजी की उसकी व्याख्या में, एक शब्द है, जो भ्रमात्मक या अस्पष्ट होने के कारण उन लोगों के गांधीजी की व्याख्या को एकदम स्वीकार कर लेने के मार्ग में रुकावट बन सकता है, जो पश्चिम की वैज्ञानिक और व्यावहारिक भावना से प्रेरित हुए हैं और उसी पर संक्षिप्त-विवेचन के रूप में कुछ कहने में इस अवसर का उपयोग मैं करना चाहूँगा।

चरम-सत्य के शोध तथा अध्ययन में प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से सुब्रह्मण्यम् अय्यर द्वारा स्थापित ब्रिटिश इंस्टीट्यूट ऑव फिलॉसफी की एक सभा में हाल में सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने एक व्याख्यान दिया था। उस व्याख्यान के अवसर पर मुझको वह बात सूझी थी। वक्ता का परिचय कराते हुए सभापति ने कुछ लोगों की इस कठिनाई की तरफ ध्यान दिलाया, जो संस्थापक के 'सत्य' के साथ सामान्य दर्शनशास्त्र के 'सत्य' (घटना के साथ मत का ऐक्य) का मेल बैठाने में हुआ करती है। इसके विरोध में ऐसा प्रतीत होता था कि पूर्वोक्त 'सत्य' शब्द किसी कदर अस्पष्टभाव में इस्तेमाल किया गया है। उसमें बिलकुल भिन्न धारणा सामाजिक नीति-न्याय और सदाचार का ही समावेश नहीं होता था, बल्कि यह भी उसमें संभव बनता

था कि सर्वथा समाधानकारक और अन्तिम सत्य का व्यक्त रूप कोई हो सकता और पाया जा सकता है। इसके जवाब में वक्ता को यह दिखाने में दिक्कत नहीं हुई कि सत्य की धारणा की दार्शनिक परिभाषा और मर्यादा के पक्ष में जो कुछ भी कहा जाय, पर खुद पश्चिमी साहित्य उस शब्द के दूसरे व्यापक उपयोग को स्वीकार करता है। सन्त पुरुषों की वाणियों और आर्षग्रन्थों में वैसे प्रयोग बार-बार दोहराये हुए मिलते हैं। उदाहरण के लिए यह वचन लीजिए, "सत्य को जानो और सत्य तुम्हें मुक्ति देगा।"[१] वक्ता के हिन्दू-धारणा के प्रभावपूर्ण स्पष्टीकरण से सुननेवाले लोग प्रभावित हुए, यह तो साफ ही था। फिर भी लगता था कि कुछ हैं जो महसूस करते हैं कि एक शब्द के इन दोनों अर्थों में अन्तर और सम्बन्ध होने के स्रोत पर कुछ और भी कहे जाने की आवश्यकता है। मैंने अपने मन में सोचा कि 'कहीं ऐसा तो नहीं है कि अपनी ज्ञान या चेतना और सत्ता (Knowing and Being) के जिस भेद की पहचान हमें ग्रीक दर्शन से विरासत ही में प्राप्त हो गई है, भारतीय दर्शन अपनी सूक्ष्म विचार-गहनता के बावजूद उस पहचान को भूल ही गया हो। चेतना यानी वास्तविकता का हमारे ज्ञान पर प्रतिबिम्बित हुआ रूप। और सत्ता यानी वास्तविक का वह स्वरूप जो ईश्वर-ज्ञान में प्रतिभासित है। मुझे यह विश्वास नहीं हुआ कि ऐसा मूल-भेद भारत के उद्‌भट विचारकों की पहचान से छूट गया होगा, पर सोचा कि सम्भव है प्रचलित सूत्र-वाक्यों में इस अंतर की ओर उनका ध्यान न गया हो।

मसलन गांधीजी के ये वाक्य लीजिए "सत्य वह है जो है, और पाप वह है जो नहीं है।" "हिन्दू-धर्म सत्य का धर्म है और सत्य है परमेश्वर।" "सत्य के सिवा कोई और ईश्वर नहीं है।"

जो हो, मुझे उस समय प्रतीत हुआ कि ऐसे सब वाक्यों में 'सत्य' के स्थान पर 'वास्तव' रक्खा जाय और देखा जाय कि कहां तक इससे स्थिति स्पष्ट हो सकती है।

इस परिवर्तन पर पहली बात तो यह कि सम्भावना को अवकाश मिलता है कि सत्य को कुछ सँकरा करके यह परिभाषा दे सके कि वह आदमी के मस्तिष्क के दर्पण पर पड़ी वास्तविकता की छवि और झलक है। धार्मिक भाषा में उसी बात को कहें तो सत्य 'ईश्वर का शब्द' होता है। (केपलर की वाणी है: "ओ ईश्वर, मैं तेरे पीछे तेरे ही विचार विचारता हूँ।") पर दूसरी बात उस परिवर्तन से यह होती है

---

१. Ye shall know the Truth and the Truth shall make you free.

कि विचारणा के अतिरिक्त अन्य दूसरे प्रकार के अनुभवों में भी हम वास्तविक की दूसरी अभिव्यक्तियों को पा सकें। जो हम सोचते हैं उसके साथ और अतिरिक्त, जो हम करते हैं उसमें भी, 'वास्तव' प्रतिबिम्बित क्यों न हो? क्यों न सद्विचार के साथ सत्कर्म भी उसीकी व्याख्या हो? इच्छापूर्वक किये गए हमारे कर्म में सार्थकता का बोध इससे ज्यादा और हमें कब होता है जबकि हमें लगता हो कि दुनिया जो हमसे माँगती थी, वही हमने किया है? एक बार फिर धार्मिक भाषा में उसी को कहें तो 'ईश्वर की इच्छा से अभिन्न हो जाने से बढ़कर मानवेच्छा की और सार्थकता क्या है?' हम जानते तो हैं कि उचित काम अपने आप में काफी नहीं है, बल्कि उसके किये जाने की प्रेरणा भी उचित भावना में से आनी जरूरी है। इसी तरह क्या यह नहीं हो सकता कि औरों को प्रेम करने में अपनी और पराई दोनों की वास्तविकता परम अनायास और स्पष्टतया भाव से हमें उपलब्ध हो आती है? इससे पर के प्रति आत्मभाव से प्रेम ही सत्य-ज्ञान ठहरता है। बन्धु-भाव को विस्तृत कीजिए, यहांतक कि जीव-मात्र उसमें आ जाय, जैसे कि गांधीजी ने किया है। "अपने पड़ोसी को तू अपनी तरह प्रेम कर।" "ठीक, पर पड़ौसी कौन?" तो गांधीजी उत्तर देते हैं: "जीव-मात्र तेरा पड़ोसी है।" इस भाव को अपनाने और विस्तारने से वस्तु-मात्र के अन्तरंग (यानी ईश्वर या प्रकृति) को ही क्या हम नहीं पा लेंगे? सो प्रेम के द्वारा अधिक किसी को कैसे जाना या पाया जा सकता है? और "कीट-पतंगों और पशु-पक्षियों से लेकर मानवों तक जीवमात्र का जो जितना श्रेष्ठ प्रेमी है उतना ही वह उत्कृष्ट उपासक है।"

पर ऊपर के शब्द-परिवर्तन के पक्ष में जो कहा जा सके, वह कहने पर भी, प्रश्न शेष रह सकता है कि 'सत्य' और वास्तव' को पर्यायवाची शब्दों के तौर पर इस्तेमाल करने की आदत जो दार्शनिकों तक में फैली हुई है, ज्ञान के स्वरूप-निर्णय के दृष्टिकोण से देखने से उसका समर्थन नहीं होता है। प्लेटो ने ज्ञान में श्रेणियाँ रक्खी हैं। सामान्य जीवन में जो इन्द्रियगोचर या इच्छा-कल्पना द्वारा प्राप्त होता है वह ज्ञान एक। और उनका हेतु और कारण-सम्बन्धी वैज्ञानिक ज्ञान दूसरा। इन सिरों के बीच फिर तारतम्य है ही। पहले के उदाहरण में हम अपने सूर्योदय के ज्ञान को ले सकते हैं। अपनी धुरी पर सूर्य के चारों ओर धरती के घूमने के ज्ञान को दूसरे प्रकार का ज्ञान कहना होगा। इन दोनों ही में ज्ञान और ज्ञेय-वस्तु में पार्थक्य, अन्तर, रहता है। लेकिन प्लेटो की धारणा थी कि एक और भी ऊँची सतह है, जहाँ ये दोनों मिल जाते हैं, फिर भी जो इनसे ऊँची रहती है। वहाँ ज्ञान में प्रत्यक्ष अनुभूति

भी है और मानसिक अनुमान और चेष्टा को भी स्थान है। दोनों ज्ञान रहकर दोनों की अपूर्णता का ज्ञान भी वहाँ रहता है। हम मान लें कि केपलर को यह विश्व-रूप-दर्शन हुआ था, जबकि उसने नभोमण्डल को मानव की भांति न देखकर वैसे देखा जैसे कि स्वयं ईश्वर-ज्ञान में वह भासमान हो। याकि कवि जब ऐसा वर्णन करता है कि मानो तमाम वस्तु उसमें हैं और वह उनमें, तब उसकी अनुभूति उसतक उठती है। पश्चिम में पाठकों को इस सिद्धान्त में बड़ी अड़चन हुई और उसपर वे खीझे भी हैं। पर पूर्वी पाठकों को तो यह ऐसा लगता है जैसे कि यह उन्हीं का सपना उन्हें कह रहा हो कि वह सिद्धान्त ऐसा प्रत्यक्ष है जो साक्षी दार्शनिक या कवि के ही नहीं, सन्त के भी नित्य जीवन की वस्तु है। मैं तो मानता हूँ कि पूरब के लोगों का यह स्वप्न सच्चा है और सिंहद्वार[1] से उनको प्राप्त हुआ है।

---

१. मूल में शब्द है 'हार्न-गेट'। ग्रीक कवियों के अनुसार झूठे सपने तो आदमियों के पास स्वर्ग से हाथीदांत के एक सुन्दर द्वार में से भेजे जाते थे। लेकिन सच्चे सपने एक सींग (Horn) में होकर पहुंचते थे। उस 'हार्न-गेट' के लिए 'सिंह-द्वार' शब्द प्रयुक्त किया गया है।—अनुवादक

सम्पादक को प्राप्त पत्रों के अंश

: १ :

वाइकाउण्ट हेलीफैक्स

काश कि आप गांधीजी के अभिनन्दन में जो ग्रंथ तैयार कर रहे हैं, उसके लिए आपके निमंत्रण को स्वीकार कर मैं एक लेख लिख सकता। जो आज के भारत को जानते हैं, या उसके बारे में अधिक जानना चाहते हैं, वे सभी उस पुस्तक को उत्सुकतापूर्वक पढ़ेंगें। लेकिन काम का बोझ मुझपर इतना है कि भय है कि लेख भेजना मेरे लिए सम्भव न होगा।

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप और शक्ति एक प्रकार से बहुत हद तक और अपूर्व रूप में गांधीजी के व्यक्तित्व में मूर्तिमती हुई है। आदर्श के प्रति उनकी निष्ठा और जो कर्त्तव्य माना है, उसके लिए अपने ऊपर हर प्रकार का बलिदान स्वीकार करने की उनकी उद्यतता के कारण देशवासियों के हृदयों में उनका अद्वितीय स्थान बन गया है।

मुझे वे दिन सदा याद रहेंगे जबकि सुलह के रास्ते की तलाश में हम दोनों ने बहुत नजदीक और साथ होकर काम किया था। उनके और मेरे अपने विचार में किसी समय, कुछ और जो भी, अंतर रहा हो, उस गंभीर आत्मिक शक्ति को पहचाने बगैर मैं कभी नहीं रह सका, जिसकी प्रेरणा से अपने विश्वास और निष्ठानुकूल कार्यों के लिए बड़े-से-बड़े उत्सर्ग की ओर वह बढ़ते रहे हैं।

: २ :

अप्टन सिंक्लेयर

गांधीजी के व्यक्तित्व और कार्यों के प्रति अत्यन्त प्रशंसा प्रकट करने में आप और अन्य बन्धुओं का साथ देते सचमुच मुझे बड़ी खुशी होती है। उनके सब विचारों से तो मैं सहमत नहीं हो पाता हूं। दुनिया की दो विपरीत दिशाओं में रहकर हममें

वैसी सहमति की आशा भी मुश्किल से की जा सकती है, लेकिन उनकी उच्च भावना और हार्दिक मानवी करुणा ने सारी दुनिया के मानव-हितैषियों का उन्हें स्नेहभाजन बना दिया है।

: ३ :

आर्थर एच० काम्पटन

आपको अवसर मिले तो मेरी इच्छा है कि आप गांधीजी को मेरे परम आदर के भाव पहुंचा दें। उनका जीवन दुनिया के लिए देन है। उस जमाने में जबकि यह परम अनिवार्य है कि हम मनुष्य-जाति की जरूरी समस्याओं को शांति के उपाय से सुलझाने का रास्ता पायें, गांधीजी ने भारतवासियों को आत्म-साक्षात्कार में मदद पहुंचाई है। ये अधिक शांतिपूर्ण उपाय किस प्रकार कारगर हो सकते हैं, यह दिखाने में वह अग्रणी रहे हैं।

परिशिष्ट

लेखक-परिचय

१. **सर्वपल्ली राधाकृष्णन्**—प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादक। भारतीय दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान्। सन् १९३६ से आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में भारतीय दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर आंध्र-यूनिवर्सिटी के वाइस-चांसलर रह चुके हैं। आजकल भारतीय गणतंत्र के उप-राष्ट्रपति हैं।

२. **होरेस जी. अलैक्जेण्डर**—इंग्लैण्ड के क्वेकर सम्प्रदाय के सदस्य और वहां के गांधी-विचारवादियों में प्रमुख व्यक्ति। बर्मिंगहम की वुडब्रुक कालेज में प्रोफेसर थे। कुछ साल तक हिन्दुस्तान में रह कर सेवाकार्य किया। अब वापस इंग्लैण्ड चले गये हैं।

३. **दीनबन्धु एण्ड्रूज**—महात्मा गांधी के परममित्र थे। भारत की सेवा में अपना जीवन लगा दिया था। शांतिनिकेतन के उपाध्यक्ष रहे। महात्मा गांधी पर लिखी उनकी 'महात्मा गांधी—हिज ओन स्टोरी' आदि पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध और उपयोगी हैं। प्रवासी भारतीयों की समस्या को सुलझाने में आपकी विशेष देन रही। ४ अप्रैल १९४० को कलकत्ते में मृत्यु।

४. **जार्ज एस. अरेण्डेल**—थियोसॉफीकल सोसायटी के अध्यक्ष थे। बनारस के सेण्ट्रल हिन्दू कालेज के प्रिंसिपल, होल्कर सरकार के शिक्षाधिकारी और भारत स्काउट एसोसियेशन के डिप्टी चीफ स्काउट रहे थे। मद्रास से प्रकाशित 'न्यू इण्डिया' के सम्पादक रहे। आपकी मृत्यु हो गई।

५. **वी. एस. अजारिया**—तिन्नेवली की भारतीय मिशनरी सोसायटी के संस्थापकों में से एक थे। दोर्णाकल मिशन के अध्यक्ष रहे।

६. **अरनेस्ट बारकर**—कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में राजनीति-विज्ञान के अध्यापक। लन्दन के किंग्स कालेज के प्रिंसिपल रह चुके हैं।

७. **लारेंस बिनयॉन**—लन्दन की रायल सोसायटी ऑव लिटरेचर के फेलो और एकेडेमिक कमेटी के सदस्य।

८. **पर्ल एस. बक**—अमरीका की सुप्रसिद्ध लेखिका। नोबल पुरस्कार विजेता।

९. **लायोनल कर्टिस**—आक्सफोर्ड के ऑल सोल्स कॉलिज में हैं। ट्रांसवाल की लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य तथा औपनिवेशिक ऑफिस में आयरलैण्ड के मामलों में सरकार के सलाहकार रहे हैं।

१०. **डॉ० भगवान्दास**—दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित। प्राचीन धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन गहन है। जीवन अत्यंत सात्विक, सरल और सीधा-सादा। भारत के इने-गिने विद्वानों में से एक हैं।

११. **अलबर्ट आइन्स्टीन**—संसार के प्रसिद्ध वैज्ञानिक। भौतिक शास्त्र के लिए सन् १९३१ में नोबल पुरस्कार मिला। आपके सापेक्षवाद के मूल सिद्धान्त ने विज्ञान में हलचल मचा दी है। यहूदी होने के कारण जर्मनी से निर्वासित कर दिये गये थे, तबसे अमरीका में रहे। हाल ही में आपकी मृत्यु हो गई।

१२. **रिचर्ड बी. ग्रेग**—अमेरिका के प्रसिद्ध वकील और अर्थशास्त्री। सन् १९२५-२६ में सत्याग्रह आश्रम में रहे। चर्खा और खादी के विषय में शास्त्रीय अध्ययन किया और खादी के अर्थ-शास्त्र पर एक पुस्तक लिखी है। अमेरिका में गांधीजी के विचारों के—विशेषकर सत्याग्रह और अहिंसा के—समर्थक हैं तथा गांधी-विचारवादियों के नेता और पथ-प्रदर्शक हैं। आपकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि पावर ऑव नॉन वायलेंस' का अनुवाद 'मण्डल' से प्रकाशित हो चुका है।

१३. **जेराल्ड हेयर्ड**—अमेरिका-निवासी। 'आश्चर्यजनक विश्व' और 'साइंस इन दी मेकिंग' पर हुए आपके ब्राडकास्ट बहुत प्रसिद्ध हैं।

१४. **कार्ल होथ**—क्वेकर सम्प्रदायी और विलायत के गांधी-विचार-वादियों में अग्रणी।

१५. **विलियम अर्नेस्ट हॉकिंग**—हारवर्ड यूनिवर्सिटी में दर्शन-शास्त्र के अध्यापक।

१६. **जॉन हेंस होम्स**—न्यूयार्क के कम्यूनिटी चर्च के मिनिस्टर। 'यूनिटी' पत्र का सम्पादन करते थे। अमेरिका में गांधीजी के सिद्धान्तों की ओर लोगों का ध्यान खींचने में अग्रणी।

१७. **आर. एफ. अल्फ्रेड हार्नले**—विटवाटरस्रंण्ड (दक्षिण अफ्रीका) यूनिवर्सिटी में दर्शन-शास्त्र के अध्यापक और दक्षिणी अफ्रीका के रेस रिलेशन इन्स्टीट्यूट के प्रधान।

१८. **जॉन एच. हाफमेयर**—विटवाटरस्रैण्ड यूनिवर्सिटी (दक्षिण अफ्रीका) के चांसलर।

१९. **लारेंस हाउसमैन**—इंग्लैंड के प्रसिद्ध लेखक, कलाकार और गणित के विद्वान।

२०. **जान एस. होयलैण्ड**—बर्मिंघम की वुडब्रुक बस्ती में लैक्चरार। नागपुर के हिसलाप कॉलेज में इतिहास और अंग्रेजी के अध्यापक रहे। भारत में सार्वजनिक सेवा के कारण 'कैसरे हिन्द' स्वर्णपदक मिला था। सत्याग्रह के विषय पर एक पुस्तक लिखी है, दीनबन्धु एण्डरूज की जीवनी भी।

२१. **मिरजा एम. इस्माइल**—मैसूर, जयपुर तथा निजाम हैदराबाद-राज्यों के दीवान थे। लन्दन में हुई तीनों भारतीय गोलमेज परिषदों में भारत के विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधि बनकर सम्मिलित हुए।

२२. **सी. ई. एम. जोड**—यूनिवर्सिटी ऑव लन्दन के बर्कबेक कालेज में दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के मुख्याध्यापक। अंग्रेजी में दर्शन-शास्त्र तथा समाज-तत्वज्ञान के अनेक अंगों पर प्रामाणिक पुस्तकें लिखी हैं।

२३. **रूफस एम. जोन्स**—हेवरफोर्ड कालेज में दर्शन-शास्त्र के अध्यापक। 'दी अमेरिकन फ्रेंड' और 'प्रेजेण्ट डे पेपर्स' के सम्पादक रहे हैं।

२४. **स्टीफेन हॉबहाउस**—इंग्लैण्ड के प्रभावशाली ईसाई शान्तिवादी।

२५. **ए. बेरीडेल कीथ**—एडिनबरा यूनिवर्सिटी में संस्कृत और दर्शन-शास्त्र के अध्यापक थे। १९०७ में हुई कोलोनियल नेवीगेशन कान्फ्रेंस में ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधित्व किया था। ब्रिटिश साम्राज्य तथा उसके उपनिवेशों के विधान के सर्वमान्य प्रामाणिक विशेषज्ञ।

२६. **काउण्ट हरमन काइजरलिंग**—डार्मश्टाट (जर्मनी) के 'स्कूल ऑव विज्डम' के संस्थापक। जर्मनी के के प्रमुख विचारक और सांस्कृतिक क्षेत्र में एक नवीन विचारधारा के निर्माता।

२७. **जार्ज लेन्सबरी**—लन्दन की पार्लमिण्ट के सम्मान्य सदस्य थे। लेबर-पार्टी के प्रधान और पार्लमिण्ट में विरोधी दल के नेता रहे।

२८. **जॉन मैकमरे**—लन्दन के यूनिवर्सिटी कालेज में दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक। जोहान्सबर्ग (दक्षिण अफ्रीका) की विटवाटरस्रैण्ड यूनिवर्सिटी में दर्शन-शास्त्र के अध्यापक रह चुके हैं।

२९. **डान साल्वेडोर डी. मैड्रियागा**—लन्दन-निवासी। १९२१-२६ तक

राष्ट्रसंघ में स्पेन के स्थायी डेलीगेट रहे। १९३१ में स्पेन के राजदूत बनकर अमेरिका और १९३२-३४ में फ्रांस गये। स्पेन के आधुनिक लेखकों में ऊंचा स्थान है।

३०. **कुमारी इथिल मेनिन**—प्रसिद्ध उपन्यासकार और जर्नलिस्ट। 'पैलीकन' की सहायक सम्पादिका रह चुकी है।

३१. **मेरिया मौण्टीसरी**—एक नवीन शिक्षा-पद्धति की आविष्कर्त्री, जो मौण्टीसरी-पद्धति कहलाती है। प्रथम महिला हैं, जिन्हें रोम की यूनिवर्सिटी ने 'डाक्टर ऑव मैडिसन' की उपाधि से सम्मानित किया। बच्चों के मनोविज्ञान का अच्छा अध्ययन किया था। मौण्टीसरी ट्रेनिंग कॉलेज की और १९०७ में बार्सीलोना में स्थापित मौण्टीसरी रिसर्च इन्स्टीट्यूट की डाइरेक्टर थीं। हाल ही में देहांत हो गया।

३२. **आर्थर मूर**—सुप्रसिद्ध अंग्रेजी पत्र 'स्टेट्समैन' के प्रधान संपादक थे।

३३. **गिलबर्ट मरे**—ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में अध्यापक। कुछ काल तक ग्लास्गो यूनिवर्सिटी में ग्रीक साहित्य के अध्यापक रहे। यूरोप के प्राचीन साहित्य के प्रमुख विद्वान् माने जाते हैं।

३४. **योन नागूची**—जापान के प्रसिद्ध राजकवि। टोकियो यूनिवर्सिटी में अंग्रेजी के प्राफेसर। जापानी काव्य-साहित्य पर कई पुस्तकें अंग्रेजी में लिखी हैं।

३५. **पट्टाभि सीतारामैया**—मध्य प्रदेश के राज्यपाल। प्रभावशाली लेखक और वक्ता हैं।

३६. **मॉड डी. पेट्री**—सुप्रसिद्ध लेखिका और कैथलिक मॉर्डनिस्ट।

३७. **हेनरी एस. एल. पोलक**—इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध वकील थे। दक्षिण अफ्रीका में महात्माजी के साथी रहे और सत्याग्रह आन्दोलन में जेल भी गये। गांधीजी की 'आत्मकथा' में आपका जिक्र आया है।

३८. **लिवलिन पाविस**—स्वीजरलैण्ड-निवासी। कुछ वर्षों तक न्यूयार्क शहर में जर्नलिस्ट रहे हैं।

३९. **एम. क्युओ तै-शी**—लन्दन में चीन के प्रतिनिधि रहे हैं।

४०. **अब्दुल कादिर**—पंजाब लेजिस्लेटिव कौंसिल के प्रथम निर्वाचित अध्यक्ष थे। राष्ट्र-संघ की सातवीं असेम्बली में भारत के प्रतिनिधि बनकर गये। पब्लिक सर्विस कमीशन के सदस्य रहे।

४१. **डॉ॰ राजेन्द्रप्रसाद**—भारतीय गणतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति रह चुके हैं। गांधी विचार-धारा के प्रबल समर्थक। व्यक्तित्व अत्यन्त सरल।

४२. **रेजिनाल्ड रेनाल्ड्स**—अंग्रेज विचारक। विलायत के समाजवादी लेखकों में विशिष्ट स्थान है। सन् १९३० मे सत्याग्रह का आन्दोलन प्रारम्भ होते समय भारत मे थे और वाइसराय के नाम महात्माजी का प्रसिद्ध पत्र लेकर दिल्ली आये थे।

४३. **रोम्यां रोलां**—सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखक थे। सन् १९१५ में साहित्य पर नोबल पुरस्कार मिला। फ्रेंच साहित्य को एक नवीन दिशा दी। १९ अक्तूबर १९४४ को स्वर्गवास हो गया।

४४. **मिसिस मॉड रायडन**—स्वर्गीय सर थामस रॉयडन की सुपुत्री। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी एक्स्टेन्शन डेलीगेसी में अंग्रेजी-साहित्य की अध्यापिका रह चुकी है।

४५. **वाइकाउण्ट सेम्युअल**—माउण्ट कार्मेल तथा टॉक्सटैथ (लिवरपूल) के सर्वप्रथम वाइकाउण्ट बनाये गये। लंकास्टर की डर्ची के चांसलर रहे। फिलासफी के ब्रिटिश इन्स्टीट्यूशन के अध्यक्ष। ब्रिटिश लिबरल पार्टी के प्रसिद्ध नेताओं में से एक।

४६. **लार्ड सैंकी**—भारतीय गोलमेज परिषद् की संघ-योजना कमेटी के, जिसमें कि गांधीजी सन् १९३१ में शामिल हुए थे, अध्यक्ष थे।

४७. **डी. एस. शर्मा**—मद्रास के पचियप्पा कालेज में अंग्रेजी के अध्यापक थे। गांधीजी के ऊपर अंग्रेजी में एक काव्य लिखा और 'गांधी-सूत्रम्' नामक एक दूसरे ग्रन्थ की रचना की।

४८. **क्लेयर शैरीडन**—स्वर्गीय मोर्टन फ्रेवन की सुपुत्री। प्रसिद्ध शिल्पकार और लेखिका।

४९. **जे. सी. स्मट्स**—दक्षिण अफ्रीका के प्रधान मन्त्री रहे। प्रारम्भ में गांधीजी के विरोधी थे। बाद में उनके प्रशंसकों में से रहे। महात्माजी की 'आत्मकथा' में आपका काफी जिक्र आया है।

५०. **रवीन्द्रनाथ ठाकुर**—प्रथम भारतीय थे, जिन्हें अपनी रचना 'गीतांजलि' पर नोबल पुरस्कार मिला। 'विश्वभारती' (शान्ति-निकेतन) के संस्थापक थे। भारतीय कला और संस्कृति के महान प्रतिनिधि माने जाते थे।

५१. **एडवर्ड टॉमसन**—ऑक्सफोर्ड के ओरियण्टल कॉलेज के 'फैलो' थे। शान्ति-निकेतन में रहे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जीवनी लिखी। आपकी पुस्तक 'अदर साइड ऑव दी मैडल' बहुत प्रसिद्ध है। हाल ही में आपका स्वर्गवास हो गया।

५२. **सोफिया वाडिया**—'आर्यन पाथ' नामक मासिक पत्र तथा 'इंडियन पी० ई० एन०' की सम्पादिका', शान्तिवाद की प्रबल समर्थक।

५३. **फॉस वेस्टकॉट**—भारत के लाट पादरी और कलकत्ता के लार्ड-बिशप रहे।

५४. **जे. सी. विसलो**—ईसाई मिशनरी और पूना के क्राइस्ट सेवा-संघ में रहे।

५५. **एच. जी. वुड**—बर्मिंघम की वुडब्रुक बस्ती के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर। केम्ब्रिज यूनियन सोसायटी के अध्यक्ष और केम्ब्रिज के जीसस कालेज में इतिहास के अध्यापक रह चुके है।

५६. **फ्रांसिस यंगहसबैण्ड**—इन्दोर और काश्मीर राज्यों के रेजीडैण्ट और रायल भोगोलिक सोसायटी के अध्यक्ष रहे। मध्य एशिया के दुर्गम मार्गों की खोज में अग्रणी का काम किया। भारतीय तत्वज्ञान में बहुत दिलचस्पी रखते थे। विश्व-धर्म-सभा के अध्यक्ष रहे।

५७. **एल्फ्रेड जिमेर्न**—ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के अध्यापक। आक्सफोर्ड के न्यू कालेज में प्राचीन इतिहास के अध्यापक रहे।

५८. **आरनल्ड ज्वीग**—प्रसिद्ध उन्यासकार और नाटककार।

५९. **जे० एच० मूरहेड**—बर्मिंघम यूनिवर्सिटी में दर्शनशास्त्र के अध्यापक थे। ग्लास्गो यूनिवर्सिटी मे लटिन के अध्यापक रहे।

६०. **लार्ड हैलीफैक्स**—इंग्लैण्ड मे वैदेशिक सचिव रहे और इससे पहले युद्ध-सचिव भी। १९२६-३१ मे आप (अर्विन) भारत के वाइसराय, १९३२-३५ में इंग्लैण्ड के बोर्ड ऑव एजूकेशन के अध्यक्ष रहे। सन् १९३१ में गांधीजी का आपसे ही समझौता हुआ था, जो गांधी-अर्विन पैक्ट कहलाता है। आपका देहान्त हो गया।

६१. **अप्टन सिंक्लेयर**—सुप्रसिद्ध अमरीकी लेखक। समाजवादी विचारों को फैलाने में बहुत परिश्रम किया। साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार मिला।

६२. **जे. एच. काम्पटन**—शिकागो यूनिवर्सिटी में फिजिक्स के अध्यापक, पंजाब यूनिवर्सिटी के विशेष लेक्चरार और शिकागो यूनिवर्सिटी बस्ती के अध्यक्ष रहे। फिजिक्स,में नोबल पुरस्कार मिला।